राजकमल पेपरबैक्स

पद्मा सचदेव

दीवानखाना

दीवानखाना

पद्मा सचदेव

जन्म : 17 अप्रैल, 1940 ।

जन्मस्थान : जम्मू शहर से 10-12 मील दूर एक ऐतिहासिक गाँव पुरमंडल के प्रतिष्ठित राजपुरोहित परिवार में। प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा डोगरी में ।

बारह-तेरह बरस की उम्र से ही कविता लिखते हुए डोगरी की पहली आधुनिक कवयित्री होने का गौरव प्राप्त । कविताएँ, लोकगीतों की विलक्षणता से परिपूर्ण ।

कुछ बरस बंबई रेडियो में स्टाफ-आर्टिस्ट के रूप में कार्य ।

1969 में प्रकाशित 'मेरी कविता मेरे गीत' नामक कविता-संग्रह को 1971 का साहित्य अकादमी पुरस्कार ।

प्रमुख प्रकाशित पुस्तकें : मेरी कविता मेरे गीत, तवी ते झनां, न्हेरियाँ गलियाँ (जम्मू-कश्मीर सांस्कृतिक अकादमी से पुरस्कृत), पोटा-पोटा निंबल, सबद मिलावा (डोगरी से अनूदित कविता-संग्रह); दीवानखाना (साक्षात्कार) आदि ।

आवरणशिल्प

साधना खजांची (जन्म : 7 सितंबर, 1953) की शिल्पकृति । तरुण पीढ़ी के कलाकारों में एक उल्लेखनीय नाम । काशी हिंदू विश्वविद्यालय से 1975 में बी. एफ. ए. तथा 1977 में एम. एफ. ए. करने के बाद 1980-81 में ब्रिटिश काउंसिल की छात्रवृत्ति पर लंदन से एकवर्षीय उच्च पाठ्यक्रम पूरा किया । हिंदू विश्वविद्यालय में दो वर्ष तक प्राध्यापन । ऑक्सफैम की एक प्रोजेक्ट में डिजाइनर के रूप में कार्य किया । उत्तर प्रदेश की राज्य ललित कला प्रदर्शनी सहित लगभग आधा दर्जन प्रदर्शनियों में भाग लिया । आइफैक्स के युवा शिल्पी शिविर तथा हिंदू विश्वविद्यालय के शिल्पी शिविर में भी भागीदारी ।

पद्मा सचदेव

दीवानखाना

राजकमल पेपरबैक्स

पहला पुस्तकालय संस्करण
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.,
नई दिल्ली से 1984 में प्रकाशित

© पद्मा सचदेव

राजकमल पेपरबैक्स में
पहला संस्करण : 1988
© पद्मा सचदेव

राजकमल पेपरबैक्स : उत्कृष्ट साहित्य के जनसुलभ संस्करण

राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.,
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग,
नई दिल्ली-110 002
द्वारा प्रकाशित

टाइपसैटिंग · फोटोटाइप डिवीज़न,
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
एफ-5, सैक्टर-8, नौएडा-201 301

पाठ्यभाग गायत्री ऑफसेट प्रेस,
ए-66, सैक्टर-2, नौएडा-201 301
द्वारा तथा आवरण मॉडर्न प्रिंटर्स,
मॉडल टाउन, दिल्ली द्वारा मुद्रित

मूल्य : रु. 18.00

आवरणचित्र : साधना खजांची

अपने भैया
डॉ. धर्मवीर भारती के लिए

दो शब्द

नवरसों का स्वाद तो मैंने बाद में चखा, पहले चखा बुजुर्गों के स्मृति-कलश से छलकता—बतरस। रिश्ते की एक दादी घंटों मेरी ताई से बतियाती रहतीं और मैं हथेली पर ठोड़ी टिकाए हैरान-सी उनमें रसमग्न हुई रहती। बीता हुआ कल आज की आँखों में सितारों की तरह झिलमिलाने लगता। उन्हें क्या पता कि उनके साथ मैंने मन-ही-मन वो युग जी लिया है।

कभी-कभी दादी के हाथ में पताका की तरह लहराता कोरा कागज़ देखती तो समझ जाती कि वो चिट्ठी लिखवाने आई हैं। घर में पंडित-मनीषियों की कमी नहीं थी, पर ख़त वो मुझी से लिखवातीं। पत्र लिखकर जब मैं दादी को सुनाती तो चमत्कृत होकर ताई से कहतीं, क्या दिमाग है लडकी का! आखिर पहाड़वाले पंडितों की बेटी है! अब तुम्हीं बताओ, ये सब बातें भला मैं इसे बता सकती थी!⋯फिर यही 'सब बातें' चाचा जी के कान से होती हुई गाँव-भर में पाँव चलने लगतीं। सो अब मैंने भी अपने आपको कुछ खास समझना शुरू कर दिया था। आखिर नौ बरस की हो चुकी थी!

कुछ और बड़ी हुई तो लोकगीतों की डोर थामकर आसमान से चाँदनी की तरह मेरे जीवन में जो उतरी, वो कविता थी। इसने मुझे इतने विलक्षण लोगों से मिलवाया कि जिंदगी जीने योग्य हो गई।

गद्य लेखन मेरे सोच-सपन में दूर-दूर तक नहीं था। उन दिनों हम बंबई में रह रहे थे। एक बार डॉ. भारती से बतियाते हुए डोगरी के सफर पर निकल गई। सुनकर बोले, आप इस सफर को कागज पर उतार दीजिए। मैंने कहा, गद्य कैसे लिखूँ? बोले, जैसे आपने बताया, वैसे। मैंने कलम उठाई। लिखा। छप भी गया। तब लगा कि मुझमें एक गद्यकार भी है। पर उसे तलाशने और उजागर करनेवाले तो भारती जी ही हैं।

बच्चन जी से जुड़े लेख को छोड़कर बाकी सभी लेख 'धर्मयुग' में छपे हैं। आभार सहित ये सब मैं उन्हीं को लौटा रही हूँ। डोगरी भाषा को राष्ट्रभाषा ने अपने विशाल प्रांगण में स्थान दिया है। अब इसे सारा भारत जाने, यही मेरी अभिलाषा है।

अंत में, अपने भैया भारती जी से कैसे कहूँ कि मैं अभारी हूँ? उधार का एक शेर उनके लिए–

> जान दी, दी हुई उसी की थी
> हक तो ये है कि हक अदा न हुआ।

पद्मा

क्रम

अमृत-रस बरसे	11
पंडित रविशंकर	39
बोझ सर पर कंठ में स्वर	61
वरक-वरक खुश्बू	71
जो तारों की छाँव में चले	91
छुंदरिया की धन्नो	113
आपा की आपबीती	122
दिनकर जी	136
सुरीली आवाज जैसी सुरीली	142
अमृता प्रीतम : एक खुशगवार झोंका	151
जलंधर-ऑन-टेम्स	157
नौजवान बुज़ुर्ग लफ्जों के सराफ़	165
संतूर के भगीरथ	177
बा'जी, रेश्माँ दा दिल हाल्ले वी नई लग्गेया	207
वतनदारो वतन छुई नादलायान	217

अमृत-रस बरसे

शहर में चौक का बड़ा महत्त्व होता है। चौक मिली-जुली संस्कृति का गवाह है। अगर यह मौन तोड़े, तो कितने ही अनकहे दृश्य मुखर हो उठें। चौक पर लोग मिलते हैं, बिछड़ते हैं, और खो जाते हैं। चौक पर जुलूस रुकते हैं, नेता, भाषण देते हैं, और लाठी-चार्ज भी होता है। चौक चारों तरफ से खुला रहता है। इसको बातें सुनने और देखने का शौक है, बातें करने का नहीं। इधर चौक कुछ छोटे होते जा रहे हैं। अक्सर लोगों के पास मिल बैठने का शौक कम होता जा रहा है। पर चौक आज भी बाँहें खोले, आँखें बिछाए उनकी प्रतीक्षा में अपनी जगह खड़ा है।

बरसों पहले के लखनऊ के पुराने चौक का दृश्य चाहने पर हम आज भी देख सकते हैं। चौक के पास इलाहाबाद बैंक का बहुत बड़ा घर है। सामनेवाले हिस्से में एक परिवार रहता है और सुरक्षा को मद्देनजर रखते हुए बैंक घर की पिछली तरफ है। सड़क के सामने बाग है, दाहिने हाथ की ओर सभी दरवाजों की मेहराबे नजर आती हैं, बाएँ हाथ की तरफ घंटाघर दिखाई देता है। छत के आगे के हिस्से में गोटे की तरह रुपहली गोमती पसरी नजर आती है जैसे बच्चों के सपनों का दरिया हो। चौक में से गुजरती हैं, घोड़ागाड़ियाँ, शिकरमें, ऊँटगाड़ियाँ व कोई-कोई मोटर। नीचे सब्जी बेचती औरतें, सुबह से उनकी एक न समझ आनेवाली बात। वहीं चौक में खयालगोई के दंगल होते हैं, तीतर, बटेर व भैंसों की लड़ाई होती है, नाटक भी होते हैं। कभी-कभार कविता की प्रतिस्पर्द्धा भी होती है। गोया चौक एक भव्य मंच है, जिस पर अपना-अपना खेल दिखाता हर कोई गुजर रहा है। जिंदगी से बड़ा न कोई मंच है, न नाटक। जिंदगी से जुड़े हुए इन हल्के-गहराते रंगों को देखते-देखते एक बालक अपने

छज्जे पर खड़ा सुबह, दोपहर, दोपहर से शाम करता है। बड़ा मोह है उसे इन दृश्यों को देखने का। बीसवीं सदी की शुरुआत है।

अच्छे घरों में लड़कों को भी आम लोगों के साथ उठने-बैठने नहीं दिया जाता है। ललचाई रूह में यह बालक चौक के दृश्य आत्मसात करता है। रात को दादी से लगकर सोता है, तो कई कहानियाँ दादी सुनाती हैं। गुजरे हुए कल के दृश्य एक-एक करके आँखों के सामने से चलचित्र की तरह गुजरने लगते हैं, फिर धीरे-धीरे आज हो जाते हैं। सोने से पहले बालक अपनी निंदियाई आँखों में ये दृश्य बंद कर लेता है। फिर ये खवाबों के साथ-साथ दिखाई देते हैं। सुबह की पहली किरण के साथ मद्धम सुर में आवाजें आनी शुरू होती हैं। बैल के गले की घंटियों की आवाजें, उघड़ते पटों का शोर, सड़क पर चलते कदमों की आहटें—बालक प्रसन्नचित्त उठता है।

दिन चढ़ आया है। कहानियाँ जग गई हैं। वही कलवाली कहानियाँ, पर उनके प्रति कितना मोह, कितना आकर्षण।

कल और आज में कुछ तो अंतर है, जिसे जाँचने यह बच्चा छज्जे पर आ जाता है। वैसे ही, जैसे आसमान पर सूरज। आज चौक में से गुजरनेवाली घोड़ागाड़ी में कोई और बैठा होगा। सब्जीवालियों ने अपने जूड़ों में ताजे फूल टाँके होंगे, तन्बोलन की धोती का रंग बदला हुआ होगा। फलवाला खरबूजे को पानी से धोकर जमा रहा होगा। सब्जीवालियों के झगड़े की वजह भी आज दूसरी हो सकती है। खरीद-फरोख्त करनेवाले लोग भी और अंदाज में होंगे। पर चौक, उसी स्थान पर बैठा हुआ है।

बालक की सारी दुनिया चौक में समा गई है। रंग बदलते लम्हे, सोना बिखेरते क्षण, लोगों की मिलीजुली आवाजों में रंगीन होते जा रहे हैं। ढलती दोपहर में उठती-बंद होती दुकानें शांत हो गई हैं, मानो सुबह का कलरव छलावा था, जिसे वक्त ने समेट लिया।

शाम की खूबसूरती पर हल्का सुरमई घूँघट डाले, लखनऊ, चाँदनी में रोज ही तो नहाता है। उसके छींटे जहाँ-जहाँ गोमती के आँचल पर पड़ते हैं, वहीं सितारे टँक जाते हैं। रात के अँधेरे आगोश में दादी के सीने से लिपट कर ममता की महक में नहाता यह बालक बड़ा हो रहा है।

अब दोस्तों की जरूरत महसूसने लगा है। पहले दोस्त बनते हैं छापे के अक्षर। सात वर्ष का होते-होते छापे से अच्छी-खासी दोस्ती हो गई थी। दोनों

एक-दूसरे को देखकर पहचान लेते हैं। छापे के अक्षरों के माध्यम से कितने ही संसार सामने खुलते चले गए। अक्षरों में घर, आँगन, बाग, जंगल, शहर, गाँव सब नजर आने लगे। अक्षरों में ही अबरक लगाकर वार-वनिताएँ किनारी लगे मलमली दुपट्टे लिए उड़ने लगीं। अक्षरों में ही विष, उन्हीं में अमृत नजर आया। इन्हीं में जन्म लेती अग्निगर्भा शतरंज की चालें, बाढ़ों में बहते लोग, महलों में बढ़ती राजनीति, बाढ़ के पानी के कण-कण में ये मोती, छापे के अक्षर होकर उभर आए।

अवध की शाम का खूनी रंग इन अक्षरों से और रंगीन हो उठा, चाँदनी का आलोक और उजला हो गया। चित्रलिखित-से लोग यादों के चौखटों में से निकलकर चलने-फिरने लगे, बाहर आ गए। छापे के अक्षर-मोतियों के हारों की लड़ियाँ लखनऊ के चौकवाले उस घर में बंदनवार की तरह सजकर झिलमिलाने लगीं।

उस बालक के शिशुरूप को देखने के लिए अगर मुझे पिछले जन्म में छलाँग लगाकर जाना पड़ता, तो भी मैं गुरेज़ न करती, पर वह बालक आज के उस भव्य व्यक्तित्व में ही कहीं छिपा हुआ था। धन्य हैं वे लोग, जो दुनिया की रंगीनी, कालिमा, गहमागहमी और छुपे हुए वारों में भी अंत तक अपना शिशु बचा ले जाते हैं। उस शिशु की किलकारियाँ, उनकी स्वच्छता को धूमिल नहीं होने देतीं। उनके बोलों में बालक मिलता है और उनकी सादगी में आप बचपन खेलता हुआ पा जाते हैं। बचपन में दोस्तों के अभाव से जो अंतर की खान खुल गई, उसकी जगमगाहट के उजालों को मुट्ठी में बाँधकर इस बालक ने होली के गुलाल की तरह छापे के प्रेमियों के मुँह पर मल दिया। उस खान का बेशुमार खजाना आज भी निरंतर निकलता जा रहा है।

एक साथ जिस व्यक्ति में बच्चे, बालक, पिता, दादा व दोस्त के दर्शन किए, वे रहे श्री अमृतलाल नागर। सादगी, स्नेह और निश्छलता की मूर्ति। अगले वक्तों में ऐसे ही तो लोग मिला करते थे। वो साँचे क्या भगवान ने तोड़ दिए? सब पर समान रूप से स्नेह बरसातीं ममतामयी आँखें, भाँग की तरंग की लहरों में डूबते-उतराते शब्द, तरावट में भीगे, तुले हुए बोल और छापे के अक्खरों जैसे झालर-झालर सच्चे मोतियों से विचार।

अपने घर के ऊँचे पलँग पर हिंदी के गद्य सम्राट विराजमान थे। सफेद पलँगपोश पर पड़ी चादर में लगी लैस किसी सुकुमारी के सुघड़ हाथों की

कारीगरी का परिचय दे रही थी। मुझे देखकर बोले—आओ-आओ, पद्मा, मैं तो खाली ही बैठा हूँ। समय तो मैंने कल ही ले लिया था, जब डॉ. भारती के यहाँ उनके सम्मान में कुछ आत्मीय आ जुड़े थे। पुराने लखनऊ की छनाई डटकर हो रही थी। पुष्पा भारती भी चूँकि लखनऊ की हैं, इसलिए वातावरण में उनके मैके की यादें घुल रही थीं। गली-कूचों का जिक्र अंतरंग मित्रों की तरह हो रहा था। अचानक ही सब चुपके-से अतीत में चले गए थे।

क्या होता है ये अपना शहर? सारा परिवार संग लिए घूमो, तो भी हमारा कितना ही कुछ शहर ही में रह जाता है। पता नहीं अपनी गोद में ले लेने को क्यों आतुर रहता है यह? न यह माँ होता है, न बाप, पर इसका आकर्षण उनसे कहीं ज्यादा होता है। शहर कहीं नहीं जाता, पुराने बरगद की तरह एक ही स्थान पर खड़ा होकर आपकी प्रतीक्षा करता है। यह कितना मीठा अहसास है कि कोई आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।

नागर जी बता रहे थे—मेरे पितामह इलाहाबाद बैंक मे जुड़े हुए थे। उसकी शाखाएँ खोलते हुए लखनऊ में आ बसे थे। तब से हम यहीं हैं। वो जमाना नवाबी का जमाना था। उठने-बैठने के आदाब···घुटने मोड़कर कैसे बैठें, सलाम कैसे करें, बड़ों का अदब कैसे करें, ये सब चार-पाँच बरस की आयु से सिखाया जाता था।

ज़रा-सा अतीत में खोकर नागर जी फिर कहने लगे—बड़ा भव्य व्यक्तित्व था हमारे दादा का। उनके रटाए अनेक श्लोक अब तक कंठस्थ हैं। दादी ही बताती थीं कि दादा पंडित मदन मोहन मालवीय के साथ इलाहाबाद में रुद्रपाठ किया करते थे। एक नगद पैसा मिलता, जिसका मूल्य बहुत था। अक्सर ज्यादा बातें दादी ही की बताई हुई हैं। नागर जी ज़रा-सा रुककर मीठे-से हो गए। अपनी दादी उन्हें बहुत प्रिय रहीं। बोले—वे एक चरित्र थीं। गरीब परिवार की थीं। 19वीं सदी में दादा गदर के दिनों में पत्नी से लड़कर चले गए थे। दादी के पिता उन्हें ढूँढ़ने निकले। सुनी-सुनाई गदर की कई बातें दादी को याद थीं। उन्हें भी शायद बचपन में जो न मिला वह सखा, अब पोते के रूप में मिल गया था। जब वे बातें सुनातीं, तो एक-एक सीन यों सँवारतीं कि आँखों के आगे जी उठता। गदर के फूल की प्रेरणा यहीं से मिली। एक हमारा चौकीदार था ठाकुर, गदर की गई कहानियाँ वह भी सुनाया करता था। हम अकेले उसके पास बैठे रहते। गदर के दौरान हमारे चौक में जो अत्याचार हुए, उसके किस्से सुनकर

बदन काँपने लगता। दादी हमारी प्रेरणा रही हैं। बचपन में उन्हीं से चिपका रहता था। दादी परियों की कहानी की नायिका-सी लगती थीं। हमारी दादी पाँच वर्ष की आयु तक गूँगी रहीं। फिर वाचा खुली तो दादी की माँ ने तुरंत काम में लगा दिया कि कहीं खप जाएगी। उस वक्त लड़की के पैदा होते ही, उसके कहीं खप जाने की चिंता माँ-बाप को लग जाती थी। दादी बताती रहीं--उनके घरवाले बड़े गरीब थे। पिता ठंड में भी मलमल के कुर्ते पर कुछ मोटा ओढ़े घूमते रहते थे।

हमारी पड़दादी का देहांत हुआ, तो घर में खाना बनानेवाला कोई न था। घर सँभालने के लिए हमारे दादा का ब्याह सात बरस की दुधमुँही बच्ची के साथ कर दिया गया। गरीब की कामकाजी लड़की बड़े काम की होती थी। आते ही दादी ने चूल्हा-चौका सँभाल लिया। उनकी माँ ने सब सिखा दिया होगा। दादी बताती थी; सवेरे छोटी-सी लुटिया से, चार-पाँच बजे उठकर, वे काक स्नान कर लेतीं, फिर अपने छोटे-छोटे हाथों से आठ बजे तक खाना तैयार कर लेतीं। हमारे पड़दादा आठ बजे आफिस जाते थे। घर से माँ ने इस सबके लिए दादी को तैयार किया हुआ था।

हमारे दादा अंग्रेजी पढ़नेवाले पहले बैच में से थे। अवध रुहेलखंड में जब रेलवे खुली, तब उनका दफ्तर झाँसी में था। दादी बताती थीं कि जिंदगी में पहली बार उन्होंने ऊँटगाड़ी देखी, ट्रेन में सफर किया, बड़ा रोमांचक अनुभव था। दादी के चौदह संतानें हुईं। बचे हमारे पिता और बुआ। उस जमाने में अज़ीब मान्यताएँ थीं। हमारी बुआ के एक जेठ विलायत से हो आए थे, इसलिए उन्हें अपने इकलौते भाई की शादी में नहीं बुलाया गया। उस समय छोटी-छोटी बातों में बड़े-से-बड़ा सुख गर्क हा जाता था।

जिस लखनऊ में हमने होश पाया उसकी साफ स्मृतियाँ मानसपटल पर अंकित हैं। दादा-दादी के लाड़ और पिता के अनुशासन में हम बड़े हुए। 1921 से हमें सब याद है। उन दिनों नवाबी तो नहीं थी, पर चलन वही था। अदबोआदाब, महफिलें, गोष्ठियाँ खूब चलतीं। जन्माष्टमी है, होली है, वसंतपंचमी है, तो रईसों के घरों में घंटों महफिलें जमतीं। तवायफ, भाँड, नाटकवाले—सब बुलाए जाते। समस्यापूर्ति चलती। हमें याद आ रहा है, उन दिनों के एक नवाब ने अंग्रेजी साईस रखा छोड़ा था। खुली बग्घी में टहलने निकलता, पीछे दो सिपाही खड़े रहते। बग्घी पर नवाब साहब अकड़कर बैठे

रहते। अंग्रेजी साईस के द्वारा नव्वाबी की पूँछ पकड़कर चलने का ये अनूठा तरीका था।

हमारे घर के सामने पार्क था। पार्क के सामने लड़के खेलते रहते। जवान लोग फुटबाल, क्रिकेट, हाकी सब खेलते। बेंचों पर बैठे बूढ़े एक-दूसरे को अपनी जवानी के किस्से सुनाते रहते। पार्क एकदम साफ-सुथरा रहता। 1887 में वहाँ विक्टोरिया की मूर्ति लगी थी। हमारे घर के नीचे चौक में तरकारी बेचनेवालियाँ गाली बकती रहतीं। सुन-सुनकर हम भी गाली देने लगे। एक दिन पिता ने सुना तो पकड़कर खूब मारा। तब पता चला, ये बाहर कहने की बात नहीं है। पिता जी चाहते थे शाम को लड़का फुटबाल खेले। पर दादा-दादी कहें, इसे कहीं लग जाएगी। सो हम लड़कों को खेलते हुए देखते रहते।

दादा जी का प्रसाद हमारे पास संस्कृत के श्लोक हैं। हम उसके चिरऋणी हैं। बड़े-बड़े लोगों के दर्शन उन्हीं की बदौलत हुए। आचार्य श्यामसुंदर दास, जिन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की थी, वे हर सवेरे दादा जी के साथ सैर करके घर पर आते। दातुन के बाद कुल्ला वहीं करते। छापे के अक्षरों में उनका नाम पढ़कर हमें बड़ा गर्व होता है। पितामह रिटायर हुए, तो बैंक का घर खाली किया। वहीं अंदर गली में घर ले लिया। मेरी और गली के लड़कों की दूरी उतनी ही रही, जितनी मेरी और सड़क की। बचपन में ताश नहीं खेले, पतंग नहीं उड़ाई, डोर नहीं लूटी, लट्टू नहीं घुमाया, सड़क अपरिचित-सी लगती रही। अपरिचित भी और रहस्यमय भी। अकेले मन में कितने ही दोस्त और दुश्मन पैदा होते हैं, जो आनेवाले दिनों में उसके भीतर की सृष्टि को बढ़ने में सहायता देते हैं। तब की सृष्टि के चित्र आज मेरे मन पर हैं, दीवारों पर नहीं। मन तो कभी मैला नहीं हुआ, चित्र भी वैसे ही नए-नए बने रहे। बचपन में गली में न खेल पाने का दुःख आज भी सालता है। बस ललचाए-से खेलते हुए लड़कों को देखते रहते थे। दादा जी के जमाने में टोपी पहनकर निकलने का हुक्म था। सातवें दर्जे तक नौकर स्कूल छोड़ने जाता था। हमारा एक नौकर था—मातादीन। बड़ा रौब था उसका। मेरी माँ को भी डाँट लेता था। माँ का नाम विद्यावती था। दादा-दादी की लाड़ली दुल्हन थीं मेरी माँ। दादा माँ से घूँघट नहीं निकलवाते थे। बाज़ार जाने से पहले हमेशा पूछते—बिट्टो, कुछ लाना है? माँ को हमने खाली पान लगाते देखा है। माँ सुंदर थीं। मैं तो

बचपन में ज्यादा दादी से चिपका रहा। माँ से कभी-कभी बहुत झगड़ा होता था। पिता जी दिन में एक ढोली पान खा जाते थे। एक ढोली में 200 पान होते हैं। थोड़े मित्रों को भी देते थे। पान का उन्हें बड़ा शौक था। माँ सारा दिन पान लगातीं। पिता जी उन्हीं के हाथ का पान खाते थे। माँ की सहेलियों का जमावड़ा रहता। गप्पबाजी होती रहती। हम अपनी दादी के आँचल तले दुबके रहते। चार बजे सफाई के वक्त मातादीन उनको और उनकी सहेलियों को हटा देता। खिड़की पर खड़ा नहीं रहने देता था। डाँट भी लेता था। हमें याद है, हम छोटे थे, तो ताजियों के नीचे से निकाल लाता। मुहर्रम के ताजियों का जुलूस शानदार होता। कितने अच्छे दिन थे। आपस में कई-कई तारों से जुड़े हुए थे लोग। अब तो वह साँचा ही टूट गया।

उस समय हिंदू-मुसलमान आचार-विचार के कट्टर पाबंद होते हुए भी एक-दूसरे में जितनी आत्मीयता रखते थे, वो अब नहीं है। अब राजनीति ही सबसे बड़ा धर्म हो गया है। तब होली-दीवाली में मुसलमान सौगातें भेजते। ईद पर ईदी देते। दोनों एक-दूसरे के धर्म का एहतराम करते थे। होली में हिदायत रहती कि रंग का कोई छींटा मुसलमान भाई पर न पड़े। अगर गलती से पड़ जाए तो भी वो कहते—लो बेटा, और डालो।… बहुत ही डूबकर नागर जी कहने लगे—सचिवालय की कुर्सी की लड़ाई से सांप्रदायिकता आई है। पहले यह सब नहीं था। अब मुखौटे दूसरे हो गए हैं। मन में कुछ, जबान पर कुछ हो गया है। हमारा समाज ऐसा न था। बैंक में दादा जी के पास हिंदू-मुसलमान सभी आते थे। कलकत्तेवाली प्रसिद्ध गायिका गौहरजान जब कभी बैंक में आती, दादा जी कुर्सी से उठकर खड़े हो जाते। उन दिनों सम्मान करना जानते थे लोग।

नागर जी अपनी बचपन की छोटी-सी दुनिया में लौट गए थे। उसी बहाव में कह रहे थे—पढ़ने का हमारा अभ्यास 7 वर्ष की आयु से रहा। माँ के लिए गृहलक्ष्मी पत्रिका आती थी, सरस्वती घर के लिए। मैं दोनों पत्रिकाएँ चट कर जाता था। उस समय का लखनऊ पतनशील, विलासी कमजोरियों में बँधा हुआ था। लड़कों पर कई पाबंदियाँ थीं। इनसे निकलकर कई लड़के एकदम बहाव में बह जाते हैं। पर हमें तो छापे ने बाँध लिया था। हम वहीं-के-वहीं रहे।

जब दादा की मृत्यु हुई, हम तेरह बरस के थे। पिता जी ने थोड़ी आजादी

दी। इंदरसभा में जा सकते थे। उसमें क्लासिकी गायिकी रहती थी। हमारी गली के नीचे खयालगोई के दंगल होते। समस्यापूर्ति होती। खयालगोई जरूर लावणी से निकली होगी। कलगी और तुर्रा, दो पार्टियाँ रहतीं। पेशवा किसी को कलगी देते किसी को तुर्रा। खयालगोई में चंग और डफ रहते। सिगड़ी पर चंग के दोनों पुड़ गरमाए जाते। तुक-से-तुक भिड़ जाती। हाफिजशाह और नानकशाह खत्तरी के दो कैंप थे। ये साधारण लोग थे। पान की दुकान और तारकशी की दुकान के मालिक। पर दंगल में खूब शौक, खयालगोई का चस्का। खयालगोई में संस्कृत भी होती, फारसी भी। जो भाषा शुद्ध न बोले, उसे टोक दिया जाता था। जब ये खयालगोई हमारे चौक में होती, तो हम बड़ी उत्सुकता से उसका इंतजार करते। तुक-से-तुक, भाव-पर-भाव, भाषा-से-भाषा का अखाड़ा चलता। दादा की मृत्यु के बाद हमने बटेर, तीतर, भैंस सबकी लड़ाई देखी। उन दिनों यह सब जीवन में शामिल था। हाँ, नौटंकी सुनने की इजाजत न थी। सो हम चोरी से जाने लगे। तेरह-चौदह बरस की उम्र में चोरी न की, तो क्या जवान हुए? जब पहली बार नौटंकी देखी, तब चित्त हो गए। कभी कुछ जाना न था। बड़ी अश्लील नौटंकियाँ होतीं। भीड़ उसी से खुश रहती थी। हमारा किशोर मन भी गुदगुदा जाता था। पर धीरे-धीरे झटका लगने लगा। नफरत होने लगी।

हमारा जनेऊ 9 वर्द की उम्र में हो गया था। तभी बाहर का खाना-पीना बंद हो गया था।

मैंने पूछा—पंडित जी, अपने तो स्वतंत्रता की लड़ाई बचपन से देखी होगी?

कहने लगे—हाँ, सबकुछ याद है। पाँच-छह बरस के थे, तभी से राष्ट्रीय आंदोलन की लहर देखने लगे। लोग जेल में जाते थे। बड़ी चर्चा होती थी। हमारे पिता जी के मित्र जेल गए। हम बड़े गर्व से कहते फिरे, महेश चाचा जेल गए हैं! जालियाँवाला बाग कांड से हमें पूरा होश है। सड़क पर लोग गाते थे—

बोली अम्माँ यूँ शौकत अली की
जान बेटा खिलाफत में दे दो।

जान देने को तो हम भी फिरते थे। पर जान किस पर देनी है, यह पता न था। एक लहर थी, जिसमें सब भीग गए थे। उन दिनों यह गाना भी खूब चलता था—

हम तो चरखे ते लइबै सुराज
हमार कोई का करिबै।

सब कहते थे, देश के लिए जेल जाओ। अब यह देश क्या है, ये समझ में नहीं आता था। पर यह लगता था कि देश कुछ है जरूर, जिसके लिए कुछ भी किया जा सकता है।

इन्हीं दिनों हमारी दादी हमारे रिश्ते के ताऊ के लिए पत्नी खोजने गईं। हम उनके मुख्य चमचे थे, साथ हो लिए। रास्ते में टोपियाँ बिक रही थीं। गोल-गोल टोपियाँ बड़ी अच्छी लगीं। सभी खरीद रहे थे। दादी ने एक हमें भी ले दी। टोपी के एक हिस्से पर यह कविता लिखी रहती थी–

जो भरा नहीं है भावों से, बहती जिसमें रसधार नहीं
वो हृदय नहीं है पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।

टोपी खरीदकर पहनी तो लगा, हम भी आंदोलन में शामिल हो गए हैं। हमें गुजरात जाने का बड़ा शौक था। बरसों पहले जो पूर्वजों का घर गुजरात में था, वही खींचता रहा होगा। घर में हम अभी भी गुजराती बोल लेते हैं।

और हाँ–यह कहकर पंडित जी मुस्कराए–7 बरस की उम्र में हम ननिहाल गए। आगरा में हमारी ननिहाल थी। अपनी मौसी के ब्याह में गए थे। घर में रोगन-पानी हो रहा था। पुराने कीलों वाले दरवाजे पर कोलतार मला हुआ था। घर सुंदर बनाया जा रहा था। वहीं एक पाँच बरस की लड़की खेल रही थी। दरवाजे के पास आई, तो उसके हाथों में कोलतार लग गया। वह रोने लगी। हमने उसे चुप कराया। और साबुन से उसके हाथ धुलवाए। अब हमें क्या पता कि कुछ औरतें छुपकर देख रही हैं। उन औरतों में उस छोटी लड़की की दादी भी थीं। वे हमें देखकर रीझ गईं। कह बैठीं, मैं तो इसी से अपनी पोती का ब्याह करूँगी। बस सगाई हो गई। वो जमाना आडंबर का न था। सात साल के हम और पाँच साल की वे। तब से आज तक हमें गुड्डा ही समझती हैं, चाहती हैं उसी के अनुसार खेलूँ। ... यह कहकर नागर जी ठहाका लगाकर हँसे।

अब लोग उसे छेड़ें, तुम्हारा होनेवाला दूल्हा है। हमें बड़ी शर्म आए। सगाई हो गई थी। हमारे मन में भी था कि यही हमारी दुलहिन है, उसे भी सबने कह दिया था। वह लहककर अपने छज्जे से आवाज दे–जानी!

हमारी अतल याज्ञिक है। ननिहाल में हमें सब जानी कहें। पर जब उसने कहा, तो मेरे शिशु में जो पुरुष था उसने रोब दिखलाकर डाँट दिया। वह बहुत छोटी थी। आवाज दे तो हमें गुस्सा आए।

फिर धीरे-धीरे उसे भी समझ आ गई। हम जब भी आगरा जाते ससुराल में बुला लिए जाते। उनके घर में हमारी ददिया सास और सास दो विधवाएँ थीं। बड़ा सम्मान होता। फिर तो ननिहाल जाने का बहाना रहता। हम, हमारे भाई सभी ससुराल में खातिर करवाते रहते। पढ़ने का बेहद शौक था। उनकी पड़ोस में नागरी प्रचारिणी सभा के एक सदस्य थे। हमारी पत्नी ने धीरे-धीरे सामने आना बंद कर दिया। शरमाने लगी। उम्र के साथ-साथ पतित्व की चेतना बढ़ती गई। हमें भी अहसास होता, यह हमारी पत्नी है। जब शादी हुई, हम 16 वर्ष के थे और वो 14 की। बस तब से साथ है।

फिर नागर जी जैसे कुछ याद करते हुए बोले—उन दिनों की फराखदिली अब कहाँ? अब सब दिखावटी हो रहा है। बुराइयाँ तो तब भी थीं। पर अब बुराइयों के रूप बदले हैं और मिकदार भी बढ़ गई है। पुरानी मुहल्लेदारी अकेलापन मिटाती थी। आज इंसान कितना अकेला हो गया है।

मुहल्लेदारी की कई कड़वी स्मृतियाँ भी हैं, जो आज तक नहीं भूलतीं। हमारी गली में कई जादू-टोनेवालियाँ रहती थीं। वहीं सामनेवाले घर में एक बहू निपूती थी। मेरा एक छोटा-सा भाई था—घर का खिलौना। एक दिन उस औरत ने मेरे भाई के चँदोवे पर कुछ खुशबूदार चीज मली। उसी दिन से उसे महीना-भर दस्त लगते रहे और वो मर गया। ऐसे लोगों के प्रति मन में जिज्ञासा के साथ-साथ भय भी होता था।

गली में एक मास्टर खत्तरी थे। वे बहुत पान खाते थे। गली की आठ-दस बहुओं के हाथजोड़े नौकर थे। हर घर उन्हें पान खिलाता, खाना भी कहीं-न-कहीं खा लेते। नींद का समय हो, तो किसी-न-किसी की दहलीज पर पड़े रहते। सभी बहुओं का हुक्म बजा लाते। उनका अपना कहने को कोई न था, पर सारी गली अपनी थी। जब बूढ़े होकर मरे, तो लोगों ने उनकी छाती पर कई ठो पान रख दिए।

एक और साहब याद आ रहे हैं। मलमल का कुर्ता, पतली छड़ी। नाम था नानकचंद नानक। उर्दू के प्रसिद्ध मर्सियागो थे। उर्दू के इतिहास में उनका नाम दर्ज है। वे अपने पत्र मेरे पिता जी के नाम से मँगवाया करते थे। पढ़े अलिफ-बे भी न थे। बही-खाते की लिपि में लिखते थे। बहुत उम्दा उर्दू बोलते थे। उर्दू में बड़े सम्मानित व्यक्ति थे।

धीरे-धीरे मंद गति से बहनेवाली नदी की तरह जीवन बह रहा था। हम

19 बरस के हुए, तो अचानक पिता का स्वर्गवास हो गया । जैसे गहरी नींद में सोए व्यक्ति पर कोई अचानक ठंडे पानी की बाल्टी उलट दे। हमारे ऊपर दो-दो छाते थे। आँधी, पानी या धूप का हमें कोई डर न लगता था। इस तुषारापात से हम सहम-से गए। दो लड़के भी हो गए थे। और दो छोटे भाई भी थे। लोग अफसोस करने आए, तो पूछे–भैया, क्या करते हो? यह बात हमें आज तक सूझी न थी कि कुछ करना भी होता है। लोग कहें–भैया, तुम पर गाज गिरी है! उसकी जलन का अनुभव तो हमें हो ही रहा था। यह सुनकर हम एकदम हताश हो जाएँ, पर ये समझ न आए कि हम करें क्या?

हमारे पिता के ही एक मित्र थे। पं. महेशदत्त वाजपेयी। वे डाकखाने के सुपरिंटेंडेंट थे। उन्हीं दिनों डाकखाने में भरती का इम्तहान होनेवाला था। उन्होंने हमें घर बुलाकर आदेश दिया कि इम्तहान के पाँच मिनट पहले हाल में दिखाई पड़ो। हम गायब हो गए। नौकरी-चाकरी करने को मन न था। हमने मन में तय कर लिया था कि लेखक बनेंगे। पर उस दिन हमारे लिए पाँच मिनट इम्तहान रुका रहा। हम धर-पकड़ लाए गए। सिर झुकाकर बुत हो लिए। डाँट पड़नी ही थी, खाई और कुछ दिन नौकरी भी की।...

पंडित जी जब बोलते हैं तब एक-एक जुमला सुनने को मन करता है। उनकी धाराप्रवाह अतीत की खुलती पोटलियाँ खजाने से भरपूर थीं। बीच में कौन बोल सकता? जब चाय आई तो कहने लगे–सब खाओ। मैंने कहा–पंडित जी, ब्राह्मण की लड़की जरूर हूँ, पर पेटू नहीं। इस पर वे खूब ठहाका लगाकर हँसे। मैंने मौका ताड़कर पूछा–पंडित जी, लेखक को पहले कविता पकड़ती है या गद्य। कहने लगे–हमने भी पहले कविता ही की। ज़रा सोचो, साइमन कमीशन का जुलूस निकला था। उसकी दोहरी-तिहरी लहरों में डूबता-उतराता एक बालक। समदर जितना लंबा-चौड़ा जूलूस, जिसकी कोई थाह नहीं। यह कोई किराए का जुलूस नहीं था। यह तो भावना का समंदर था, जिसका कोई आदि-अंत नहीं होता। खबरों-पर-खबरें लहरों की तरह आ-जा रही थीं। सारी जनता उसमें डूबने को तैयार थी।

जवाहरलाल, गोविंद वल्लभ पंत पर लाठी-चार्ज हो चुका है।
आगे गोरों ने रास्ता बंद कर दिया है।
घायलों को उठाया जा रहा है।
स्त्रियाँ बेहोश हो गईं।

एक बालक को भीड़ का एक रेला इधर लाता, तो दूसरा धकेलकर उधर ले जाता। जैसे लहरों पर नारियल की दशा थी, वैसे ही उस बालक का हाल था। बालक घिर गया। चप्पल पाँव से निकल गईं। कुर्ते का बाँह गायब हो गईं। आधा बेहोश, जब किनारे पर आकर लगा तो राहत मिली। इसी हंगामे ने एक कविता लिखवा दी। यह बालक मैं ही था। बाद में यह कविता महेश चाचा ने भूमिका के साथ अपने दैनिक आनंद में छाप दी। बड़ा प्रोत्साहन मिला। खुशी की सीमा न रही। फिर एक कविता मोतीलाल नेहरू पर—उनकी मृत्यु पर लिखी। खुली कार में उनका शव ले जाया जा रहा था। एक लंबा जुलूस जो उनकी शान में आया था, वही जुलूस जैसे कदम-कदम जमाकर मस्तिष्क में चलता रहा। बड़े-बड़े नेता साथ थे। गाँधी जी थे, और कई लोग थे। बस, कविता हो गई।

उन दिनों का साहित्यिक वातावरण यह था कि रसिक हिंदुओं के घरों में छोटी-छोटी कवि-गोष्ठियाँ होती थीं। बस मुहल्ले के लोग चले आते थे। ऐसी ही एक गोष्ठी में हमने यह कविता सुना दी। लोगों को पसंद आई तो वाह-वाही हुई। बड़ा रोमांच हुआ। हम खाते-पीते घर के चिंतामुक्त युवक थे। शुरू में अभाव जाना ही नहीं। फिर भी दूसरे का दुःख अपना समझकर भोगना तो लेखक को पड़ता ही है।

हाईस्कूल पास करने के बाद पिता से पहली और अंतिम बार बात हुई। उन्होंने ही पूछा था :

तुम क्या करोगे?

मैंने बिना हिचकिचाए कहा था—लेखक बनूँगा।

पिताजी ने कहा था कि लेखन जीविका नहीं हो सकता। पर उन्होंने फिर किसी बात के लिए नहीं टोका।

शरत बाबू से मिलने की बड़ी लगन थी। लगता था, उन्हें देखते ही कोई शक्ति भीतर आकर पैठ जाएगी। वही मेरे लेखक को बल देगी। पिता के गुस्से से डर लगता था। पता नहीं, क्या कहेंगे। वे शायद सोचते होंगे, बच्चा खेलने को चाँद माँगता है। पर प्रोत्साहन वही देते थे। कलकत्ता में हमारे रिश्तेदार थे। पिता के मित्र भी थे। हम कलकत्ता चले गए। लगन थी। शरत बाबू को मिलना ही था। उन्हें देखा, तो यों लगा जैसे कुंजी हाथ लग गई हो। शरत बाबू पूछने लगे— लेखक बनोगे क्या? कालेज में, स्कूल में लड़के यही ख्वाब देखते

हैं, साहित्यकार बनना चाहते हैं, फिर भूल जाते हैं।

मैंने कहा—मैं लेखक ही बनूँगा।

पूछा—बनेगा?

मैंने कहा—हाँ।

उन दिनों शरत बाबू बर्मा से आए ही थे। उनके एक अध्यापक पँचकौड़ी बाबू हमारे बैठे ही मिलने आए। आते ही कहने लगे—क्यों रे शरत, सुना है बहुत बड़ा लेखक हो गया है। लोग आकर खूब पाँव की धूल-वूल लेते हैं। क्यों रे? यह कहकर वो हँसे।

शरत बाबू ने झट झुककर उनके पाँव की धूल ली। देखा-देखी हमने भी ली। पँचकौड़ी प्रसन्न होकर बोले—लेखक बनकर दूसरे की निंदा न करना। जो तुम लिखो, तीन महीने तक ड्रॉअर में रखो। फिर निकालकर पढ़ो। सात-आठ दिन बाद फिर पढ़ो। जब तसल्ली हो जाए, तो किसी दूसरे को दिखाओ।

जिस प्यार और सम्मान से नागर जी शरत बाबू का जिक्र कर रहे थे, मैं कल्पना कर रही थी कि कैसे नागर जी शरत बाबू के पास बैठे होंगे, कैसे शरत बाबू बात करते होंगे। कैसे होंगे वे। कौन ऐसा अभागा लेखक होगा, जिसने कभी शरत बाबू के पास बैठने की कल्पना न की होगी? उनकी कहानियाँ जब चलती हैं, तो पूरा रास्ता शरत बाबू को भी आप देख सकते हैं। मेरी जिज्ञासा बढ़ रही थी। मुझे यह भी लग रहा था, जैसे नागर जी श्रद्धा से शरत बाबू से मिलने गए होंगे, वैसे ही आज मैं नागर जी के पास बैठकर प्रफुल्लित हो उठी हूँ।

नागर जी कह रहे थे—शरत बाबू ने हमसे कहा था, जो लिखो कल्पना से मत लिखो, अनुभव से लिखो। हमने यह बात गाँठ बाँध ली है। कल्पना, हवा में उड़ा सकती है पर धरातल पर तो स्वयं ही चलना पड़ता है। एक बात शरत बाबू ने और कही थी, चार पैसे पास में हों, तो तीन जमा करो एक खर्च करो। बहुत खर्च हो, तो दो खर्च करो दो जमा करो। और खर्च बढ़ जाए, तो तीन खर्च करो एक जमा करो। बहुत खर्च आ जाए, तो चारों खर्च कर लो पर पाँचवाँ पैसा उधार न लो। पाँचवाँ पैसा अपने पास रहना चाहिए।

भक्तिभाव से नागर जी थोड़ा रुककर कहने लगे—वहीं पर शरत बाबू का राईटिंग-पैड पड़ा था, वे बैठे-बैठे उस पर कई बार अपना और हमारा नाम लिखते रहे। हमने वह कागज उनसे माँग लिया। वह कागज अब तक हमारे पास है। बड़े विलक्षण पुरुष थे। संन् 1930 से 1937 तक प्रतिवर्ष घर बनवाते

रहे। अपने गाँव के घर में आरामकुर्सी पर बैठे रहते। आसपास दोनों ओर छोटी-छोटी मेजें रहतीं। मेज पर रहते 555 सिगरेट के टिन। दोनों ओर कलम व पेंसिलें करीने से सजी रहतीं। फिर लैटर-पैड और उसके पास चाँदी की एक गोल छोटी-सी डिबिया। डिबिया में अफीम रहता और पास में ही अफीम खुरचने के लिए एक चाकू भी रहता था। चाकू से अफीम खुरचकर गोली बनाई और पानी से निगल ली। फिर बोले, देखा, साहित्यिक को नशा नहीं करना चाहिए। हुक्के की नली तो हमेशा उनके हाथ में रहती थी। जब हुक्का ठंडा होता, तब सिगरेट चलते। धूनी निरंतर गर्म रहती। बुझती नहीं।

जिस स्नेह से नागर जी शरत बाबू की बातें सुना रहे थे, वैसा अब कितना दुर्लभ होता जा रहा है।

नागर जी कह रहे थे—आज साहित्य में एक वर्ग ऐसा आ गया है, जो बड़ों की पगड़ी उतारने को तैयार है। आज जो मैं लिख रहा हूँ वह कल नई शैली व नए चिंतन में पीछे पड़ सकता है। पर यह नहीं हो सकता कि मुझमें कोई खूबी ही नहीं है। देखो पद्मा, सबकी अच्छाई लो, बुराई मत लो। प्रेमचंद लेखन को जीवन के निकट लाए। जहाँ हमारी दृष्टि न जाती थी, वहाँ उनकी गई। 1935 में जब हमारा पहला कहानी-संग्रह छपा, तब उनका पत्र आया था—वाटिका के फूल सूँघे, अच्छी खुशबू है। मैं तुमसे यथार्थवादी कहानियाँ चाहता हूँ।

'वाटिका' हमारी किताब का नाम था। बड़ी खुशी हुई। निराला ने भी कहानियाँ सराहीं। अरे भई, याद आया। कभी-कभी मौज में निराला कहा करते थे—निकम्मा है, तुम्हारा हिंदीवाला।

यह कहकर नागर जी खूब जोर से हँसे। सच तो यह है कि अब दिल खोलकर हँसनेवाले भी कहाँ रह गए हैं? हर चीज की तरह हँसी में भी मिलावट हो गई है। वक्त और मौका देखकर लोग तरह-तरह से हँसने लगे हैं।

उन दिनों लखनऊ में माधुरी निकला करती थी। संपादक थे पंडित रूपनारायण। उन्होंने एक बार कोई लेख लिखने को कहा। हमने कोष देख-देखकर लेख में विद्वत्ता भरी। पढ़कर उन्होंने कहा—भैया, अब तुम बिलकुल विद्वान् हो गए हो। तुम्हारे लेखन के नीचे अब फुटनोट देना पड़ा करेगा। यह सुनकर हमारे सोचने का ढंग बदल गया। जब ठीक किया हुआ लेख पढ़ा, तो उसमें हमारी बोलचाल की भाषा थी। बड़े शर्मिंदा हुए। फिर उसके बाद पंडित और लेखक में फर्क न रहा। वह एक आम आदमी की बात

कहने के लिए आम आदमी हो गया।

बनारस में हम प्रसाद जी से मिलने जाया करते थे। बड़ा स्नेह करते थे। वे बनिए थे, हम ब्राह्मण; सो हमें पाँव नहीं छूने देते थे। पिता की मृत्यु के बाद हम गए। हमें वही सब सुनने की आदत थी जो लोग कहते थे– भैया, तुम पर गाज गिरी है! पर प्रसाद जी ने कहा–जब तक तुम्हारे भाई नाबालिग हैं, हिसाब-किताब माँ को समझा दिया करो। यह सुनकर हमारा हौसला बढ़ा।

हमारे दादा, जो महाजनी लेन-देन करते थे, उसमें हमारा काफी पैसा डूब चुका था। मन बड़ा असंतुष्ट रहता था। हमारे भी दो संतान हो चुकी थीं। घर भरा-पूरा था। जो भी संवेदना जताने आता, वही कहता–नौकरी करो। नौकरी के नाम से हम बिदके। उन्हीं दिनों रामविलास ने कहा–पत्र निकालो, बहुत-से सवालों से बच जाओगे। उनका सुझाव हम पसंद आ गया। तब 'चकल्लस' पत्र शुरू किया। अलग-अलग नामों से खुद ही लिखने लगे। कभी पूरा-का-पूरा पत्र हम ही भर लेते थे। यह पत्र बड़ा सफल हुआ। इसकी तारीफ में निराला जी के लिखे पत्र अब तक हमारे पास हैं। पत्र में नुकसान यह हुआ कि पत्र एजेंसी से जाता था। लोग लेते थे, पर पैसा न देते थे। हमारे रजिस्टर में पैसा था, पर बिक्री का हिसाब-किताब न था। नकली विज्ञापन छप जाते थे। इससे घाटा बहुत हुआ।

पर 'चकल्लस' की वजह से हमारी प्रतिभा का विकास खूब हुआ। कलम चल निकली। लिखने में ताजगी और नयापन आया। पर घाटा इतना हो चुका था कि पत्र बंद करना पड़ा।

मेरे मन में यह जानने की बड़ी उत्सुकता थी कि उन दिनों जो माहौल था और पंडित जी का जैसा मन था, वे स्वतंत्रता आंदोलन में कैसे नहीं कूदे?

पंडित जी बोले–1921 के आंदोलन में हम छह बरस के थे। कुछ पता न चले कि देश क्या चीज है। हर कोई सिर हथेली पर लिए क्यों घूम रहा है। पर 1925 के दंगों ने हमें थोड़ा-बहुत हिला दिया। बड़े लोग घर में बातें करते थे। दंगों की खबरें शिवनाथ जी की आनंद पत्रिका में छपती थीं। पढ़ के बड़ा दुःख होता था। साइमन कमीशन के समय वानर-सेना में हम थे। जब कांग्रेस अवैध घोषित कर दी गई, तब लड़कों ने मिलकर सब घरों के आगे कांग्रेस दफ्तर लिख दिया। ये शब्द किसने दिए, कहाँ से आए, यह कोई न जानता था, पर दरवाजों पर लिखा कांग्रेस दफ्तर एक सामूहिक विद्रोह की सूचना देता था। उन दिनों जो

वालंटियर जेल गए थे, उनके बच्चों के लिए 'चुटकी भंडार' शुरू हुआ। इसमें भी हम जाते थे। झोला लेकर आटा, दालें व कपड़े माँगते थे। औरतों को चाची, दादी, बुआ, जिज्जी कहकर लड़-झगड़कर ज्यादा ले लेते थे। स्त्रियों से रिश्ता कायम कर लो, तो उनका वात्सल्य भाव जग जाता है। वैसे चुटकी भंडार के भिखारियों को कोई 'ना' नहीं कहता था। उन्हीं दिनों माँ ने चर्खा कातना शुरू किया। मैंने भी उनसे सीखा। हमारे पिता सरकारी नौकर थे। पर हमें उन्होंने कभी मना नहीं किया। हम प्रभात फेरियों में भी जाते थे। गला फाड़-फाड़कर राष्ट्रीय गीत गाया करते थे। क्या वक्त था?

उन्हीं दिनों दो संस्थाएँ खुलीं। एक थी यंग मैन्ज़ ऐसोसिएशन। दूसरी, यूथ्स यूनियन। इनमें भी हम शामिल थे।

लोगों के मन में जोश भरने के लिए लोग स्वतंत्रता संबंधी नाटक भी करने लगे। कानपुर के खतरी पहलवान व श्रीकृष्ण पहलवान की राष्ट्रीय नौटंकी थी।

नौटंकी चल रही है। बल्लभ टेरनी धरना दे रही है। गोरों के सिपाही आते हैं; कोतवाल-दरोगा आते हैं, पर उसे पकड़ नहीं पाते। अंत में लाट साहब खुद पकड़ने आते हैं। पर वे बल्लभ टेरनी (स्वयंसेविका) के सौंदर्य पर मर मिटते हैं। उनके गश खाते ही पंडाल तालियों से गूँज उठता है। बल्लभ टेरनी तेजस्विनी रहीं।

नौटंकी आंदोलनों ने सामाजिक आंदोलनों की लहर को बल दिया। साहित्य के साथ-साथ लोक-साहित्य में भी राष्ट्रीय स्वतंत्रता को बल दिया।

इसमें रविवार के रोज हम गाँव-गाँव जाया करते थे। गाँवों में लोगों को आजादी के बारे में बताया करते थें। बच्चों को पढ़ाते भी थे। एक होमियोपैथी के डॉक्टर भी जुट गए थे। उन्हें संग लेकर जाते। पुड़िया के लालच में लोग-बाग इकट्ठा हो जाते। फिर उन्हें राष्ट्रीय चेतना के बारे में बताते। उस समय कोई भी इस चेतना से बचा न था। पूरी तरह से हम आंदोलन से इसलिए नहीं जुड़ पाए कि पिताजी ने कह दिया था—तुम्हारे दो छोटे भाई हैं, ये खयाल रखना।··· फिर कलम का आंदोलन तो चल ही रहा था।

1933 में हमने 'सुनीति' पत्रिका निकाली। उन्हीं दिनों हमारे छोटे भाई के पाँव की हड्डी बढ़ गई थी। उसका ऑपरेशन होना जरूरी था। उसे अस्पताल में भरती करवा दिया गया। वहीं अस्पताल में पुरुषों के वार्ड के साथ ही महिलाओं

का वार्ड था। उन्हीं दिनों हमें पता चला कि स्वरूपरानी जी बीमार होकर आई हैं। हम उन्हें देखने को बड़े उत्सुक थे। उन दिनों जवाहरलाल जी जेल में थे। बस एक-दो कश्मीरी परिवार उन्हें देखने को आता। स्कूल के बाद जो हमें समय मिलता, उसमें हम उनकी सेवा में लगे रहते। बड़ा स्नेह करने लगीं। फिर जवाहरलाल जी जेल से छूटे, तो रोज़ शाम माँ से मिलने आने लगे। हम तो अब जम गए थे। वहीं हमने डॉ. विधानचंद्र राय, मौलाना शौकत अली आदि कई नेताओं को करीब से देखा।

तुम्हें एक दृश्य बताते हैं। अगर हम चित्रकार होते, तो इसे बाँध लेते। अब भी इतने बरसों बाद यह दृश्य उतना ही सजीव है। स्वरूपरानी जी का पलँग शाम के समय बालकनी पर लगा दिया जाता था। इस बदलाव से उनका जी खुश रहता था। पंडित जी उनके सिरहाने बैठे रहते। बड़े प्यार से वे पंडित जी से बातें करती रहतीं। वहीं पास में शाहमीना की दरगाह भी थी। वहाँ से कव्वाली की आवाज निरंतर आती रहती। पंडित जी कान लगाकर सुनते।

एक दिन पंडित जी पूछने लगे—यह आवाज कहाँ से आती है? हमने जो कहानी सुनी थी, वो उन्हें सुना दी। कहते हैं, शाहमीना से मिलने कोई संत-सूफी आए, तो शाहमीना कच्ची दीवार पे बैठे जौ की रोटी खा रहे थे। किसी ने हड़बड़ाकर कहा, संत शेर पर बैठकर आ रहे हैं। शाहमीना ने दीवार को कहा, चल-भई-चल। दीवार चलने लगी। पंडित जवाहरलाल सुनकर खुश हो गए। उन्हीं दिनों अपनी पत्रिका 'सुनीति' के लिए मैंने एक लेख भी पंडित जी से लिखवा लिया। पंडित जी ने सामाजिक आंदोलन पर लिखा था कि लोगों को इन हालात में क्या करना चाहिए। वो लेख अब तक हमारे पास था। फिर नेहरू संग्रहालय में रखने के लिए श्रीमती गाँधी को दे दिया। नागर जी गदगद होकर बता रहे थे—मैंने जवाहरलाल जी को शेव करते भी देखा है। वे स्टेशन रोड के पास धनराज बक्शी के यहाँ ठहरते थे। बिजली की-सी फुर्ती के साथ पंडित जी चला करते थे। उनके हर ऐक्शन में चेतना होती। अरे हाँ, अब वो दिव्य-कथा सुनो, जो हमारे मस्तिष्क में आज भी ज्यों-की-त्यों धरी है।

बालकनी में श्रीमती स्वरूपरानी जी का पलँग है। पंडित जी माँ से बातें कर रहे हैं। हम उस वक्त छज्जे पर खड़े थे। हमने देखा, श्रीमती बक्शी की कार आकर रुकी! उसमें से श्रीमती कमला नेहरू के भाई कैलाशनाथ कौल उतरे। वे अपनी बहन को लेकर आए थे। कमला नेहरू का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा

था। पर हमने देखा, उनके चेहरे पर दिव्यता थी। हमने घबराकर नेहरू जी से कहा, माता जी आई हैं। पंडित जी ने पूछा, कौन माता जी?

हमने शरमाते हुए कहा, आपकी बहू!

यह सुनकर पंडित जी कब उठकर गए, कब सीढ़ियाँ उतरे, कुछ पता न चला। हमने देखा, पंडित जी और कैलाशनाथ जी ने अपने हाथ कसकर पकड़े और उस दिव्य रथ पर बैठकर कमला जी ऊपर आईं! मुस्कराती हुई, जैसे कोई आलोक हो! आकर उन्होंने सास के पाँव छुए। सास के पास ही बैठ गईं।

यह दृश्य मैं कभी नहीं भूल सकता। कितनी ही बातें मानस पटल पर अंकित हैं। बचपन में हम अपनी दादी से जुड़े, उनकी बातें सुनते थे। उनकी एक सहेली थी, बेबे बुढ़िया। घंटों बतियाती रहती, हम सुनते रहते। दादी कहती, इसे बड़ा कनरस है। उनकी बातें बड़ी रहस्यमयी लगतीं। एक-एक तिलिस्मी दरवाजा खुलता चला जाता। उसमें पैठने का लालच होता। बड़ों के पास बैठने और उन्हें सुनने का जो शौक था, उसकी वजह से जो रंगीनियाँ देखीं, जो रस ग्रहण किया, उसने मेरे लेखक को बड़ी सहायता दी।

बचपन में कविताएँ रटने का बड़ा शौक था। आज भी कोई अच्छी कविता सुनता हूँ, तो रट लेता हूँ। बगल में रवि बाबू को पढ़ने का सुख पाया है। मेरे गद्य में इसीलिए कहीं-कहीं तुम्हें पद्य की झलक मिलेगी।

मैंने पूछा, आप रवि बाबू से भी मिले होंगे। कहने लगे—हाँ मिला हूँ। बहुत कुंठाग्रस्त था, जब उनके दर्शन किए। हमें शरत बाबू ने कहा था, रवि बाबू से तुम्हें हम मिलाएगा। काफी देर इंतजार में रहे, फिर खुद ही उनके दर्शन किए। बड़े भव्य पुरुष थे।

पंडित जी पान लगाने लगे। इतनी कुशलता और स्नेह से पान लपेट रहे थे कि देखते ही बनता था। पान खाकर मेरी तरफ मुखातिब हुए, तो थोड़ा विराम के बाद मैंने एक सवाल सोंच लिया था। मैंने पूछा, पंडित जी यह जो दूसरी औरत पुरुष को आकर्षित करती रही, इसके बारे में कुछ कहेंगे? खासतौर पर लेखकों, कलाकारों, शायरों की इस वि~थ में खूब बदनामी होती है।

नागर जी कहने लगे—शुरू में हिंदीवाला भाँग पीता था और उर्दूवाला दारू। कामजनित शौकों में भी ये आगे-ही-आगे था। अलग-अलग बाबू तो इस तरह तैयार हो गए, पर बबुआइन तैयार न हुई। महफिलों-पार्टियों में बाबू के साथ बबुआइन तो जाती न थी, जाती थी तवायफ। तवायफ रखने का रिवाज

जोरों पर हुआ था।

ये तवायफें भी कमाल होती थीं। एक रईसजादे तवायफ के चक्कर में आ गए। नई उम्र थी। नायिका का उनके बाप से संबंध था। उसने एक दिन देख लिया। तो कहा, जाइए साहबजादे, घर जाइए। ऐसा लिहाज भी इनमें होता था। जिसके घर बैठ गईं पूरी लगन से निबाहती थीं। प्रतिष्ठित गायिकाओं का पूरा आदर होता था।

स्कूल में हमारे एक साथी थे। उनके पिता ने एक तवायफ घर में रखी थी। उससे एक लड़का था। वो भी हमारे साथ स्कूल में पढ़ता था। हमने एक दिन देखा कि तवायफ का लड़का मौलवी के घर पानी पी लेता है। हमें तो भेदभाव पता न था। हमने अपने दोस्त से पूछ लिया—तुम्हारा भाई मौलवी के घर पानी कैसे पी लेता है? उसने कहा—यह हमारे पिता जी की तवायफ का लड़का है। उसके चेहरे पर जो भाव थे, वो हम भूल नहीं सकते। हमने देखा है, उनके घर में तवायफ की खूब खातिर होती थी। उसका घर अलग था, पर उनके ठाट निराले थे। घर की स्त्री तो खूँटे से बँधी गाय होती है। कहाँ जाएगी बिचारी। उन दिनों तवायफ रखना बड़ी प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। वक्त का मापदंड था वह। तवायफें भी खूब निबाहती थीं। पर कई ऐसी भी थीं, कि माल खत्म हुआ और बाबू को भगा दिया।

हमें याद है, एक सुंदर खत्तरी थे। उनका बाप बूढ़ा था। व्यवसाय बेटे को ही दे दिया था। बेटा किसी तवायफ के रंग में ऐसा रँग गया कि व्यवसाय धीरे-धीरे डूबने लगा। पैसे कम होने लगे। वे दिन-रात तवायफ के कोठे पड़े रहें। तवायफ ने कई बार भगाया, पर वे न माने। आखिर तवायफ ने अपने गुंडों से उनके मुँह पर तेज़ाब फिकवा दिया। वे हाय-हाय करते थे। उनकी हाय-हाय अब तक कानों में गूँजती है।

स्त्री-पुरुष के संबंध में इधर कुछ परिवर्तन हो रहा है। पर विवाह का साँचा टूट नहीं सकता। इसे सदियों ने मजबूत किया है। और फिर दोनों की गति भी यही है। अगर अनब्याही, तलाकशुदा या त्यागी गई स्त्री का समाज में कोई स्थान नहीं है, तो पुरुष का कहाँ है?

पुरुष तो अक्सर स्त्री को छोड़कर भाग जाता रहा, लेकिन 'इसकी स्त्री इसे छोड़कर चली गई है' यह सुनना भी कितना लज्जास्पद है।

हमारी पत्नी जब ब्याही आईं, तो बच्ची थीं। खाते-पीते घर में आई थीं।

पत्रिकाओं में घाटा हो रहा है या कैसे चलता है, यह सब वे कुछ न जानती थीं। पर मेरे विकास में वे सदा सहायक रहीं। दादा के महाजनी लेन-देन में लाखों डूब चुके थे। तभी हमने बंबई आने की सोची। पत्नी ने कहा, तुम जो ठीक समझो करो।

नागर जी कहने लगे—मैं सब स्त्रियों का आदर करता हूँ, पर अपनी स्त्री की तो नौकरी करता हूँ। वह मेरी बहुत अच्छी साथी है। फिर मुस्कराकर कहने लगे— तुम्हारे पति भी हमें बहुत अच्छे लगे।

मैंने कहा, बाबू जी, थोड़े लड़ाका हैं।

ठहाका लगाकर नागर जी बोले--अरे, लड़ाका होना बड़ा अच्छा गुण है। मैं तो जब तक अपनी सुपत्नी से लड़ता नहीं, खाना हजम नहीं होता। मेरी पुत्री जब ससुराल जाने लगी तब मैंने उसे आँगन में रोककर यही कहा था, रोज लड़ना ताकि लड़ाई कभी असली न हो। तुम्हें भी यही कहता हूँ। मेरी पत्नी पढ़ी-लिखी नहीं हैं, पर मेरा कागज खो जाए, तो वही ढूँढ़ सकती हैं। हम घर के पिछवाड़े में लिखते-पढ़ते हैं। पर उन्हें रसोई में बैठे-बैठे पता चल जाता है कि हमारा पान खत्म हो गया, या हमें चाय की तलब लगी होगी। 'तलब' कहकर नागर जी हँसे, फिर बोले—हाँ भाई, भाँग के लिए तो हम बदनाम हैं ही। अपनी भाँग वैसे हमी घोटते हैं, पर कभी आने में देर हो जाए, तो पत्नी घोट देती हैं। फिर उनके हाथ की छानी हुई भाँग की तरंग दूसरी ही होती है। खूब मन से तर माल डालती हैं।

मैंने पूछा—क्या आपकी किताबें भी पढ़ती हैं?

कहने लगे—कृपा करके कभी कुछ पढ़ लेती हैं। फिर कह देती हैं कि यह अच्छी थी, या यह समझ में नहीं आई। उनको हमारी खुशामद की जरूरत तो है नहीं। मैं लिख रहा होता हूँ, तो किसी को आने नहीं देतीं। मैं छेड़ता हूँ, भई टका तो तुम्हारे ही पास आएगा। अगर रचनात्मक मूड में कभी उलझन होती है, तो भी दोष उसे ही देता हूँ। उसे न दूँ, तो किसे दूँ? झगड़े के लिए पति-पत्नी के बीच कोई बात नहीं होती। बात हो, तो झगड़ा सच्चा हो जाता है।

मैंने कहा, पंडित जी, स्वतंत्रता संग्राम में स्त्री ने आदमी के कंधे-से-कंधा मिलाकर काम किया। इसके बावजूद वो गुलामी से नहीं उभरी, बल्कि मुझे तो लगता है ज्यादा गुलाम हो गई है।

नागर जी दुःखी होकर बोले—यह सही है। दहेज की समस्या भी सही है।

ज्यादा मुसीबत इसी से हुई है। पहले बहुत-सी जातें ऐसी भी होती थीं, जिनमें दहेज नहीं चलता था। आज तो सब में चल रहा है। जब सौदे की बात हो, तो स्त्री का मूल्य रहेगा? स्त्री व पुरुष के स्वाभिमान के बीच जो दीवार खड़ी हो गई है, उसमें भी स्त्री ही पिस रही है। तुमने मेरा 'अग्निगर्भा' उपन्यास तो पढ़ा ही होगा। उसमें ऐसी ही एक स्त्री की बात है।

एक बहुत ही पुरानी बात याद आ गई—नागर जी बोले—जब हम छोटे थे, तो अच्छी सद्ब्राह्मण परिवार की लड़कियाँ बंद ठेलों में आती-जाती थीं। ठेले परदेदार होते थे। पर कहीं-न-कहीं सूराख तो होता ही है। इसी सूराख से एक लड़की झाँकती रही, एक लड़का देखता रहा, तो प्रेम हो गया। प्रेम तो पर्दों में भी हो जाता है। यहाँ एक सूराख भी था। अब कुछ-न-कुछ खुराफात हुई। लड़की गर्भवती हो गई। जिस लड़के से गर्भ पाया, वह तो कन्नी काट गया। पंचायत बैठी तो लड़की और उसके परिवार को जाति से निकाल देने का फैसला हो गया। तभी विस्फोट हुआ। मजमें में से एक लड़का उठ खड़ा हुआ। उसने कहा, मैं इससे ब्याह करूँगा। सभा में सन्नाटा छा गया। तमाशबीन निराश हुए। इस घटना पर हमने कहानी लिखी थी— 'प्रायश्चित'। छपने भेजी, तो वो छपी ही नहीं। पर इस घटना ने हम पर बहुत असर किया। हमारे मन के भीतर चौबीस घंटा लहरें चलती रहती हैं। दिमाग खाली नहीं रहता। यह चक्की हमने बड़ी तपस्या से चलाई है। दिमाग में चरित्र पकते रहते हैं। विचार भी चलता रहता है। उपन्यास लिखते समय खोया, पान अधिक हो जाता है। हम सबको कह देते हैं—हम 'सौरी' में हैं।

अपनी गद्दी पर बैठकर नागर जी कह रहे थे—कई बार एक उपन्यास खत्म हो जाता है, तो खाली-से हो जाते हैं। सोचते हैं, अगला कैसे लिखेंगे। कई बार एक किताब में उलझ जाते हैं, फिर थककर कहते हैं, नहीं भई, अब न लिखूँगा। फिर चार-छह महीने बेकार रहूँ, अल्लम-गल्लम पढ़ लूँ। वो चक्की जो मस्तिष्क में चलती रहती है, परेशान करती है।

अब सुनो, सूरदास का किस्सा—हमारे भाई के यज्ञोपवीत में हमारी दादी अंधी हो गईं। यह अचानक ही हुआ। उनसे हमारा स्नेह बड़ा प्रगाढ़ था। इस घटना ने हम पर बड़ा असर किया। कभी-कभी गली में आँखें मींचकर चलता। दादी की व्यथा को भोगने का यत्न। उस व्यथा को कम करने की नाकारा कोशिश। फिर इतने बरसों बाद जब 'खंजन नयन' की चक्की चल रही थी, तो

दादी को सपने में देखा। बहुत आनंद हुआ। जब जागे, तब 'खंजन नयन' की सृष्टि हो चुकी थी। कहानी-उपन्यास लिखने के लिए घूमना जरूरी है। राजदरबार, वैश्या का घर, हाट, मंदिर, तीर्थस्थान, मेला—इसके अनुभव रचनाकार की रचना शक्ति को बढ़ाते हैं। जिस समाज का चित्रण करने के लिए प्रेरणा हुई हो, उसका चित्रण करने में चूको नहीं। अगर सही चित्रण न होगा तो कोई टोक भी सकता है। जहाँ तक हो सके, यथार्थ को भाँपो, फिर आगे कल्पना उँगली पकड़कर ले जाती है।

पुराना सामाजिक ढाँचा अब अर्थहीन हो चुका है। नए बदलते तेवरों के साथ-साथ लेखक को भी चलना चाहिए।

इतने दिनों से नागर जी से बातचीत हो रही थी। मैंने कहा— बाबू जी, मैं इतने दिन थोड़े ही बातचीत करती हूँ। जितने दिन आप यहाँ हैं, आपसे बातें सुनने का लालच होता है। खुश होकर नागर जी कहने लगे—इस बार बंबई आकर तुम दोनों से मिलने का फायदा हो गया।

मैं बड़े दिनों से भाँग की बात टाल रही थी। संकोच-सा होता था। पर आज पूछ ही लिया, ये भाँग आपको कैसे लग गई?

और भाँग? उसकी आदत तो पंडित विनोदशंकर व्यास ने लगाई। बड़ी अच्छी कहानी लिखते थे। पंद्रह बरस तक हम इतने बंधनों में रहे, फिर वाचा खुली, तो खूब खुली। हमारे नाना धत्त भँगेड़ी थे। औघड़ आदमी। हमको चुल्लू में देते। कभी हम छोटी कटोरी में पी जाते। फिर सो जाते। ताँबे में औटाकर पीने से भाँग जहर हो जाती है। बड़ी खुराक भी होती है। नाना ने कहा, ले बे, पी जा! ज़रा-सा आचमन कर लिया। हम दो दिन सोए रहे। हमारे छोटे नाना, नाना पर बहुत बिगड़े— ये आपने क्या किया? पर जैसे-तैसे उतर गई। हमारे ददिहाल में भाँग का चलन नहीं था। होली के दिन ठंडाई घुटती थी। उसमें थोड़ी भाँग रहती थी। हमारे पिता पान खाते थे। हमें पान-तंबाकू का कोई शौक न था, बस भाँग लग गई। उग्र जी भी धत्ती थे। बड़ा गोला छानकर सात गोले सुरों की तरह बनाकर कतार में रख लेते थे। व्यास जी भी तगड़ी भाँग पीते थे। पर अकेले कभी न पीते थे। मानमंदिर घाट के किनारे व्यास जी का मकान था। घाट पर एक पंडित जी नाव में भाँग तैयार करते थे। आधी घुटे तो आवाज दे देते थे। तब हम सभी नाव में चले जाते। गंगा के बीचों-बीच नाव खड़ी कर देते। व्यास जी छाननी के ऊपर गोला घुमाते।

छाननी पर कपड़ा बँधा होता। अब उस पर व्यास जी गोला घुमा रहे हैं। ऊपर से एक आदमी दूध व गंगाजल डाल रहा है।

मुनक्का, इलायची, बादाम-मिली भाँग का एक-एक गिलास सब चढ़ा जाते। गंगा के पार गए, नहाए, निपटे, हा-हा-हू-हू किया, कविता की। भाँग में मैं सोचता तो हूँ, पर लिखता नहीं। अगर लिखूँ, तो भाँग का नशा उतर जाता है। भीतर जो एक नशा है, वो बहुत बड़ा है। जब हम रेडियो में थे, तो गोली हमें पाँच बजे वहीं पहुँच जाती थी। साढ़े नौ बजे अगर ड्रामा है, तो नौ बजे ही नशा उतर जाता था। काम का नशा है, तो भाँग का नशा गायब! भाँग एक बार आठ दिन छोड़ दी। बस अलसाहट रहती है। भाँग से शाम को अच्छी हलकी लहर में उतर आते हैं। ताज़गी आ जाती है।

मैंने कहा—रेडियो के कुछ अनुभव सुनाइए।

नागर जी दुखी होकर बोले—काम तो हमारे मन का ही था, पर अढ़ाई बरस ही काटे। उन दिनों एडवायज़री बोर्ड में बड़े-बड़े साहित्यिक थे। भगवती बाबू, सुमित्रानंदन पंत, उदयशंकर भट्ट, पंडित नरेंद्र शर्मा जैसे विद्वान् थे। उन दिनों डायरेक्टर जनरल जगदीशचंद्र माथुर थे। हम ड्रामा प्रोड्यूसर हुए। हम ही सब करते थे। प्रोड्यूसरों की कांफ्रेंस में कहा गया कि स्क्रिप्ट लिखकर केंद्र निदेशक को दिखाइए। हमने कहा, यह क्लर्क का काम हम नहीं करेंगे। हम काफी बिदक गए। माथुर के कान में किसी ने फूँक दिया। वे कहने लगे, स्क्रिप्ट दिखाने में क्या हर्ज है? बस, हम और चिढ़ गए। उन्हें भी हमने कह दिया, हम क्लर्क का काम नहीं करेंगे। पी. एल. देशपांडे कहने लगे, क्लर्क भी आदमी है। हमने कहा, बाहर मोची बैठा है, वो भी आदमी है। क्या तुम वो काम कर सकते हो? बस त्यागपत्र दे दिया। माथुर साहब ने बाद में कहा—ठीक है, आप स्क्रिप्ट मत दिखाइए। इस्तीफा वापस ले लीजिए।

हमने कहा—नहीं, अब तो छूट गए। सारी उम्र कलम चलाते रहे। अब उसे कोई क्लर्क देखेगा कि नागर जी ने ठीक लिखा है या नहीं।

रेडियो की व्यवस्था अब बदल गई है। आज भी याद आता है तब रेडियो से सीधा प्रसारण होता था। कलाकार खूब मेहनत करते थे। हमने एक नाटक किया, उसका नाम 'गूँगी' था। हीरोइन गूँगी थी, पर दूसरों के डायलाग से उसकी पूरी तस्वीर सामने आ जाती थी। आज भी रेडियो अधिक सुना जाता है। टी. वी. हर किसी के पास तो है नहीं।

रेडियो का आकर्षण काफ़ी रहता है। एक घटना याद आ रही है। बेगम अख़्तर का लखनऊ रेडियो से गाना होनेवाला था। उसके पहले हमारा नाटक था। यह नाटक पाँच मिनट ज़्यादा हो रहा था। इससे कम होने से उसके मायने ही बदल जाते। जब बेगम अख़्तर आईं, नाटक आधा हो चुका था। इंतज़ाम के मुताबिक हमें इशारा हुआ कि वे आ गई हैं। हम प्रसारण से उठकर गए। बेगम को कहा—बेगम साहिबा, एक मुसीबत में फँस गया हूँ। हमें बड़ी तकलीफ हो रही है, पर क्या करें? अगर आप पाँच मिनट बाद अपना गाना शुरू करें, तो मुश्किल हल हो सकती है।

बेगम मुस्कुराकर बोलीं, ये आप क्या कह रहे हैं पंडित जी? आप जाइए, नाटक करवाइए। हम खुशी से पाँच मिनट बाद गाएँगे। हमें उनकी यह उदारता आज तक नहीं भूलती। क्या औरत थीं! अब देखा, यह बात वही औरत कर सकती है, जिसमें तमीज हो, लिहाजदारी हो। बेगम का सोने-मोती का पानदान होता था। हमने देखा है। एक बार हम लखनऊ से बंबई तक एक ही ट्रेन में आए। सारे रास्ते पान खिलाती रहीं। बहुत बड़ी गानेवाली थीं। और सुनो, सबसे मीठी तब लगती थीं, जब थोड़ी बेसुरी हो जाती थीं। अक्सर हारमोनियम पर गाती थीं। जब रेडियो से हारमोनियम बंद हुआ, तब उन्होंने तो कह दिया था, मैं तो नहीं गाऊँगी। सिर्फ उनके लिए हारमोनियम बजाने की इजाजत थी।

लता की आवाज सुनकर बड़ी खुशी होती है। बहुत अच्छी लड़की है। सुब्बुलक्ष्मी भी बड़ी सीधी-सादी स्त्री है। उनकी मीरा मैंने डब की थी। अब समय कितना बदल गया है।

मैंने पूछा—पंडित जी, कभी कोठे पर गाना सुनने गए हैं?

बोले—हाँ भाई जाते थे। एक बार बीवी ने नौकर को जासूसी पर लगा दिया। खूब झगड़ा हुआ। हमने नौकर को निकाल दिया। बस यही कर सकते थे। फिर हँसकर बोले—पद्मा, काजल की कोठरी में गया हूँ। थोड़ी कालिख लगी है, पर कपड़े और चेहरा मैला नहीं है। पहले जमाने के लोग तवायफों से तमीज सीखने जाते थे। अदब-कायदा, उठने-बैठने का सलीका, लिहाज-दारी—ये सब सिखाया जाता था।

पुरानी तवायफों में ऐसी औरतें भी थीं, जो सही रास्ता दिखा देती थी। बंबई में हमने सरदार अख़्तर देखी। घोड़बंदर पर शूटिंग हो रही थी। हो सकता है

हमने उनमें ज़रा ज्यादा दिलचस्पी दिखाई हो। हमसे बोलीं– पंडित जी, आपकी बीवी क्या खूबसूरत है? ये सुनकर हम पानी-पानी हो गए।

बंबई तो हम पिता के देहांत के बाद घूमने गए थे। उन दिनों बंबई में गाना लिखने प्रदीप आ चुके थे। हमारे एक कज़िन बंबई आ रहे थे। उनके संग हम भी आ गए। हीराबाग में हिंदी रत्न ग्रंथाकार सीधे जा पहुँचे। उन्होंने पास में एक जगह बतला दी। वहाँ चवन्नी में बिस्तर रख सकते थे। बहुत बड़ा कमरा था। प्रदीप उन दिनों विले-पार्ले में रहते थे। उनसे मिलने गए, तो वो सामान उठाकर घर ले आए। भाग्य व संयोग, उनके साथ एक दिन किशोर साहू की फ़िल्म की शूटिंग देखने गए। वहाँ एक साहित्य-प्रेमी थे द्वारकादास जग्गा। बहुत पैसेवाले मारवाड़ी। एक बार शूटिंग में डायलाग गलत बोला जा रहा था। हमने ठीक करवा दिया। उन्होंने कहा, पंडित जी, आप यहीं रह जाइए। उस समय जीविका की आवश्यकता थी। दोनों भाई अभी छोटे थे। हमने हामी भर दी। यह 1940 की बात है। तब आर्थिक चिंता से छूटने के लिए दो सौ रुपए की नौकरी कर ली। उस समय दो सौ बहुत होते थे। बंबई ने नई दृष्टि से जीवन दिया। सुख-दु:ख का अनुभव सिखाया।

तब फिल्म इंडस्ट्री में पढ़े-लिखे लोग ज्यादा न थे। पृथ्वीराज, जगदीश सेठी, जयराज आदि लोग ही पढ़े-लिखे थे। अधिकांश बेपढ़े थे। 'पंडति लकवा मुँशी शिकवा टाइप' लोग ज्यादा थे। यहाँ हम सात बरस रहे। उसके बाद मेरा भाई कैमरामैन हो गया तो उसने कहा–भाई, आपका दिल न लगे तो चले जाइए। पद्मा, हमारे भाई ऐसे कि दिन को रात कहूँ, तो रात कहें। भगवान मेरे जैसे भाई सबको दे। हमें आज भी याद है–दो अक्तूबर को गाँधी जयंती थी। 3 मई को हम बंबई से वापस लखनऊ चले गए।

यहाँ बंबई में, चौदह अगस्त की रात को मैं और नरेंद्र शर्मा रात-भर बंबई की सड़कों पर घूमते रहे थे। कालबा देवी, फोर्ट का इलाका, सब जगह दीवानों की तरह चक्कर लगाते रहे। ब्लैक आउट था। तभी मैंने सोच लिया, अब बालू पर लकीरें नहीं खींचूँगा। अब जाऊँगा। बस चला ही गया। पैसा आने से दो फायदे हुए–एक तो हमने अच्छी-अच्छी किताबें खरीदीं, दूसरा अविभाजित भारत का जमकर दौरा किया। पेशावर, कराची, लाहौर सब देखा। उससे हमारे जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। तब सोचते थे, बैठकर लिखेंगे और ऐसी जगह नहीं रहेंगे, जहाँ अपना वश न चले।...

पद्मा, हम लेखक की तरह जिए, इस बात का हमें बड़ा संतोष है। तुम से सच कहते हैं, भाँग पीते हैं, तो अकेले कभी नहीं पी। होली पर तो कइयों को पिलाते हैं। अब इसमें खर्च बड़ा होता है। हिंदी मुझे रोटी खिला देती है। भाँग मैं खुद पी लेता हूँ। जनता पार्टी के राज्य में जब नशाबंदी शुरू हुई, तब हमने खरीदनी बंद कर दी। इधर-उधर से उड़वा लेते रहे। हमने बालटियाँ भर-भर के भाँग पिलाई है यारों को। पिकनिक पर ले जाते थे। एक बार वहाँ सब माईडियरों ने भाँग पी, तो मुश्किल से उन्हें ट्रेन तक घसीटकर लाए। काम पड़ जाए, तो हमारी भाँग खट्ट से उतर जाती है। हमने किसी को कत्था चटाया, किसी को नींबू।

हमें बड़ी खुशी है कि हमने अपने सभी साथियों को भाँग चखा दी है। सिर्फ रामविलास शर्मा को नहीं पिला सका, इस बात का हमें बड़ा रंज है। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी को-उनके जन्मदिन पर भाँग पिला दी। बड़े शरीफ इंसान थे, मान गए। ज़रा-सी पी, पर पी ली। भगवतीचरण वर्मा का जन्मदिन मॉरिशस में पड़ा। वे वहाँ भारत की ओर से सरकारी मेहमान थे। मैं मॉरिशस का मेहमान था। बस, पकड़कर पिला दी। दिनकर जी यहाँ कई बार आ चुके हैं। एक बार उन्हें भी चखा दी थी। पंत जी पीने से आनाकानी करने लगे। मैंने कहा—बंधु, ऊपर जाऊँगा, तो शंकर जी पूछेंगे तुमने दुनिया में क्या किया, पंत को भाँग तक नहीं पिलाई? वे बोले—नहीं भाई, ये नहीं होगा। मैंने कहा—बंधु, ऊपर क्या मुँह दिखाऊँगा? तो कहने लगे—दे भई, थोड़ी-सी दे दे।

मास्को में हम और रजिंदरसिंह बेदी साथ-साथ थे। मैं पाँच बजे सवेरे उठकर पान पलटता था। फिर बेदी को फोन करके पूछता था—क्यों भई, तुम्हारी पगड़ी बँधवाने आऊँ? इस काम में घंटों भी लग सकते हैं। बेदी हँसकर कहते—हो गया भई, बाँध ली है। उन्हें भी हमने डटकर भाँग पिला दी। उसके फायदे भी बताए। भाँग के ज्यादा इस्तेमाल से लो ब्लडप्रेशर हो जाता है। एक बार डॉक्टर ने हमसे कहा तो हमने कह दिया—भई, हम ठहरे लेखक, हमारा कोई कैरेक्टर नीचे आता है कोई ऊपर जाता है। जहाँ वो जाता है, हमें भी संग-संग रखता है। हमारा ब्लडप्रेशर हाई तो होगा ही! उसे लो रखने के लिए ही भाँग पीते हैं। इससे खून का दौरा रुकता है। सकून-ही-सकून हो जाता है। फिर बोले, हम सबसे मिल लिए। इस बार बेदी से मुलाकात नहीं हुई। मैंने कहा—बाबू जी, मैं आपको ले जाऊँगी, ऐसा वादा मैंने इस्मत आपा से भी किया

हुआ था। हम तीनों ही एक दिन बेदी साहब के यहाँ चले गए। रास्ते में नागर जी ने फिर कहा, मुझे रामविलास शर्मा को भाँग न पिलाने का अब तक रंज है। आपा कहने लगीं—अरे, शर्मा जी !''' क्या खबसूरत इंसान हैं। मोती के दाँत, उजला-उजला, बेहद प्यारा लगता था। अब के देखा तो इतने दुबले हो गए हैं और बुढ़ा गए हैं ! देखकर बड़ा दु:ख हुआ। एकदम पिद्दी से बुढ़ऊ हो गए हैं। भाँग न पीने का यही नुकसान है !''' नागर जी झट-से बोले—आदमी जल्दी बुढ़ा जाता है !

आपा कहने लगीं—जाओ-जाओ, भाँग तो तुम मुझे भी नहीं चढ़वा सके। लखनऊ में तुम्हारे घर मैंने तीन गिलास पिए थे। मुझे तो नहीं चढ़ी तुम्हारी भाँग।

नागर जी हँसकर बोले—आपा, हमने उसमें भाँग डाली ही नहीं थी। वो तो निरा शर्बत था।

आपा कहने लगीं—जा, झूठ बोल रेया है। हमें तो नहीं चढ़ती भाँग, न ही हम बूढ़े हुए हैं। रामविलास शर्मा तुम्हारे साथ नहीं गए थे।

नागर जी बोले—नहीं, उनकी बीवी की तबियत बड़ी खराब थी।

आपा कहने लगीं—अये-हये, ये कमबख्त बीवियाँ बीमार क्यों हो जाती हैं ?

नागर जी कहने लगे—मैं बड़ा शुक्रगुजार हूँ, उन बीवियों का, जो अपने नामी शौहरों को दबाकर रखती हैं !''' यह बात बेदी साहब के घर हुई। बेदी साहब को कितने अरसे के बाद मैंने खुलकर हँसते देखा।

तीनों पुराने साहित्यिक मित्र थे। ऐसे बातें कर रहे थे, जैसे इतवार की छुट्टी के बाद तीन दोस्त सवेरे स्कूल में मिले हों।

एक और दिन था। नागर जी से मिलने के लिए जा रही थी, तो सारा रास्ता मैं यही सोचती रही—कितने सादे लोग हैं। मुँह से बातें करते हैं, आँखों से नहीं। मैंने सोचा, लेखिकाएँ तो आज भी बहुत ज्यादा नहीं हैं। पर इनके जमाने में तो और भी कम थीं। तब प्रादेशिक भाषाओं का सम्मान होता या नहीं ? सभी सवाल मैंने नागर जी से किए।

उन्होंने कहा—हर भाषा का सम्मान होना चाहिए। जब तक यह नहीं होगा, व्यक्तियों की आपसी फूट कम न होगी। अब तो महिलाएँ खूब लिख रही हैं। पहले महादेवी जी की समकक्ष श्रीमती तोरण देवी शुक्ल लल्ली हमें बताती रहीं कि जब उनकी मँगनी हुई, तो सगुरालवालों को पता चल गया कि वह

कविता लिखती हैं और छापे में इसका नाम आता है। छापे में नाम आना, माने बदनामी की बात है। लल्ली जी बताती रहीं कि हमारा तो भैया ब्याह ही रुक गया था। बाद में वे कवि-सम्मेलनों में भी आती थीं, तो ये बताकर हमें खूब हँसाती थीं।

1954 में नैनीताल से लौटते हुए भारत भूषण आए। कहने लगे, भारतेंदु पर नाटक लिखना है। हमें इलाहाबाद ले गए। महीने-डेढ़ महीने भर हम वहाँ रहे। युगावतार लिखा। नाटक की रिहर्सल होती, तो महादेवी जी चाय लेकर आतीं। कलाकारों की डर के मारे घिग्घी बँध जाती। हमने कहा—जिज्जी, आप मत आया करिए। आपके बड़प्पन के आगे कलाकार चुप हो जाते हैं। बोल ही नहीं सकते। देवी हँस पड़ीं। फिर किसी-किसी के हाथ चाय भिजवाती रहीं। उन्हें शक हुआ, हम कहीं उस दिन भाँग न चढ़ा लें। हमसे पंत जी कहने लगे—बंधु, गोला न चढ़ाइएगा, देवी घबरा रही हैं। हम खूब हँसे।

मैंने पूछा—बाबू जी, आप लेखन कैसे करते हैं? हमें तो पत्र भी लिखना होता है, तो कोना मिलने में समय लगता है।

कहने लगे—अब हम तुम्हें बता देते हैं। घर के पास गोमती के किनारे हमने एक घर लिया है, जिसे सौरी भवन कहा जा सकता है। लेखन के दिनों में हम सुबह से ही वहाँ चले जाते हैं। हमारी पत्नी या बहू को पता रहता है। बस वहीं लिखते हैं। लेखन तो ऐसी जगह हो जहाँ अपने पात्रों के अलावा और कोई न हो।

यह बात मैं उनसे कहते-कहते रह गई कि अगर कोई स्त्री इस तरह की माँग करे, तो घरवालों को कैसा लग सकता है या अकेली औरत कहीं कमरा लेकर कहानी लिखने बैठे, तो उस पर कितने उपन्यास लिखे जाएँगे। पर सरल हृदय नागर जी से मैंने ऐसा कुछ नहीं कहा।

आती बार मुझे याद आ रहा था। उस दिन बेदी साहब के घर रूस और अमरीका को लेकर कोई बहस हो रही थी। कोई गोले की भी चर्चा थी। नागर जी कह रहे थे, गोला भी पड़ सकता है। आपा भी कह रही थीं, चलो-चलो, अब हार रिया है, तो भाग रिया है। गोला पड़ेगा, भाँग का गोला पड़ेगा! बड़ा आया भँगेड़ी कहीं का! यह कहकर तीनों खूब जोर से हँस पड़े। बेदी साहब के कमरे की किताबें ज़रा-सी हिलीं। मुझे लगा जैसे एक बच्चे ने दूसरे के मुँह पर गुलाल मल दिया हो। इसी गुलाल में मैं कितनी देर भीगी रही।

पंडित रविशंकर

चैत-बैसाख के मीठे-मीठे दिनों की बात है। बनारस की मशहूर सुबह में दो सूरज निकले। एक अपने वक्त पर दूसरा थोड़ा पहिले। सवेरे की पावन बेला मानो रात-भर के मौन के बाद मुखर हो उठी। बाबा विश्वनाथ के मंदिर में टन-टन टन-टन घंटियाँ बजकर रात का मौन तोड़ गईं। गंगा में नहाकर लोग संस्कृत के श्लोकों से ललछौंही उषा को जगाने लगे–

हर-हर महादेव शम्भो!
काशी विश्वनाथ गंगे!

इस पवित्र वातावरण में मंदिर के पुजारी बाबा विश्वनाथ को गंगा जी में नहलाने ले जा रहे थे। सुबह में बेला, चमेली, जूही, अगरबत्ती व धूप की खुशबू लपटें मार रही थी। सामंती घरानों के आगे निंदियाए शहनाई नवाज़ सुबह के रागों से हवा को और ताज़ादम कर रहे थे। सारा माहौल सात्विक था। पंडित घराने की देवी तुल्य रत्नगर्भा की कोख से ऐसे ही वक्त एक सूरज ने जन्म लिया।

बड़े भाई खिलौना पाकर मुग्ध हो गए। माँ का ये सबसे छोटा बेटा, माँ का भक्त, दोस्त और कभी-कभी संरक्षक के रूप में बड़ा होने लगा। पिता विदेश में रहते थे। माँ और पिता का अजीब-सा घुटन-भरा रिश्ता बालक के नन्हें-नन्हें सपनों पर धुंध भरी छाँव करने लगा, जिसमें कुछ भी ठीक से न दिखाई देता था।

पिता प्रकांड पंडित थे। संस्कृत में विद्याभूषण होने पर उन्हें पंडित की उपाधि मिली थी। कलकत्ता में वकालत पास की थी। कई विदेशी भाषाएँ बोलते थे। संगीत में गहरी रुचि थी। उस वक्त के बनारस के मशहूर मिठाईलाल बीनकार से ध्रुपद सीखने के बाद संगीत के दूसरे उस्तादों से भी

तालीम हासिल की थी। ज़िंदगी को हर खूबसूरत रंग में डुबोकर देखने की साध ही उन्हें दो साल तक किसी संन्यासी के साथ आबू की एक गुफ़ा के भीतर ध्यान लगाकर रहने को प्रेरित कर गई। दो बरस किसी सिद्ध योगी की तरह ही बिताए। ज़िंदगी को देखने का कौतूहल था। नाम की इच्छा न थी।

कोटा में झालावाड़ के राजा के यहाँ शिक्षा मंत्री थे तो उनका पुस्तकालय पूरी दुनिया की पुस्तकों से भर दिया। ये पुस्तकालय सिर्फ़ बडौदा महाराज के पुस्तकालय से ही दूसरे नंबर पर था। पुस्तकों के जरिए ही बड़ौदा महाराज से भी प्रेम हुआ। इतने विद्वान् पिता का सीधी-सादी औरत से दिमाग़ी रिश्ता जुड़ना नामुमकिन था। जब पति-पत्नी के बीच रिश्ता अटकता हुआ चलता है, तब उनके बच्चों की ज़िदगी जिस अभाव में पनपती है उसे कोई दूसरा महसूस नहीं कर सकता। ऐसे बच्चों के भाग्य में बचपन नहीं होता, वो पैदा होते ही आँख-कान खुलने पर अपने-आप बड़े हो जाते हैं। पिता जैसे-जैसे झालावाड़ महाराज का पुस्तकालय भरते रहे, वैसे ही उनके ईर्ष्यालु दरबारी महाराजा के कान भरते रहे। किताबें लेने अक्सर विदेश जाते तो खज़ाने से मिली सारी रकम पुस्तकों पर ही खर्च होती। न कोई हिसाब देता, न लेता। पंडित जी तो महाराज के सखा थे, पर एक बार जब बहुत भर जाने पर उन्होंने घुमा-फिराकर हिसाब की बात शुरू की तो पंडित जी ने इस्तीफ़ा दे दिया। महाराज ने बहुत कहा, पर पंडित श्यामशंकर टस-से-मस न हुए। कहने लगे, एक बार विश्वास चला गया तो फिर लौटकर नहीं आता। आप हमें विदा कर दीजिए। बस, पिता जी लंदन चले गए। महाराजा ने दोस्ती निभाते हुए बड़े पुत्र उदयशंकर जी को विदेश पढ़ने के लिए भेज दिया। अब रह गई माँ और बाकी बच्चे।

माँ बंगाली थीं। नाना गाजीपुर जिले से बारह मील दूर नसरतपुर में दस बड़ें गाँत्रों के ज़मींदार थे। पहिले वाजिदअली शाह के दरबार में थे। शाह का पतन होने पर यहाँ आकर वस गए थे। नाना और उनके छोटे भाई दोनों अच्छे लठैत थे। माँ का जन्म सोने-चाँदी के थालोंवाले ज़माने में हुआ था। सामंती ठाठ में पलकर भी माँ स्वाभिमानी, पर विनय की पुतली थीं। झालावाड़ स्टेट में महारानियों की सखि, अपने घर की रानी थीं माँ। जब पिता माँ को बनारस में रखकर अपनी अंग्रेज औरत के साथ विलायत चले गए, तब माँ को झालावाड़ स्टेट से 200 रुपए महावार पेंशन मिलती थी। अच्छी गुजर-बसर हो रही थी। पर लोगों के कहने से पेंशन कम होती चली गई। हालात खराब होने लगे। माँ

के भरे हुए संदूकों में से कभी सोने की तारोंवाली असली ज़री की साड़ी, कभी कोई गहना, कभी कोई शाल-दुशाला या और कोई कीमती चीज़ गायब होने लगी।

छोटा बेटा फिनाइल की खुशबू सूँघन के लालच में ऐड़ियाँ उठा-उठाकर ट्रंक में झाँकता। झिलमिल करते कपड़े देखने का चाव माँ के आँसुओं की लड़ी में बह जाता। असली मखमल पर माँ यूँ हाथ फेरतीं जैसे अपने लंबे-लंबे बालों पर। हर इक्के-दुक्के महीने शाम के धुँधलके में हज़ारों की चीज़ कौड़ियों के मोल बिक जाती। ट्रंक खाली होते रहते।

छोटा रौब्बू सबका दुलारा था। पर भाई भूपेंद्र शंकर ही ऐसे थे जो उसे अपना सखा भी समझते थे। पर रौब्बू के 9 बरस के होते-होते वो प्लेग की चपेट में आ गए। रौब्बू एकदम अकेला हो गया। छत पर जहाँ बैठकर वो कविता लिखते थे, जहाँ भावुक होकर रो पड़ते थे, जहाँ भाइयों के ये ताने भी सुनते कि क्या लड़की की तरह रोता है, वो जगहें खाली और अकेली हो गईं। अकेले जंगले पर खड़े होते, उदास-से सामने की अट्टालिका की तरफ देखते। वहीं राजेंद्र शंकर, जिन्हें रौब्बू मेज़दा कहते थे, का एक दोस्त रहता था। सामने खिड़की से देखती औरतें कभी-कभी बुलवा भेजतीं। चाँदी या पत्थर के गिलास में दूध-मिठाई देतीं। रौब्बू को उनकी गोद में बैठना बड़ा अच्छा लगता। बाकी के भाई तो बचपन में राजकुमारों की तरह पले थे। रौब्बू का सामंती ठाठ-बाट देखने का ये पहिला मौका था।

माँ जब झालावाड़ स्टेट में थीं, तब वहाँ के जनानख़ाने की महफ़िलों में रानियों के साथ पर्दे के पीछे बैठकर बड़े-बड़े गायकों का गाना सुनती थीं। गौहर जान, छप्पनछुरी जैसी गायिकाओं की महफ़िलें अंदर जनानख़ाने में भी होती थीं। माँ को सुर का अच्छा ज्ञान था। अक्सर गा उठतीं—

कहाँ जीवनधन, वृंदावन, मन-प्राण
कहाँ मेरे हृदय के राजा!

इस गायन में लोरी, विरह-व्यथा, रुदन, त्यागे जाने की-सी पीड़ा, सुर-संगीत के साथ घुल-मिल जाती। रौब्बू की ज़िंदगी में यही पहिली संगीत-चेतना थी। अपना जेब-खर्च जोड़-जोड़ कर मेज़दा ने घर में सितार, तबला, इसराज सब रखा हुआ था। सूनी दोपहरियों में रौब्बू इनके तार छेड़ता, सुबह माँ जब रसोईघर में होतीं, तबले को छूकर देखता। उन दिनों माँ एक ही

सब्ज़ी बनाती थीं। कभी दाल, कभी साग, पर अमृत की तरह उसका स्वाद होता। मेज़दा के दोस्त खुशबू सूँघते हुए आते। आकर माँ से कहते—मासी माँ, आज हम यहीं खाएँगे। देखते-देखते भात का आखिरी चावल माँ के 'और लो', 'और लो' के इसरार में उन लोगों के पेट में चला जाता। माँ सबके जाने पर काँसे का लोटा गंगाजल से भरतीं, और गुड़ खाकर पी लेतीं। रौब्बू, जो उनका पल्लू थामे-थामे पीछे घूमता था, हैरानी से पूछता—माँ, तुम अपने लिए क्यूँ नहीं रखतीं। माँ अपनी सादा-सी साड़ी के लाल किनारे से उसका मुँह पोंछकर हल्के-से मुस्कुरा देतीं। मेज़दा के दोस्तों पर रौब्बू मन-ही-मन बहुत नाराज़ होता। उसे इस बात का भी बड़ा दुःख था कि इतनी-इतनी सुंदर साड़ियाँ माँ किसी को क्यूँ देती हैं, खुद क्यूँ नहीं पहिनतीं। बच्चा सोचता, शायद माँ पिता जी के आने पर पहिनेंगी। फिर पिता जी का इंतजार होता। पिता जी आए थे जब रौब्बू दो माह का था। फिर सिर्फ़ उनका नाम घर में, हवा में, खुशबू की तरह तैरता रहता। फिर सिर्फ़ उनका नाम होता जैसे चाँद का, सूरज का। रौब्बू उनके बारे में कई तरह की कल्पनाएँ करता। ऐसे होंगे, कैसे होंगे! आएँगे तो माँ अच्छी साड़ियाँ पहिनेंगी। तरह-तरह के पकवान पकेंगे। फिर अचानक अनदेखे, अनजाने बाप पर कितना ही गुस्सा आने लगता। सबके बाप तो उनके पास ही रहते हैं, हमारे ही पिता क्यूँ सात समंदर पार चले गए हैं। अगर वो होते तो माँ किसी महल में रहतीं, दुक्खी तेली के इस छोटे-से घर में नहीं।

ये बातें मानो अगले वक्तों की हैं। तो भी लगता है, जैसे अभी-अभी माँ उठकर रसोई में गई हों। छोटे बेटे ने कोने में रखी सितार की एक तार खींचकर देखा हो। दादा उदयशंकर भी विलायत में हैं। माँ रौब्बू को बताती रहती हैं। दादा से ज़्यादा पूर्णपुरुष कोई भी नहीं लगता।

आज माँ नहीं हैं। दादा नहीं हैं, अभावों के वो लम्हे भी नहीं हैं। पर जो संतोष, जो भरे-भरे दिन-रात तब थे वो अब कहाँ हैं। एकदम छोटे से एकदम बड़ा हो जाने पर भी बीच के वक्त का पुल काँपता रहता है। उसके आरपार आना-जाना कभी भी खत्म नहीं होता।

विदेशियों के हाथों में सितार पकड़ाकर अपने देश का ये सांस्कृतिक राजदूत पंडित रविशंकर तमाम दुनिया के संगीत-प्रेमियों के दिल की धड़कन हैं। 'उदयशंकर समारोह' के लिए संगीत तैयार हो रहा है। पुराने दोस्त और प्रशंसक श्री जोशीपुरा जी के बैठकखाने में सभा जुटी है।

स्व. राजेंद्र शंकर जी की नामी पत्नी लक्ष्मीशंकर हैं । पंडित जी के पट्टशिष्य विजय राघव राव हैं। शमीम अहमद हैं। दीपक चौधरी हैं। सितार पर थिरकती उँगलियाँ हवा को समेटकर संगीतमय कर रही हैं।

'आ ऽऽऽ आ ऽऽऽ आ'ऽऽ'... जैसे कहीं दूर से कोई आशिक अपनी माशूक को पुकारता है। इस आवाज़ में उसकी सारी वेदना, मजबूरी, लाचारी गूँज रही है। मैं देख रही हूँ धुन कैसे पैदा होती है। इस संगीत के ऊपर मुझे फिराक़ की लाइनें उभरती-सी लगती हैं–

हर साज़ से होती नहीं ये धुन पैदा
होता है बड़े जतन से ये गुन पैदा।
मीज़ाने नशातो गम में सदियों तुलकर
होता है हयात में तवाजुन पैदा।

पंडित रविशंकर के साथ-साथ सभी मानो सुई के नाके में से निकल रहे हैं। लक्ष्मीशंकर की आवाज़ उभरती है–'ऐ श्याम जाने न दूँगी'... सब टुकड़े बैठ चुके हैं। गाना बन चुका है। बाहर तेज़ बारिश हो रही है। मानो बूँद-बूँद मिन्नत कर रही हो–

'ऐ श्याम जाने न दूँगी...'

दूसरे दिन की रिहर्सल के दौरान भी बंबई की बारिश मुग्धा की तरह बरस रही है। जयदेव के श्लोक बड़ी सहजता से सितार की धुन में घुल-मिल गए हैं। बरसों पुरानी रामधुन को भी पंडित जी ने एक नया जामा पहना दिया है।

'रघुपति राघव राजा राम' नए सुर, नई उठान से नई सुबह की तरह तरोताज़ा हो उठा है। लक्ष्मीशंकर जी का साथ जोशीपुरा जी की बेटियाँ और नातिनें दे रही हैं। पंडित जी की उँगलियाँ सितार पर यूँ हौले-हौले कोमलता से फिर रही हैं जैसे ब्रह्म-मुहूर्त में छोटे बच्चे की उँगलियाँ थककर सोई माँ को जगाने के लि , उसके गालों पर घूमती हैं। जागे अथवा न जागे, इसी उलझन में आतुर भूखा बालक मानो माँ को जगा रहा है।

विजय राघव राव श्लोक पढ़ रहे हैं। संगीत के साथ-साथ कविता पर भी उनका अधिकार है। श्लोक पढ़ते हैं, उसका अर्थ बताते हैं। मानो यज्ञ-मंडप में श्लोक पढ़े जा रहे हों। अचानक पंडित जी को मुस्कराकर देखते हैं। अगर भगवा पहिन कर संस्कृत में भाषण देना शुरू करूँ तो? पंडित जी गंभीर होकर

कहते हैं, 'बहुत कमाओगे, धर्म से बड़ा कोई धंधा नहीं है!' तभी पंडित जी के साथ साए की तरह रहनेवाले श्री दुबे जी एक कपड़े में अच्छी तरह लिपटी सितार लिए दाखिल होते हैं। पंडित जी खुश होकर कह उठते हैं, 'तो हमारा दहेज आ गया!' दूबे जी कहते हैं, 'दो सूटकेस भी हैं। एक खुला हुआ है। रस्सी से बाँधकर रक्खा है!' इस पर खूब कहकहा लगता है। फिर वही शुरू हो जाता है–

नीर समीरे यमुरा तीरे
वसनि बने वनमाली।

बंकिम बाबू का 'आनंदमठ' याद आता है। बार-बार उस कानन और इस कानन में दिमाग़ आने-जाने लगता है। लक्ष्मीशंकर की मीठी-सी आवाज़ फिर वहीं ला पटकती है। यूँ लगता है, ये सारा आलम पृथ्वी से कई मीटर ऊँचा है। जहाँ न दिन है, न रात है, न शाम है, न दोपहर, सिर्फ़ हवा में तैरती खुशबू जैसा अहसास। अहसास जिसे महसूस तो किया जा सकता है, बयान नहीं किया जा सकता। सब चौकस हो जाने पर पंडित जी गुरु के चोले से एकदम साधारण शिष्य के चोले में आकर बारीकी से सुनना शुरू कर देते हैं। कमान अब विजय राघव राव के हाथ में है। सब स्तब्ध हैं। सिर्फ़ हवाओं में थिरकती धुन नाच रही है। मुहब्बत करनेवालों में जैसे मौन के क्षण सबसे मुखर होते हैं, ठीक वैसे ही। बीच में ऐलन के तस्वीरें खींचने की आवाज़ आती है। अपने बड़े-से कैमरे के साथ चारों कोनों से फोटो खींच रहा है।

ऐलन ज़े. कोज़लोस्की के दादा रूसी थे। नाना जर्मन। 1965 में पंडित जी सान फ्रांसिस्को में प्रोग्राम करने आए थे तो उन्हें सुनने का मौका मिला। गिटार प्रेमी ऐलन उनका मुरीद हो गया। तेरह बरस सिर्फ़ दूर से सुनता रहा। फिर उसका अमेरिकन दोस्त भारत आया तो उसके लिए सितार ले गया। ऐलन ने उस पर साधना शुरू की। सितार के स्वरों के साथ भारतीय दर्शन, योग, संस्कृति सबमें रुचि पैदा हुई। 1978 में एक स्लाइड-शो किया तो पार्श्व में पंडित जी का रिकार्ड बजाया। उसका दोस्त पंडित जी को जानता था, उसने वादा किया–इस शो में रवि जी को लेकर आऊँगा। रात को ऐलन ने ख्वाब देखा–पंडित जी आए हैं। दूसरे दिन सच ही वो आ गए। शो के बाद बोले, 'मैं तुम्हें कब से ढूँढ़ता था!' ऐलन का स्वप्न साकार हुआ। अब उदयशंकर फैस्टिवल में स्लाइड और फ़ोटोज़ सब उसी के हैं। सरल-सा ऐलन बताने

लगा—पाँच साल से रवि जी के साथ हूँ। दिन-प्रतिदिन इन पर भक्ति बढ़ती ही जाती है। रवि जी अपने सारे लोगों का बहुत ध्यान रखते हैं। कोई भी चीज़ उनकी नज़रों से बच नहीं सकती। शिष्यों से अपने संगीत के लिए राय भी लेते हैं, सहयोग भी। मेरा काम फ़िल्म व फोटोग्राफ़ी है। इनका वक्त बड़ा कीमती है। मैं कभी-कभी उनके पुत्र शुभेंदु से सितार सीखता हूँ। भारत अद्भुत देश है। यहाँ सुख और दु:ख गले मिलकर रहते हैं।

राजेंद्रशंकर जी की पत्नी श्रीमती लक्ष्मीशंकर रवि जी की भाभी हैं। अपने कुशल गायन से इन्होंने भी 'शंकर-परिवार' को काफ़ी ख्याति दिलवाई है। बचपन में माँ से संगीत का शौक लगा तो ग्यारह बरस की उम्र में उदयशंकर जी के ट्रुप में शामिल हो गईं। कहने लगीं, 'शुरू में हम सब नृत्य करते थे।' 1942 में भारत-भ्रमण किया। अल्मोड़ा में जो 'इंडिया कल्चरल सेंटर' था वहाँ 8 महीने प्रोग्राम तैयार होते थे। बाकी चार महीने भारत व विदेशों में शो होते। ज़रूरत होती तो गा भी लेते। इस केंद्र में एस.एस. बोडास, दिलीपकुमार राय जैसे संगीत के ज्ञाता भी आते थे। उन्होंने ही मुझसे कहा था, आप गाइए। उसमें आपकी प्रतिभा चमकेगी। उस जिंदगी से बड़ा प्यार था। तभी इनके मेज़दा से शादी भी हो गई। तब रवि जी दुबले-पतले से 12 बरस के लड़के थे। बहुत चार्मिंग, सबके चहेते रौब्बू। नंबरी शैतान। एक बैले के अंत में, सब कलाकारों को मिलकर ऊधम करना था। दादा ने कहा था, कुछ भी बोलना। ये खुद तो गंभीर रहते लेकिन शोर में कहते—'मसाला दोसा, भेलपुरी, आलू छोले...' हम सबको हँसी आती तो दादा से डाँट हमें पड़ती है। ये बेनियाज़ हो जाते। रवि जी को अच्छा खाना बहुत पसंद है। घी के पराठे, गुड़ के साथ या भारतीय व्यंजन। 1965 से एक ट्रुप लेकर अमेरिका गए थे। बाप रे! सबकी चिंता—इसने खाया कि नहीं, वो सोया कि नहीं, कोई बीमार हो तो डॉक्टर, दवाई सब हाजिर! किसका कमरा ठीक है, किसका नहीं; धोबी से कपड़े आए कि नहीं, हर बात का खयाल रहता है। पैसा लुटाने में तो राजा हैं।

मैंने लक्ष्मीशंकर जी से पूछा, 'आप तो इनकी भाभी हैं। ज़रा अपने देवर की महिला-मित्रों के बारे में बताइए न!' लक्ष्मी जी हँसी। बोलीं, 'बाप रे! रवि जी की दीवानी औरतों की गिनती कहाँ है। बहुत चक्कर चले। इनको भी अच्छा ही लगता है। हर तरह की औरतें मित्र रहीं, पर लंबी औरतें पंडित जी की कमज़ोरी हैं। मेरी बहिन कमला तो तेइस बरस साथ रही। रवि जी बड़े नर्म स्वभाव के

हैं। हमने कभी उन्हें किसी औरत पर गुस्सा होते या उसे बुरा-भला कहते नहीं देखा। हमारे परिवार के सभी बच्चों को उनसे भरपूर प्यार मिला। हाँ, कभी तबलेवाला मंच पर तंग करे तो उसकी शामत आ जाती है। वैसे किसी को कुछ नहीं कहते। फिर संगीत के लिए पूर्णतया समर्पित व्यक्ति हैं। सारा ध्यान उसी पर रहता है। जब नृत्य करते थे, तब पूरा ध्यान उसमें रहता था। मैंने कहा—नृत्य की वजह से ही तो पंडित जी की अदा अब तक बाँकी है! लक्ष्मी जी खूब ज़ोर से हँसीं। कहने लगीं—अपने दादा से ये खूब डरते थे। उनके साथ इनका रिश्ता बाप-बेटे जैसा था। पर मैं सदा इनकी भाभी ही रही। इसीलिए इनकी सभी महिला-मित्र मेरी घनिष्ठ सहेलियाँ बन जाती थीं। मैंने पूछा—क्या कोई पहिचान आपकी वजह से भी हुई? हँसकर बोलीं—नहीं, उसका मौका रवि जी ने हमें कभी नहीं दिया।

पंडित जी के अगरबत्ती के धुएँ में महकते कमरे में आकर जैसे बाहर का सारा शोर शांत हो गया था। कुर्सी उठाकर उन्होंने अपने आसन के सामने रक्खी, तो मैं संकोच से भर उठी। मैंने कहा, 'नीचे बैठूँगी।' बोले, 'नहीं यहाँ बैठिए।' पंडित जी के बारे में इतना कुछ जान लेने पर भी यह समझ पाना मुश्किल था कि इनसे क्या पूछूँ। फिर खयाल आया उनकी माँ का। इनकी पूजा में उनकी भी तस्वीर थी। मैंने पूछ ही लिया, 'माँ के बारे में क्या याद है?'

बोले—'माँ, आहा माँ! बड़ी सीधी-सादी महिला थीं। मैंने उनके सब उदास लम्हे उनके साथ जिए हैं। आप यकीन नहीं करेंगी। अढ़ाई-साल की उम्र से मुझे सब याद है। माँ और पिता जी अजनबियों की तरह मिलते थे। बस बच्चे होने थे सो हो गए। शारीरिक-मिलन रूह की तस्कीन तो नहीं होता। माँ की जिंदगी, हमेशा खाली-खाली रही। उनका और पिता जी का रिश्ता न टूटा, न जुड़ा। इस टूटन से सबसे ज़्यादा प्रभावित मैं ही हुआ।...

...पिता जी ने वकालत तो कलकत्ता से की थी। फिर लंदन से बार-एट लॉ भी हुए। उसके बाद मैडिकल-सायन्स में डाक्टरेट की। तब वो पचास वर्ष के रहे होंगे। उसके बाद जनेवा में लीग ऑफ नेशन में रहे। पढ़ने-लिखने का शौक़ दीवानेपन की हद तक था! माँ तो थोड़ी-सी बंगला ही पढ़ी थीं। पिता जी की तरह दादा (उदयशंकर) ने भी करोड़ों रुपए कमाए, पर सब गँवा दिए। पिता जी को मैंने देखा, तब मैं 8 बरस का था। उनकी अंग्रेज पत्नी मर गई थीं। पिता जी देखने में बिलकुल अंग्रेज़ लगते थे। उनसे आती विदेशी सैंट और

शेविंग लोशन की महक, टाई, सूट, ठाठ-बाट देखकर मैं दंग रह गया था। बड़ा गर्व भी होता—ये मेरे पिता हैं! पिता ज्योति-पुंज-से लगते। उनके साथ दो औरतें भी थीं। एक अंग्रेज़ पत्नी की कज़िन और दूसरी एक डच लेडी मैडम हैनरी। बनारस के नामी होटेल 'द पैरी' में ठहरे थे वो सब। कभी-कभी घर पर मिलने आते। कभी हम होटेल में जाते। उनके बदन से आती महक से मैं अभिभूत हो उठता। पर उनकी डच मैडम ज़रा अच्छी न लगतीं। उनका मास्टरनी जैसा व्यवहार बड़ा ख़राब लगता। पर पिता जी बड़ी बहुमूल्य चीज़ थे, उनके लिए सभी कुछ सुन-सह लेते। तब पिता जी सात-आठ रोज़ रहकर चले गए थे। 1930 के बाद फिर कभी-कभी विदेश में मिलते रहे। हमारा मन उनके अनुशासन से काँपता रहता था। पर बाद में उनसे प्यार भी हो गया था। बड़े सुंदर-सुंदर पत्र लिखा करते थे। इतना सुंदर लेख मैंने किसी का नहीं देखा। 1932-33 में जब हम दादा के साथ पेरिस गए हुए थे तब एक बार उनका भाषण सुना था। जनेवा के एक चर्च में उन्होंने वेदांत पर भाषण दिया था। गाकर श्लोक सुनाए थे। उनकी आवाज़ से पूरे हॉल में गूँज पैदा हो गई थी। तब मैं बहुत छोटा था। मुझे रोमांच हो आया था और पिता जी पूर्णपुरुष लगे थे।

शून्य में देखते हुए पंडित जी थोड़ा-सा रुके और फिर उन्होंने वो घटना बताई जो उनके बचपन के लिए बहुत बड़ा धक्का था। उदास हो पंडित जी बोले—1935 में हमारे पिता जी अमेरिका से लौट रहे थे। हम सब बड़े खुश थे। जैसे इसी दिन के इंतज़ार में थे कि कभी-न-कभी वो घर ज़रूर लौटेंगे। माँ ने हमें बड़ी तकलीफ़ों से पाला था। अब पूरी गृहस्थी का सुख सब पाएँगे, ऐसे दिन आ रहे थे। घर में आनंद की एक लहर दौड़ गई थी। उन दिनों पिता जी कोलंबिया यूनिवर्सिटी में वेदांत पढ़ा रहे थे। भारत में उनके लिए बड़ौदा के महाराज राव गायकवाड़ ने दीवान के पद की ऑफर दी थी। दूसरी आफर अटार्नी जर्नल के पद की थी। छह-सात हज़ार तनख्वाह थी। पर 'अपने मन कछु और है कर्ता के मन और।' भारत आते समय लंदन में उन्होंने प्रिवी कौन्सिल का एक केस ले लिया। ये उस वक्त का बहुचर्चित पाकुड़ भाइयों का केस था। पिता जी उस भाई का पक्ष लेकर लड़ रहे थे, जिसके साथ ज्यादती हुई थी। पिता जी की हियरिंग काफ़ी तगड़ी और ज़ोरदार चल रही थी। इसके काफ़ी चर्चे थे कि वो केस जीत जाएँगे। इसके पहिले जिस-जिसने भी ये केस लिया था उनकी हत्या हो चुकी थी। उन दिनों हम अपने आनेवाले दिनों के सपने बुन रहे थे।

हम सब सिंगापुर में थे। दादा क ट्रूप का लंबा-चौड़ा प्रोग्राम था। तभी उनकी मृत्यु की सूचना आई थी। हम सबके बनाए स्वपनिल महल चकनाचूर होकर गिर चुके थे। हमारा टूटा घर बनने से पहिले ही गिर गया था। हमने जो कहानी सुनी वो यूँ थी–

पिता जी एक दिन सवेरे होटेल से निकले। सड़क पर धुंध थी कि उसी पर किसी ने उन्हें मार डाला। पुलिस का आदमी आसपास घूम रहा था। वो झट वहाँ पहुँचा। पिता जी, जो हमेशा विदेशी भाषा बोलते थे, मृत्यु को क़रीब देखकर शायद बंगला में कुछ बोले। पुलिसमैन कुछ न समझ सका। उनका शव भारतीय राजदूत ने पहचान लिया–अरे, ये तो श्यामशंकर हैं! नहीं तो शायद हमें पता भी न चलता कि लंदन के किस कोने में हमारे पिता खो गए। इस बात का दुःख आज तक सालता है। हम जानते हैं, कोई हमारा दुश्मन था, पर कौन, ये नहीं जानते। जान पाते तो ज़रूर बदला लेते।...

...माँ के सात लड़के हुए थे। दो मर गए थे। पर पिता जी की मृत्यु की खबर से माँ एकदम टूट गईं। दादा का भरोसा था। दादा भी पिता जी की तरह क़ाबिल थे। पेरिस में 'रॉयल कॉलेज ऑफ आर्ट' में उन्होंने पाँच साल का कोर्स तीन बरस में ही पूरा करके सबको आश्चर्यचकित कर दिया था। उन्हें गोल्ड मैडल भी मिला था। दादा सीखे तो पेंटिंग, पर नाम हुआ नृत्य में। 1924 में मेरे पिता जी लंदन में एक भारतीय बैले कर रहे थे। वहीं उन्होंने इसकी कोरियोग्राफी करने के लिए दादा से कहा। दादा 10 साल से विदेश में रह रहे थे। पर बचपन में झालावाड़ रियासत में देखे लोकनृत्य और दूसरे नृत्य उनके दिमाग में अक्स थे। यहीं रूस की मशहूर बैलेरीना अन्ना पेवलोवा भी ये बैले देखने आई थीं। देखकर मुग्ध हो उठीं। उन्होंने पूछा–ये लड़का कौन है। दादा के गुरु सर विलियम्स रोदेनस्टाइन ने गर्वपूर्वक कहा–ये मेरा शिष्य है। अन्ना के पास बेशुमार दौलत थी। दादा के पास कलाकार का मन। अन्ना ने कहा–मैं भारतीय विषय लेकर दो बैले करना चाहती हूँ, क्या मेरी मदद करोगे? दादा की आँखों के आगे बचपन में देखे नृत्य सजीव हो उठे–भील-नृत्य, कत्थक, भरतनाट्यम और झालावाड़ रियासत में ही हाथी दाँत पर नाचती गोगीबाई सामने थिरकने लगी। अपनी ननसाल में भी उन्होंने कई लोकनृत्य देखे थे। दादा पर रीझी अन्ना उनके साथ भारत आकर सभी नृत्य देखने को लालायित हो उठी। भारत आकर उन्होंने ग्यारह महीने भारत-भ्रमण किया। ननसाल भी

गए। वहाँ एक चमार था मातादीन, जिसका नृत्य बचपन में दादा ने देखा था। तब वहाँ हर जाति का अलग नृत्य होता था और सबमें होड़ भी चलती थी। धोबियों, तेलियों, नाइयों के नृत्य बड़ मशहूर थे। चमार कमर मटकाकर गोल-गोल घूमकर एक समाँ बाँध देते थे। दादा को सब याद था। ननिहाल पहुँचकर उन्होंने मातादीन का पता लगाया। उसके घर गए और उसके पाँव पकड़ लिए। सब हैरान, स्तब्ध! ब्राह्मण का पुत्र चमार के पाँव छू रहा है!···

···आजकल हरिजनों पर अत्याचार की बातें होती हैं। उस वक्त जो अत्याचार होते थे, उनका जिक्र करना भी मुश्किल है। जब दादा ने मातादीन से कहा कि मातादीन, नाचो, तुम मेरे गुरु हो तो मातादीन रोने लग गया। अस्सी बरस का बूढ़ा जवान हो उठा। पूरा साजो-सामान करके वो ऐसे नाचा कि सब दंग रह गए। अन्ना हैरान! दादा ने भावावेश में मातादीन को गले लगा लिया। फिर उनके पाँव छुए। उसके बाद भारत-भर में कोली-नृत्य, भील-नृत्य, मणिपुरी-नृत्य–सब देखे। और हमारा काफ़िला तैयार हुआ। मैं पहली बार बनारस से बाहर निकला था। तीन-चार गाड़ियों में सब लोग थे। मुझे बड़ा रोमांच हो रहा था। मुझे अब भी सब वैसा ही याद है। उसके बाद दादा अजंता-ऐलोरा भी गए थे।···

तभी कमरे में जोशीपुरा जी की सुंदर नातिनियाँ गुजराती साड़ी, घाघरा-चोली में सजकर पंडित जी को प्रणाम करने आईं। ये सब ऐलन की फोटोग्राफ़ी के लिए भारतीय परिधानों में सजकर खड़ी थीं। पंडित जी हँसकर बोले, 'ओ, बहुत सुंदर, बुढ़ापे में हमारा यूँ-यूँ हो रहा है!' सब लोग हँसने लगे।

सबके बाहर जाते ही मौका पाकर मैंने कहा–पंडित जी, सबसे पहले कब आपको कोई लड़की सुंदर लगी, कुछ याद है? बोले–बाप रे! आप तो सब पूछ लेना चाहती हैं। जब हम बनारस में थे। मेज़दा का एक क्लब था। वहाँ नाटक होते, वाद्यों पर रवींद्र संगीत होता। फ़िल्मी गानों की धुनें भी बिठाई जातीं। मेज़दा के कई दोस्त घर में आते थे। एक थे सोतू दा। एक बार मैं उनके साथ नाटक देखने गया। मंच पर बेहद सुंदर नायिका थी। बस, देखा और दिल हार बैठे। तब कोई सात-आठ बरस की उम्र थी। जी मचल गया। उसका रोल भी कमाल का था। मैं तो देखकर मर गया। अचानक मुँह से निकला–सोतू दा, कितनी सुंदर लड़की।···मध्यांतर में सोतू दा कहने लगे–चल, तुझे उससे मिलवाएँ। धड़कते दिल से मैं अंदर गया। जिंदगी में पहिले बार इस तरह

मर-मिटने का जज़्बा पैदा हुआ था। क़दम-क़दम बोझिल हो रहा था। चल पाना भी मुश्किल था। ग्रीन रूम में पहुँचे तो सोतू दा ठिठके। वहाँ साड़ी जाँघों तक उठाकर सिर के बाल बगल में रखे एक लड़का बीड़ी पी रहा था! टाँगों पर भद्दे बाल थे। साड़ी वही हरे रंग की थी, जो हमारी जानलेवा ने पहिन रखी थी। मैं अपलक देखे जा रहा था। तभी सोतू दा बोले—'देखो रौब्बू, ये है तुम्हारी माशूक, शादी करोगे इससे?' मैं घृणा से बाहर भागा। कहकहे मेरा पीछा कर रहे थे। स्वप्न, भंग हो चुका था। ऐसा भयंकर रूप! राम-राम!

मैंने पूछा—पंडित जी, बरसों पहले मैं और मेरे पति आपसे मिलने गए थे, तो आपने भद्रवाह की एक सुंदर औरत की हसीन आँखों का जिक्र किया था। याद है आपको? पंडित जी हँसकर बोले—ओह, आपको तो देख रहा हूँ, खूब याद है। वो औरत काश्मीर में देखी थी। भद्रवाह की औरतें बड़ी सुंदर होती हैं और सुंदरता की तरफ हमारा ध्यान बराबर रहता है। हमारे बनारस वाले घर के सामने जो औरतें रहती थीं, वो भी बड़ी सुंदर थीं। उनकी बड़ी-सी पिकाड़-गाड़ी, उनकी घोड़ा-गाड़ी को मैं छत से देखा करता था। छत पर पतंग उड़ाने के बहाने उन्हें देखा करता था वो लोग घर पर बुलातीं। मैदा की लूची, शरबत, पत्थर या चाँदी के बर्तनों में खिलातीं, बड़ा अच्छा लगता था। पर जिंदगी में पहली दोस्त मेरी माँ ही रहीं। बचपन का कितना कुछ तो याद आता है। बनारस में दो मील दूर दुर्गा का मंदिर था। दशहरे के दिनों में वहाँ पूजा होती थी। सुबह-सवेरे चार बजे उठकर सब तैयार होकर जाते थे। हमें कोई-न-कोई कंधे पर उठाए घूमता रहता। लोग अवधी, बंगला, मैथिली में भजन गाते हुए चलते। भाषा पूरी समझ में न आती तो भी बड़ा आनंद मिलता। देवी-देवताओं के प्रति मन श्रद्धा से भर जाता। मुझे अपने हिंदू होने पर बड़ा गर्व है। हमारा धर्म विशाल समुद्र की तरह है; जिसमें सबकुछ समुद्रमय हो जाता है। जब पहली बार मुझे स्लेट और पेंसिल दिए गए थे तब मैंने पेंसिल से भगवान की कितनी ही मूर्तियाँ बनाई थीं। कृष्ण, हनुमान, शंकर, दुर्गा, सरस्वती। उन दिनों मुझे बनारस के घाटों पर डूबता सूरज देखना बहुत अच्छा लगता था। श्मशान घाट पर मुर्दे जलते रहते, गंगा जी में लोग स्नान करते रहते। जीवन और मृत्यु दोनों ही इन घाटों पर साकार खड़े रहते। मैं बैठा ताकता रहता, हैरान होकर, तभी घर का कोई भी आकर मुझे जबरदस्ती उठाकर ले जाता! कितने अच्छे दिन थे। अब तो आसमान देखने का वक्त भी

नहीं मिलता।

मैंने पूछा–पंडित जी पेंटिंग, डांस, ड्रामा और फिर ये आपकी प्रेयसी सितार। यहाँ तक कैसे पहुँचे आप? कहने लगे–हाँ, जब दादा नृत्य के बारे में जानकारी हासिल करने के लिए भारत-भ्रमण कर रहे थे, तभी उनके मन में ये विचार आया था कि भारत की ये अनमोल संपत्ति विदेशों में भी दिखाई जानी चाहिए। बनारस में आकर उन्होंने अपनी योजना के बारे में बताया। तब राजेंद्र दा, देवेंद्र दा, हमारी एक सुंदर चचेरी बहन, तिमिर बरन बगैरा साथ आ मिले। मुझे आज भी याद है। हम विदेश जाने से पहले बंबई में बोरी-बंदर के सामने एक होटेल में आकर ठहरे थे। मुझे लगता था, मेरी दुनिया ही बदल गई है। दादा मुझे देवपुत्र-से लगते। तब बंबई आज की खटारा बंबई न थी। सुंदर, साफ, शांत। जिस बोट में हम विदेश गए थे, उसका नाम एस.एस. ग्रेडिज़ था। समंदर की वजह से मुझे उ टी हुई थी। 14 दिन लगे थे, हमें वेनिस पहुँचने में। वहाँ से फिर ट्रेन में पेरिस गए थे।

पेरिस के स्कूल में मैं पढ़ने गया था। वहाँ लड़के शैतान थे। मैं अक्सर लड़कियों के पास बना रहता था। नरम, नाजुक लड़कियाँ बड़ी अच्छी लगती थीं। जब माँ वापस आ गईं तो मैं वहाँ गुम-गुम-सा रहता। सबसे छोटा था मैं। हर तरह के साज पर हाथ चलाता। वहीं मैंने सब क्लासिक पढ़े। दादा की मूर्तिकला की किताबें पढ़ीं। वहीं टैगोर, बंकिम, शरद पढ़े। वहीं रामायण, महाभारत भी पढ़ा। शाकुंतलम पढ़ा। रसिक-प्रसंग बार-बार पढ़ता। दादा के पास संगीतज्ञ, नृत्यकार बड़े-बड़े कलाकार आते। उनकी बातें सुनता रहता। वहीं मैंने यहूदी मैन्युइन को भी देखा था। तब वो निक्कर पहिनते थे। 1932 में मैंने शिकागो की मिशिगान लेक पहिली बार देखी। लेक जमी हुई थी। उस पर लोग स्केटिंग कर रहे थे। आ-जा रहे थे। बेहद अचंभा लगा। दादा के ट्रूप में वासुदेव शीराली व तिमिर बरन सितार बजाते थे। उनकी उँगलियाँ तागे पर चलतीं तो मुझे नशा-सा हो जाता। मैं छोटा था। मेरी तरफ़ कोई ध्यान न देता था। दादा के मित्र शराब पीते, महिला-मित्रों के संग उठते-बैठते। मुझे इस माहौल से बड़ी नफरत होती। मैं विष्णु-पुराण, शिव-पुराण पढ़ने की कोशिश करता। श्रृंगार रस की बारिकियों को तोलता रहता। भाइयों के पास गंदे चित्रों की किताबें होतीं। चोरी-चोरी कुतुहलवश देखता रहता। उनके पास लड़कियाँ मिलने आतीं तो मुझे बड़ी ईर्ष्या होती। भारत से बंगला की जो भी

किताब आती उसे चाट जाता। बस उन दिनों ज़ो पढ़ा था वही अब तक चल रहा है। संस्कृत सीखने, पढ़ने को बड़ा मन होता है। ऐसी समृद्ध भाषा और कहीं नहीं है। संस्कृत सुनकर रोमांच हो जाता है। ट्रूप के साथ मैं भी जगह-जगह जाता था। अपनी संस्कृति व अपने देश से जुड़े रहने का साधन सिर्फ ये किताबें थीं।

पिता जी का देहांत 1935 में हुआ था। तब हमारा पेरिस में मकान था, जिसकी देखभाल माँ करती थीं। पर अब माँ वहाँ रहना न चाहती थीं। बनारस में उन्हें मकान ले दिया। उसके बाद हम सब विदेश जाने लगे तो एक महीना बंबई में रहे। माँ भी थीं। दादा की प्रार्थना पर बाबा अलाउद्दीन खाँ साहेब ने भी हमारा ट्रूप ज्वाइन कर लिया था। उनकी शर्त सिर्फ ये थी कि अपने इकलौते पुत्र अली अकबर को भी साथ ले जाएँगे। बाबा उन्हें सरोद सिखाते थे। न आने पर खूब मारते। शायद यही वजह थी कि अली अकबर साथ जाना न चाहते थे। पर उन्होंने हमारे मातुल मामा से कहकर बाबा को कहलवाया कि मैं माँ के बगैर न रह सकूँगा, मुझे वापिस मैहर भिजवा दीजिए। मामा के कहने पर बाबा मान गए और अली अकबर वापिस चले गए।...

...आखिरी दिन जब बोट पर चढ़ने लगे तो माँ उदास हो गईं। मैं उनसे कभी अलग न हुआ था। उनका सबसे छोटा बेटा होने पर उनका दुलारा था। मेरा मन भी घुट रहा था। माँ को लेकर अजीब-सा अविश्वास हो रहा था। बाबा ने माँ को देखकर कहा, 'अपनी तो रोतोन गर्भा।' माँ को जाने क्या हुआ, फूटकर रो पड़ीं। हमारा हाथ बाबा के हाथ में देकर बोलीं, "बाबा. इसे, अपने बाप का सुख तो न मिला, अब माँ से भी बिछड़ रहा है। ये बच्चा है। इसके सिर पर हाथ रखकर कहिए, आप इसको पुत्र-तुल्य समझेंगे। बाबा भी रो पड़े। उन्होंने कहा—मैं शपथ लेता हूँ, ये रौब्बू आज से मेरा बड़ा लड़का हुआ। सभी रोने लगे। मैं रोकर माँ से चिपक गया, उसे कसकर पकड़ लिया। जैसे छूट जाएगी। माँ भी मानो जानती थीं कि अब न मिलेंगी। सारा ट्रूप आँसुओं से भीगा था। मैं भारी मन से बोट पर चढ़ा। माँ को अंतिम बार वहीं सागर के किनारे देखा।

उस बार हमारा पैलेस्टाइन, मिश्र, बुलगारिया, रोमानिया, पेरिस, लंदन जाने का प्रोग्राम था। लंदन से सौ-डेढ़ सौ मील दूर डेबोनशायर के डार्टिंगन हॉल में कुछ दिन रहना हुआ। वहाँ पर श्री व श्रीमती एलमिरस्ट टैगोर से बड़े

प्रभावित थे। उन्होंने एक पहाड़ी पर उनकी कुटिया भी बनाई हुई थी। वहीं मैं बाबा से सितार सीखता था। इसके पहले मुझे कभी किसी ने तालीम न दी थी। सब अपने आपमें मग्न रहते थे। मुझे जो कहते, मैं कर लेता था। ये पहली बार था कि मैं विधिवत् तालीम ले रहा था। दादा के बैले की रिहर्सलें होती रहतीं, मैं रियाज करता रहता। बाबा ने मुझे जहाज़ पर ही तालीम देनी शुरू कर दी थी। बड़ा अच्छा लग रहा था। एक दिन मन में आया—बाबा को कोई भेंट देनी चाहिए। तेल-अबीब में मैंने एक लाइटर और पाइप व तंबाकू खरीदा। बाबा अक्सर पाइप के बारे में पूछा करते थे। पर लाइटर को देखकर भड़क उठे। बोले—जानते नहीं हम किसी से कुछ नहीं लेते। तुम हमें मुखाग्नि देने आए हो क्या ? मैं शर्म और दु:ख से गढ़ गया। फिर जिंदगी में कभी बाबा को कुछ देने के बारे में नहीं सोचा।...

...इसके बाद बाबा से प्यार का रिश्ता कायम हो गया। मैं उनका हर तरह से खयाल रखता। उनका इंटरपरेटर, उनका खाने-पीने का आर्डर देना, उनके रहने-सोने का प्रबंध करना। वो पोर्क और गोमांस नहीं खाते थे। कभी-कभी चिकन खा लेते। उन्हीं दिनों बाबा ने अपना महामंत्र मुझे दिया—

'एको साधै सब सधे सब साधै सब जाय!'

अब तक मैं हर साज़ को थोड़ा-थोड़ा बजाने लगा था। फिर सारा ध्यान सितार पर लगा दिया। 1938 में अल्मोड़ा के खूबसूरत पहाड़ों के दामन में दादा ने सेंटर कायम किया था। ये केंद्र पुराने आश्रमों की तरह था। इसमें कई बड़े-बड़े कलाकार शामिल हुए। दादा मेरे लिए देवपुत्र-से थे। वे नाचते तो लगता किताबों की, अजंता ऐलोरा की मूर्तियाँ सजीव होकर नाच उठी हैं। दादा के अलावा जिनसे मैं बहुत प्रभावित हुआ वो थे रवींद्रनाथ टैगोर। दादा के साथ ही एक बार उनके दर्शन भी किए थे। वो मेरे पिता जी को जानते थे। मेरे सिर पर हाथ रखकर बोले थे—अपने दादा, अपने पिता जी जैसा होना।

दादा से इजाज़त लेकर ही मैं बाबा के साथ मैहर गया। 1936 में जब माँ की मृत्यु हो गई और भारत आकर जब हम बनारस के घर में गए तो मन में यज्ञोपवीत का संस्कार पैदा हुआ। हो सकता है माँ चाहती रही हों। उस रस्म के फौरन बाद जब मैं घुटे सिर सादा-से कपड़े पहने मैहर में बाबा के घर जा खड़ा हुआ तो वो चकराए। पर प्रसन्न भी हुए। उन्हें पश्चिमी ठाठ बिलकुल नापसंद था। मुझे अपने बड़े बेटे की तरह ही रखा। अली अकबर मुझसे छोटे हैं। बाबा

के गुस्से की कहानियाँ सुनता और देखता तो सहम जाता। भय होता, पता नहीं कब उनका गुस्सा मुझ पर बरस जाए। बाबा के हाथ में जो चीज़ आती उसी से मारने दौड़ते थे। कभी-कभी सितार और तबले से ही मार बैठते थे। इसलिए उनके शिष्य जल्दी ही भाग जाते थे। एक बार मैं सितार से एक बोल न निकाल पा रहा था। बाबा को गुस्सा आया। उन्होंने मेरी कलाई मरोड़ दी और बोले—जाओ, चूड़ियाँ पहिनो! मुझे इतना दुख हुआ कि जाकर टिकट कटा लाया। सामान उठाने आया तो अली अकबर ने रोका। कहा, 'बाबा पशेमान हैं। चलो, घर चलो।' घर पर माँ ने कहा, 'अब तुम जा ही रहे हो तो क्या बाबा को प्रणाम न करोगे। मैं गया। बाबा तन्मय होकर मेरी तस्वीर फ्रेम में लगा रहे थे। मैंने प्रणाम किया तो बोले, 'बस, चूड़ियाँ पहिनने को कहा तो चलते बने। बंबई के समुद्र के तट पर जो तुम्हारी माँ ने मुझे कहा था वो भूल गए। तुम्हारी माँ मुझे सौंपकर गई हैं तुम्हें, ये बात मैं नहीं भूल सकता। जाओ, रियाज़ करो।' उसके बाद शायद मैं ही एक शिष्य था जिसे बाबा ने कभी तिनके से भी न छुआ। अगर मुझ पर गुस्सा आता था तो वहाँ से उठकर किसी और को मार आते थे। वहाँ की ज़िंदगी काफी मुश्किल थी। सवेरे चार बजे नहाकर रियाज़ शुरू कर देता था। हमेशा अच्छा बजाने की धुन रहती, ताकि बाबा को रिझा सकूँ। वहाँ एक ही शुगल था, कभी-कभी शाम को पहाड़ों की तरफ घूमने निकल जाता था। बाबा मुझे, पूर्णा को और अली अकबर को एक साथ ही सिखाते थे। घंटों हम बजाते रहते। समय का कोई बंधन न रहता। उस नीरवता, संगीत की उस अवधि में कोई रुकावट न आती, न ही उन क्षणों का मौन तोड़ने का कोई यत्न करता। जैसे स्वर्ग के किसी बादल पर तैरती हुई संगीत की लहरियाँ कमरे में गुनगुनाहट पैदा करती रहतीं। बस, मैं वहीं का हो गया।...

...दादा ने सोचा था, कुछ महीनों के बाद मैं वापिस आ जाऊँगा। शुरू में वे पैसे भेजते रहे। जब उन्हें पता चला कि मैं अब सितार ही का हो गया हूँ, तब उन्होंने आर्थिक सहायता बंद कर दी। जब अन्नपूर्णा से हमारा ब्याह हुआ तब बाबा ने अपने ही साथ रहने को कहा। ससुराल में रहना अच्छा न लगता था। तभी लखनऊ रेडियो से कुछ प्रोग्राम होने लगे। कुछ छोटी-मोटी महफिलों में भी बजाना शुरू कर दिया। थोड़ी आमदनी शुरू हुई। 1944 में मैंने मैहर छोड़ दिया। मेरा बेटा शुभेंदु तब तीन बरस का था। पत्नी और पुत्र के साथ मैं बंबई

आ गया। तब तक अल्मोड़ा का सेंटर बंद हो चुका था। वहाँ के कई कलाकारों ने इप्टा ज्वाइन कर ली थी। मुझे भी वहाँ से संगीत निर्देशक की हैसियत से बुलावा आया। मैंने मंजूर कर लिया। वहाँ पर हमने कई बैले किए, जिसमें पंडित नेहरू का 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' भी था। काफी चर्चा हो रही थी। पर जब ये सुना कि ये संस्था कम्युनिस्टों से पैसा लेती है तो नौकरी छोड़ दी। वो दिन बड़े मुश्किल थे। अल्मोड़ा से आए हुए सभी कलाकार मेज़दा और मुझ पर आश्रित थे। इसीलिए कई महफिलों में प्रोग्राम बड़े बेमन से करने पड़े। तब लोग, कलाकार जब मंच पर होता तो, शराब के प्याले, चुरुट, सिगरेट व गपशप में मशगूल रहते। बड़ा अपमानजनक लगता। धीरे-धीरे मैंने उनका विरोध करना शुरू किया। लोग मानने भी लगे। तो भी टूटन बढ़ती ही गई। एक दिन मैंने पुलिस और मेज़दा के नाम पत्र लिखकर रक्खे और सोचा कि आज इस जीवन का अंत कर दूँगा। तभी एक राजकुमार का संदेश मिला। वो शाम को सितार सुनना चाहते थे। फिर रियाज़ में जुट गया। रियाज़ कर ही रहा था तो एक व्यक्ति आया। कहने लगा—मेरे गुरु बाहर खड़े हैं, भीतर आना चाहते हैं। हमने उनका स्वागत किया। ये व्यक्ति टाट बाबा थे। सितार बजाते देखा तो सुनने बैठ गए। रियासत के राजकुमार को दिया समय उनकी भेंट खुद-ब-खुद चढ़ गया। वो ज्ञानी थे। उन्होंने मेरी जिंदगी की दिशा ही बदल दी। वो मुझे आत्महत्या से रोकने आए थे। उनके आने से मुझमें नई शक्ति का संचार हुआ। उन्हीं से मैंने गुरुमंत्र भी लिया। उसके बाद सफलता ने कदम चूमने शुरू कर दिए। टाट बाबा शरीर त्याग चुके हैं, तो भी मैं उन्हें अपने आसपास महसूस करता हूँ।

1949 में मैंने आकाशवाणी में संगीत निर्देशक की नौकरी शुरू की। लोक-गीत, लोक-धुनों और रागों पर आधारित वाद्यवृंद की कई रचनाएँ तैयार कीं। जहाँ ज़रूरत महसूस की, पश्चिमी वाद्यों का सहारा भी लिया। इस नई ज़िंदगी में नाम भी नया किया—पंडित रविशंकर।...राशि के मुताविक हमारा नाम नलिनशंकर रखा गया था। फिर रवींद्रशंकर हुआ पर दादा का ट्रूप छोड़ते ही इसे मैंने रविशंकर कर लिया।

मैंने पूछा—पंडित जी, आजकल तो बरसों से आप विदेशों में ही रह रहे हैं। संगीतकार की हैसियत से आप पहली बार कब विदेश गए?

पंडित जी कहने लगे—वैसे तो बचपन से ही विदेशों में रहे पर 1954 के अंत

में जब भारत द्वारा रूस भेजे गए सांस्कृतिक डेलीगेशन में गया तब खुशी और तरह की थी। अपनी कला के प्रदर्शन के लिए जाने में बड़ा गर्व भी होता था, प्रसन्नता भी। रूस में भी बड़ी सफलता मिली। वहाँ लोग कानाफूसी करते थे—पुश्किन है क्या? थोड़ा प्रचार इससे भी हुआ। ये कहकर पंडित जी हल्की-सी हँसी हँस पड़े। ज़ोर से पंडित जी बहुत कम हँसते हैं। हर वक्त उनके चेहरे से लगता है, कहीं जाने की जल्दी में हैं। दिमाग में कुछ और घूम रहा है। फिर मैंने फिल्मों के बारे में जानना चाहा। बोले—रेडियो में नौकरी करते हुए ही 'पाथेर पांचाली', 'काबुली वाला' में संगीत दे चुका था। फिल्मों में अब भी लालच होता है।...शुद्ध शास्त्रीय संगीत का रविशंकर अलग है और लोक-गीत, सुगम संगीत का अलग; तभी तो 'गाँधी', 'मीरा' और दूसरी फिल्मों में संगीत देकर भी कभी सिर्फ उसी ओर नहीं भागना चाहता। और फिर बलिदान की हुई ये तीन अँगुलियाँ, ये हमेशा अपनी ओर खींचती हैं। एक उँगली पर घाव हमेशा ताज़ा ही रहता है। उनकी एक उँगली में सितार की तार के अंदर तक धँसने का निशान था। थोड़ा मेहँदी का भी। मैंने पूछा—पंडित जी, सबसे अधिक समय आपने कब सितार बजाया? कहने लगे—रियाज़ में तो घंटों, दिन-भर भी चलता है, पर 1960 में जबलपुर में एक प्रोग्राम हुआ था। उसमें हमने साढ़े दस घंटे बजाया था। मैंने पूछा—कभी तबलेवाले को तंग करते हैं? 'नहीं, अपनी तरफ से तो नहीं'... पंडित जी तपाक से बोले, 'पर अगर वो होशियारी दिखाता है तो एकाध डोज़ पिला देते हैं। अब तो ज्यादा साथ अल्लारक्खा जी का ही होता है और वो तो निहायत सीधे और सादा दिल आदमी हैं। उनके साथ ऐसा कुछ करने की ज़रूरत नहीं होती और फिर इससे कलाकार एकाग्रचित नहीं हो पाता।'

मेरे ये पूछने पर कि विदेशों में कौन-कौन-से संगीतकार ने आपको मुतास्सिर किया? पंडित जी कहने लगे—यहूदी मैन्युयिन से तो बचपन में ही मिला था। पर 1951 में नारायण मेनन के यहाँ उनसे भेंट हुई। 1966 में पहली बार बाथ फेस्टिवल में उनके साथ बजाया। राग तिलंग में एक रचना मैंने तैयार की थी। तीन दिनों में ही उन्होंने वो भली प्रकार सीख ली। ये रचना बड़ी सराही गई। उनके अलावा फ्रांस के बाँसुरी-वादक जाँ पियेर रामपाल, कंडक्टर आंद्रे प्रेविन, ज़ुबिन मेहता तथा और भी कई। और भारत तो संगीत का समुद्र है। सभी से कुछ न कुछ पाया। डी.वी. पलूस्कर बड़े गुलाम अली खाँ और उस्ताद

अमीर खाँ। वो तो गवैयों में गवैए थे। उनका मारवा-मारवा सुनकर आदमी दूसरी ही दुनिया का हो जाता है। उनके सुरों की सुंदरता, स्टाइल की गंभीरता अपना सानी नहीं रखते।...

...हमारे सभी शिष्य हमें बड़े प्रिय हैं। पर एकदम सच्चे शिष्य हैं, विजय राघव राव। वो यूनीक हैं। संगीत के अलावा कविता भी करते हैं। पंडित आदमी हैं। हमारा शमीम, कार्तिक कुमार, विजय चौधरी और सब हमें अपना ही एक हिस्सा लगते हैं। विजय जी चूँकि मैच्योर हैं, वो हमारे दोस्त जैसे भी हैं, इशारे से बात समझ लेते हैं। रचनात्मक काम में बड़ा सहयोग देते हैं। पुराने वक्तों में गुरु लोग इस डर से भी कम सिखाते थे कि कहीं विद्या कुपात्र के हाथ न चली जाए। वैसे भी ये उनका रोज़गार था, विद्या घर पर ही रहे, इसका भी उन्हें बड़ा खयाल रहता था। तब के गुरु आलसी भी होते थे। हम तो चाहते हैं हमारे शिष्य जितना हमें आता है, सब लें।

मैंने कहा—पंडित जी, आपके शिष्य तो विदेशों में भी भरे पड़े हैं। विदेशी सड़कों पर सितार को गले लगाए, आपके जैसे दिखते, वैसा ही कुर्ता, वैसे ही बाल, वैसी ही अदा से घूमते आपके चेले सीख भी रहे हैं, सिखा भी रहे हैं। पंडित जी कहने लगे—उनकी अपनी मेहनत है। बड़ी लगन है उनमें। कला को पूर्णतया समर्पित लोग हैं।

...न्यूयार्क चर्च में 1976 में एक प्रोग्राम हुआ था। उसमें दस हज़ार लोग आए थे। जब 20 हज़ार हाथ भारत की कला की प्रशंसा में ताली बजाते हैं तो रोमांच हो उठता है। उन लोगों को ताली बजानी आती भी हैं। कभी-कभी सोचता हूँ हमारे यहाँ लोग ताली न ही बजाएँ तो अच्छा है। ये कहकर पंडित जी हँस पड़े। फिर कहने लगे—वहाँ के हमारे शिष्य भी हमें बहुत प्रिय हैं। तभी खाने का समय हो गया। पंडित जी कहने लगे—अब, कल बात करेंगे। तभी मैंने उनके शिष्य दीपक चौधरी को जा पकड़ा। दीपक बोले—पंडित जी से सीखना एक सपना था। जब सिखाने के लिए परीक्षा ली तो हमने कहा—बस, यही थोड़ा-सा आता है। अगर मुझमें प्रतिभा नहीं है, तो बता दीजिए, मैं बजाना छोड़ दूँगा। पंडित जी ने हाथ पकड़ लिया। बोले, मैं सिखाऊँगा। बस तब से बजा रहे हैं। विश्वास भी हो गया है। इनके साथ हर प्रोग्राम एक सस्पैंस होता है। नए-नए राग, नई धुनें। उनके व्यक्तित्व से भी आदमी बहुत कुछ सीखता है।

और उनके खुशमिज़ाज शिष्य शमीम अहमद कहते हैं–मैं तो उनका गुलाम हूँ। 1955 में रेडियो में स्पर्धा हुई। वहाँ मैं भी शामिल हुआ। गुरु जी ने देखा, सुना। शायद खुश ही हुए होंगे। मेरे वालिद उस्ताद गुलाम रसूल खाँ को घर बुलाया। मैं भी साथ था। पंडित चतुरलाल जी के साथ बिठा दिया। बस शागिर्द कर लिया। घंटों सिखाते, घंटों रागों के बारे में बताते। मैं आगरा घराना का हूँ। पंडित जी जैसे गुरु के लिए ही बाहर शागिर्दी की। वो तो ट्रेन में, टैक्सी में, चलते हुए भी कितनी बातें बता देते हैं। मैं उन्हें सिद्ध पुरुष कहता हूँ। जैसे फूल के नीचे मिट्टी रखिए तो उसमें भी खुशबू हो जाती है। इसी तरह उनके संपर्क में आनेवाले लोग संगीतमय हो जाते हैं। हम बचपन में उनके साथ रहे। उन्होंने कभी माँ-बाप की कमी नहीं लगने दी। उन्हें देखकर मेरे वजूद पर मेरा बचपन छा जाता हैं। पूना में एक बार प्रोग्राम कर रहा था। जम नहीं रहा था। मध्यांतर हुआ तो मैंने गुरु जी को याद किया और सितार उठा ली। बस, वाह-वाह हो गई। शमीम कहने लगे–उनकी उपस्थिति में सब चुप हो जाते हैं, पर मैं बोलता ही रहता हूँ।

विजयराघव राव तो जैसे पंडित जी का दाहिना हाथ हैं। बात भी उनके जैसी करें, हँसें भी वैसा ही नाप-तोलकर जैसे हवा और खुशबू एकजान हो गए हों।

पंडित जी पालथी मारकर अपने आसन पर आ बैठे थे। कई कहानियाँ बड़े लोगों के बारे में फैलती हैं। पर उनसे पूछना और ही बात है। कहानी और कहनी में अंतर तो है ही। मैंने भूमिका-सी बाँधी–पंडित जी, प्रेम बड़ी सुंदर चीज़ है। इसके बारे में बताने में लोग हिचकिचाते क्यूँ हैं। नफ़रत करना बुरी बात है, प्रेम करना नहीं। पर एक बात आपसे जानना चाहती हूँ कि पुरुष किसी भी नारी को, उसे चाहे या न चाहे, छू सकता है, उसे प्यार भी कर सकता है, पर स्त्री जब तक मन से किसी को नहीं चाहती, अपने आपको सौंपती नहीं। शायद इसीलिए वेश्यालय बने हैं। और कई तरह की ज़्यादतियाँ स्त्रियों के साथ इसी संदर्भ में होती भी हैं।

पंडित जी काफी सोच में थे। बोले–बहिन जी, हम कलाकार हैं। हमारे जीवन में एकाग्रता नहीं हो पाती। जैसे सेलर होते हैं, आज यहाँ कल वहाँ। पर ज़िंदगी में औरतों का प्रेम इतना मिला कि धन्यवाद के सिवा क्या कहूँ। मेरी ज़िंदगी में जितनी भी औरतें आईं, मैंने सबको सम्मान दिया, भरपूर इज़्ज़त दी।

अगर आप देखें तो कलाकार हमेशा अकेला ही रहता है। शायद अकेलेपन को भरने के लिए क्षणिक सुख भी उसे अच्छा लगता है। शराब ने हमें कभी अपनी ओर नहीं खींचा, पर ज़िंदगी के अकेले लम्हे हमने जरूर औरतों के ही साथ बिताए हैं। बहुत प्रेम किया, बहुत प्रेम पाया। लेकिन चंचल-धारा की तरह अकेले ही बहते रहे। उम्र बढ़ जाने पर भी तृष्णा कहाँ मरती है। मैं चौदह बरस का था जब सही मायने में एक औरत से संबंध हुआ। वो मुझसे उम्र में काफी बड़ी थी। पर उसने मुझे बहुत प्यार किया। शेखी मारनेवाले मर्दों से हमें बड़ी नफ़रत है। इतने सुंदर रिश्ते को हवा में नहीं उड़ाया जा सकता। हाँ, बग़ैर भावना के जब भी किसी स्त्री से रिश्ता क़ायम हुआ, हमें अच्छा नहीं लगा। आपके सवाल का उत्तर ये भी है कि पुरुष बायोलोजिकली ऐसा बना है कि वो सिर्फ भावना पर ही नहीं जी सकता। औरतें ऐसा कर सकती हैं। उनमें संयम अधिक है। संस्कार और मर्यादा से वो ज़्यादा जुड़ी हैं। फिर औरत को हमेशा गर्भवती होने का डर भी रहता है। समाज में पता चलने पर उसकी दुर्गति भी काफ़ी होती है।···

···पहले छोटी उम्र की लड़कियों से मर्द शादी किया करते थे। अब विदेशों में इसी का उलट हो रहा है। बूढ़ी औरतें जवान लड़कों के साथ घूमती हैं। आपने वुमेन-लिब के बारे में तो सुना ही होगा?

मैंने कहा—पंडित जी, सुना है। पर जिस मुल्क में पैदा होते ही लड़कियों का गला घोंट दिया जाता रहा, या दहेज के लिए जलाया जा रहा है वहाँ वुमेन-लिब क्या करेगी। हाँ, अपना हक़ औरतें माँगती हैं। वो भी जीने का हक़, अपनी संतान को बड़ा करने का हक़। कितनी औरतें सदियों से मर रही हैं, इसका हिसाब तो चित्रगुप्त के पास भी न होगा।

पंडित जी उदास हो गए। पास गद्दे पर उनकी सितार सो रही थी। उसके आसपास तकिए थे। मैंने बात बदलने के लिए कहा—पंडित जी, सितार को हमेशा ऐसे ही सुलाते हैं? कहने लगे—नहीं, कभी-कभी लेटे-लेटे थक जाती है तो दीवार के सहारे खड़ी कर देता हूँ। मैंने पूछा—उम्र-भर आप दोस्तों से घिरे रहे। अब भी आपके भक्तों की तादाद बढ़ती ही जाती है, पर क्या महिला-मित्रों में कोई कमी पाते हैं? मुस्कुराकर बोले—नहीं, कुछ अच्छी मित्र हैं जो जीवन की साँझ में भी साथ-साथ चलेंगी। फिर मुस्कुराकर बोले—पुरानी आदत एकदम कहाँ जाती है। वो एक शेर है न क्या है··· मैंने कहा, ये तो नहीं—

उम्र गुज़री इश्के बुताँ में मोमिन
आख़िरी वक्त में क्या खाक मुसलमाँ होंगे !

कहने लगे—हाँ, यही ! वाह, क्या खूब शेर है ! ज़िंदगी में समय मिला तो संस्कृत के बाद शेर भी खूब पढ़ेंगे। बनारस में जो हमारा महलनुमा घर है, 'हेमांगना' नाम है उसका। माँ के नाम पर। वहाँ एक आश्रम-जैसा बनाना चाहता हूँ, जहाँ विद्यार्थी सीखें, रियाज़ करें। अभी भी वहाँ के लोकल लड़के आते हैं। रिकार्डों की लाइब्रेरी है, किताबें हैं। वहाँ बैठकर अध्ययन करते हैं। हमने पुराने आश्रमों के बारे में जितना पढ़ा वो उतने ही अच्छे लगे। कभी समय मिला तो बनारस के उसी घर में ये सपना भी साकार होगा।

बनारस के बारे में सोचकर पंडित जी के चेहरे पर एक शिशु का-सा भाव आ गया। मानो उसे देख ही रहे हों। लिफ्ट तक छोड़ने आए तो मुझे बंबई ही की रंग भवन की एक-आधी रात याद आई। स्वरसुधा का प्रोग्राम था। सारा हॉल आधी रात के बाद भर गया था। नीचे लोग खाली ज़मीन पर गद्दे बिछाकर दरियाँ और चटाइयाँ बिछाकर बैठे थे। चाँद सुस्ताया-सा आँखें खोले घूर रहा था। पंडित जी का प्रोग्राम शुरू हुआ तो रात के जाते क़दमों की आहट तक न सुनाई दी थी। जब पंडित जी अपनी प्रेयसी को बाँहों में उठाकर मंच से उतरे थे तो सूरज के उगने से पहले की ठंडी-ठंडी रोशनी से आकाश भरा हुआ था। मुग्ध, मंत्र-मुग्ध !

बोझ सर पर कंठ में स्वर

कैलाश पर्वत को जब लोग देखने जाते हैं तब यकीन के साथ कोई ये नहीं कह सकता कि सूर्य भगवान की किरणें मेहरबान होंगी या नहीं। कभी कैलाश का ये शिखर तेज हवाओं के आँचल-तले सो रहा होता है। कभी धुंध के आगोश में बेहोश या कभी बादलों के झुंड में या तीरगी के दामन में महफ़ूज़। आपकी झोली में दर्शन की कितनी पूँजी पड़ेगी, ये रहस्य वहीं पहुँचकर खुलता है। कैलाश पर्वत ही की तरह महापुरुष भी रहस्यमय होते हैं। कभी खिले गुलाब-से, कभी बंद कली की तरह। इसलिए पहिले से ये सोचकर कभी न जाना चाहिए कि उनका कौन-सा रूप आप देखेंगे।

उस दिन भी मैं 'मधुशाला' के बच्चन जी के दर्शन ही करने गई थी पर मन में ये लालच जरूर था कि समुद्र के गर्भ में से दो मुट्ठी ही सही, मोती बीनूँगी जरूर। पर हुआ वही कि जो पूछना चाहती थी वो उनकी पांडित्यपूर्ण रुचिकर वार्ता में, मेले में घूमने आए शैतान बच्चे की तरह गुम हो गया और जो बीन सकी वो चुन लाई हूँ।

उन दिनों बच्चन जी अपने छोटे पुत्र की खगोलशास्त्र पर कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। जब सौरमंडल, उल्काओं, आकाश-गंगाओं, सूर्य व ग्रहों का जिक्र करते-करते उन्होंने ये कहा कि पृथ्वी एक मटर के दाने के बराबर है, तब मुझे लगा यदि पृथ्वी इतनी छोटी है तो कवि बच्चन कहाँ होंगे ? कवि बच्चन न होंगे तो मधुशाला के बिना पृथ्वी कैसी होगी। पर कवि तो सामने बैठे हैं। खुश, प्रसन्न, अपनी तीखी दृष्टि से दाएँ-बाएँ निहारते। सफेद कपड़ों से मेल खाता उनके सिर के बालों का सफेद मुकुट। यही तो हैं बच्चन जी। मैं मौका देखकर

खट-से आकाशगंगा से नीचे उतर आई। पृथ्वी पर बच्चन जी सौरमंडल से बहुत बड़े हैं।

उन्हें भी धरती पर खींचने के लिए मैंने जोड़ा, "बच्चन जी, फिर तो ये आकाशगंगा उस्ताद अमीर खाँ के विलंबित खयाल से भी लंबी हुई।" कवि हँसे, एक सहज मुस्कान। ये मुस्कान जो कितने लंबे दिनों, कितनी अँधेरी रातों के बाद फिर कवि के चेहरे पर आ सकी है। अमिताभ जी की कठिन बीमारी के दिनों का टूटा कवि टुकड़े-टुकड़े जुड़कर फिर जी उठा है।

हँसकर कहने लगे, "आज तो आप कुछ खाए-पिएँगी नहीं। आज तो करवाचौथ है।" मैंने कहा, "व्रत तो रखा है पर एहतियातन चोरी-छिपे पानी पी लेती हूँ। अगले जन्म में भी इन्हीं से शादी करूँगी ऐसा मेरा कोई पक्का इरादा नहीं है।" कवि खुलकर हँसे, फिर बोले, "आप अगले जन्म में विश्वास रखती हैं?"

मैंने कहा, "जरूर! संस्कार ही ऐसे हैं।"

बड़ी मुश्किल से कवि को खगोलशास्त्र से निकाल पाई थी। डर लग रहा था अब और कौन-से शास्त्र में ला पटकेंगे। मैंने उन्हें देखा। 50 बरस पहले का चर्चित भँवरों का मुकुट अब वहाँ नहीं है, पर सजा-सँवरा थोड़ा धूप में कुम्हलाया-सा कपास का जो मुकुट है वो भी दर्शनीय है। क्या भँवरों के जाल में ही श्रोताओं को रात-रात-भर बाँध रखा था कवि ने। ये प्रश्न तो मैंने न पूछा पर ये पूछा, "आजकल कविता का सिंहासन कहाँ है?" कहने लगे, "बरसों पहले जब राजेंद्र बाबू राष्ट्रपति थे उन्होंने एक बार जनगीता सुनने के लिए बुलवाया था। बाहर गेट पर संदेश पहुँचने में देर हो गई। वहाँ लोगों ने हमें रोका। पर खैर, जब पता चला और हम भीतर गए तो मैंने पहली बार राष्ट्रपति को गुस्से में देखा। कहने लगे, 'मुझे एक्सप्लेनेशन चाहिए। इन्हें कैसे रोका गया।' उसके बाद जब सब लोग बैठ गए, तो जो छोटा-सा मंच बना था, हमने उनसे कहा—आप यहाँ बैठिए। राजेंद्र बाबू बोले, 'नहीं, ये जगह आपकी है। आपकी गद्दी व्यास-गद्दी है।' यह कहकर मुझे ऊँचे आसन पर बिठा दिया, स्वयं श्रोताओं के बीच जाकर बैठ गए।"

मेरे प्रश्न का उत्तर मुझे मिल चुका था। अपना स्थान स्वयं बनाना पड़ता है चाहे वो व्यक्ति हो चाहे भाषा। डॉ. साहब कहने लगे, "जितनी सरल बात होगी, उतनी ही लोगों को समझ आएगी। सरल लिखना बड़ा कठिन है। सरल

लिखने के लिए सरल होना बड़ा जरूरी है। सरल होना आत्मा का काम है।" टेलीविजन पर मैंने उन्हें पूछा था—क्या आपको दो बेटों के बाद बेटी की कमी नहीं खली। घर में जब तक बेटियाँ न हों आँगन सूना रहता है। फिर भी लोग बेटियों को बोझ समझते हैं। बच्चन जी ने कहा था—बोझ शब्द कहकर आपने मेरा दिल दुखा दिया! उन्हें दुःखी देखकर, मैंने ये न कहा कि जिस गरीब बाप की छाती पर ये बोझ रहता है कभी उसे महसूस कीजिए। ब्याहने लायक बेटी के गरीब बाप से ज्यादा दीन दूसरा कोई नहीं है। जी तो चाहता है, सृष्टि का हर फूल सहेजकर अपनी बेटी की झोली में डाले, पर सामर्थ्य झोली तक की भी नहीं होती। पर आज मौका था। मैंने फिर अपना सवाल दोहराया।

बच्चन जी थोड़ा-सा ठहरे, फिर कहने लगे, "बेटियों के बाप को इतना अपमानित होते देखा था कि कभी कमी महसूस न हुई। अपने ही घरों में देखता था। जब दामाद आते थे तो गृहपति जूतियों के तले हो जाते थे। साले, बहनोई के लिए नौकर-से हो जाते थे। जितना जमा-जोड़ा होता था सब दामाद की भेंट चढ़ जाता था। फिर अपनी बहनों के दुःख से बड़ा भरा हुआ हूँ।" ये कहकर कवि सचमुच में भर आए। भरे गले से ही उन्होंने बताया, "मैं अपनी छोटी बहन को मिलने सागर गया था। वो अक्सर बीमार रहती थी। जब बीमार होती मैके आ जाती, ताकि ससुरालवालों को कोई कष्ट न हो। मैं गया तो कुछ बीमार ही चल रही थी। कहने लगी—हमें अपने साथ लिवा ले चलो। हमने कहा—कैंप में आए हैं। और फिर तेजी अमित को लेकर मंसूरी गई हैं। मैं तो कहीं भी खा-पी लेता हूँ, तुम्हारी देखभाल कौन करेगा? दशहरे की छुट्टियों में आकर तुम्हें ले जाऊँगा।

"दशहरे की छुट्टियों में उनका खत आया—दशहरा आ रहा है, देखूँ मुझे लेने कौन आता है? उसके दूसरे दिन ही उनकी मृत्यु का तार आ गया। मेरे लाने से पहले मृत्यु उसे ले गई। ये दुःख आज तक नहीं भूल पाया हूँ। अभी भी कागजों में उसका वो अंतिम पत्र पड़ा होगा, न भी हो तो भी एक कील-सी यादों के हिलते ही चुभने लगती है।"

कुछ पल चुप रहकर कवि बोले, "मैंने अपनी ज्यादा उम्र की कीमत अदा की है। माँ, बहिन, बाप, पत्नी सभी मेरी बाँहों में मरे। आज तक ये दुःख सालता है कि वो भी मेरी ही बाँहों में क्यूँ नहीं मरी। जीवन में दुःख का बड़ा मूल्य है। हमारी आत्मा को आग की तरह साफ करता रहता है। दुःख आपको

मुलायम कर देता है। ये कोई साधारण उपलब्धि नहीं है। हिंदू स्त्री ने बहुत सहा है। पर इससे उसने प्रतिष्ठा भी हासिल की है। समाज नारी के तप से जुड़ा हुआ है। और सब सहकर बच्चों को, अपने पति को बनाती है। तप से ही उसने देवी-पद प्राप्त किया है। हिंदू-समाज को स्त्री ने अपनी वेदना से बाँध रखा है। इस देश का मूलाधार नारी में है। अपने मूल्यों, मान्यताओं को उसी ने सहेजकर रखा है। मौका लगने पर अपना गहना बेचा है। बिराज बहू की तरह जाग-जागकर रात-भर काम करके घर चलाया है। पड़ौसी को ये पता नहीं चलने दिया कि पतीली में पानी है या दाल। शंभू का परिवार, पार्वती की तपस्या से चल रहा है।"

मैंने सोचा—इन्हीं शब्दों के जाल में तो सरला स्त्री फँस जाती है। ये मैंने खाली सोचा। प्रश्न दूसरा था, "इतनी तपस्या के बाद भी पार्वती की संतान दहेज की बलिवेदी पर फूँकी जा रही है?"

कहने लगे, "दहेज-प्रथा तो इसलिए चली थी कि लड़का तो घर का मालिक होता है, कुछ भाग लड़की को भी पिता की जायदाद का मिलना चाहिए। नेहरू जी ने पहली बार कानूनी तौर पर पिता की संपत्ति में लड़की का भाग रखा। पर ये तो पता न था कि कुछ लालची और घृणित लोग इसे इस तरह का जामा पहनाएँगे।...इसी देश में ये भी हुआ है कि डाकुओं ने एक गाँव पर हमला किया। मालमत्ता लेकर भागने लगे तो पता चला, इस गाँव में उनके गाँव की बेटी ब्याही है। सबकुछ लौटा दिया। उल्टे लड़की को हाथ से भेंट भी दी। अगर यहाँ लड़की का इतना अपमान है तो इतनी इज्जत भी नारी की किस देश में है? मुहल्ले-भर की बेटी अपनी बेटी और कहाँ होती है?"

मैंने पूछा, "क्या आज का युवा इस समस्या को सुलझा पाएगा?" कहने लगे, "अधिकार की बात बीच में आने से चैलेंज हो जाता है। झगड़ा शुरू होता है। शादी प्यार और विश्वास पर चलती है। जिस पति की पत्नी ने त्याग किया है वो यदि पशु ही न हो, तो जरूर समझता है।"

मैंने पूछा, "क्या जरूरी है कि पत्नी को तंग करने के बाद ही उसकी अहमियत का अहसास हो?"

बच्चन जी कहने लगे, "हमारे एक दंपत्ति मित्र थे। दोनों कमाते थे। दोनों की अलग-अलग पासबुकें थीं। कभी हम जाते तो वे कहते—ये दरी मेरी है, सोफा इसका है। दीवारों पर टँगी तस्वीर मेरी है, रसोई में जल रहा चूल्हा इसका

है। जाहिर है उनकी जिंदगी खुशगवार न थी। बस, एक दिन अलग-अलग हुए तो अपनी-अपनी दरी ले गए। शादी न चलनी थी सो न चली। हिंदू शादी अनुबंध नहीं है। ...हमारे एक मित्र की साली की एक जगह मँगनी हुई। वो लड़का रसायन फ़ैक्टरी में काम करता था। वहाँ एक हादिसे में उसका चेहरा जल गया। लड़केवालों ने उनको कहा कि आप अपनी बेटी की शादी कहीं और कर दीजिए। लड़की अड़ गई। उसने कहा, मैं तो यहीं शादी करूँगी। अगर शादी के बाद चेहरा जल जाता तो क्या मैं उन्हें छोड़ देती। अब ये ट्रेनिंग की बात नहीं है, संस्कार की बात है। नारी अपने संस्कार को जानती है। जब ससुराल के लिए विदा होती है तो उसे पता होता है, मैं सहने जा रही हूँ! वो सहती हैं। इसी संस्कार की बलिवेदी पर न जाने कितनी लड़कियाँ हँसते-हँसते चढ़ गईं।"

मैंने पूछा, "डॉ. साहब, आज जो तलाक होते हैं, उससे संतान पर जो असर पड़ रहा है वो क्या आनेवाली पीढ़ियों को प्रभावित नहीं करेगा? आगे ऐसी संतान की जो संतान होगी वो इसी भावना से ग्रस्त नहीं रहेगी क्या? ऐसे कई बच्चे जिनके माँ-बाप अलग हो जाते हैं, सिर्फ इसी डर में बड़े होते हैं कि कब उनके माँ या बाप और शादी कर लेंगे।"

डॉ. साहब ने कहा, "बच्चों के भविष्य की पूरी जिम्मेदारी बेशक माँ-बाप पर निर्भर रहती है। इसी वजह से बहुत-से तलाक रुके भी रहते हैं। कई ऐसे दंपत्ति हैं जो सिर्फ बच्चों की खातिर एक छत के नीचे रहते हैं। जननी ही संतान को जन्म देती है। वही उसे बनाती भी है। हम तो पढ़ाई में लगे रहे, तेजी जी ने जितना ध्यान बच्चों का और हमारा किया उसी से आज सब अपनी-अपनी मंजिल पा सके हैं।" फिर हँसकर बोले, "ये तो मुख्बोंवाली थीं, पिता रेवेन्यू मिनिस्टर थे। बहिन जमींदारों के यहाँ ब्याही गई थी। लेकिन जब हमारी शादी हुई तो इन्होंने कब अपने आपको हमारे साँचे में ढाल लिया, हमें पता तक न चला। पंजाब में सब कहते थे—लड़का तो मुंडे पढ़ौंदा है। यानी कि लड़के पढ़ाना कोई इज्जत का काम न था। हमारी शादी एक चैलेंज थी। लोग कहते थे— ये पंजाबी कुड़ी भाग जाएगी। इलाहाबाद में भी शर्तें लगी थीं। सब कहते थे—ये नहीं रहेगी। हमने तेजी जी से कहा—तुम मुझे इंच-इंच काटकर फेंक दो तो भी मैं तुमसे अलग नहीं हूंगा। उधर ये भी चैलेंज स्वीकार करके आई थीं। अब तक डटी हुई हैं। ...हमारी शादी में मेरे कपड़े तक लाहौर से यही बनवाकर

लाई थीं। शेरवानी-पायजामा। अपने भी सब कपड़े, हर चीज व्यवस्थित।...

"मुहम्मद ने जो चार औरतों से शादी की बात कही है वो यही रही होगी कि स्त्री में माँ, प्रेमिका, सेविका व स्त्री सभी के चारों रूप होने चाहिए, तेजी जी में ये चारों गुण हैं। कहीं भी कोई गलती करे वो झट-से कह देती हैं।"

मैंने पूछा, "डॉ. साहब, बाहर की लड़की से शादी करने पर घर में भी हंगामा तो हुआ होगा?" कहने लगे, "हाँ, हमारा जन्म तो हरिवंश पुराण सुनने पर हुआ था। तो पंडित ने पहले ही कहा था, ये लीक-लीक नहीं चलेगा। जब हम विदेश गए तो मोहन चाचा ने हमारे साथ खानपान का रिश्ता तोड़ दिया था। जब मैं इंग्लैंड से लौटा तो उनके लड़के ने घर पर खाने को बुलाया। मैंने उसे कहा—अगर तुम मेरे साथ न खाओगे तो मैं बुरा नहीं मानूँगा। मैं समझूँगा तुम मेरे चाचा की इज्जत कर रहे हो। वो माफी माँगकर बोला—हम भी आपकी ही तरह सोचते थे पर बोलने की हिम्मत न होती थी। हमारे पूर्वजों ने अगर छुआछूत की तो छुआछूत मिटाई भी। उस वक्त ग्वालिन चाची, कहारिन मौसी, नाइन बुआ होतीं थीं। इन शब्दों में जो मिठास थी वो आज की आंटी में ढँक गई हैं। मेरी माँ के बच्चे बचते न थे—उन्होंने मुझे दो पैसे में चमारिन अम्माँ को बेच दिया था। मैंने उसका दूध भी पिया है। तभी तो जब मैं अछूतों के संग बैठकर खाता था तो चाचा कहते थे—इसमें दूध का असर है।"

कैलाश पर्वत पर बादल काफी छँट गए थे। मौसम खुशगवार था। मैंने झिझकते हुए पूछ ही डाला, "डॉ. साहब, ये जो शायर किस्म के लोग हैं, इनका कहना ये है कि कलम में ताज़गी रहे इसके लिए इश्क करते रहना चाहिए। माशूक बदलता रहे तो अच्छा है।"

कवि हँसकर बोले, "ये मर्ज उर्दू शायरी से आया है। एक मरतबे का प्रेम सारी उम्र मारकर रखने के लिए काफी होता है। ...बाकी, पुरुष में उतना संयम नहीं होता जितना स्त्री में। हाँ, रिऐक्शन दोनों में एक जैसा ही होता है। एक-दूसरे के प्रति आकर्षण भी एक जैसा ही होता है। स्त्री रहस्य रख सकती है। पुरुष खुला है। वो प्रकृति से लड़ाई नहीं करता, स्त्री करती है। इसे आप सौतियाडाह भी कह सकती हैं।" हँसकर बच्चन जी बोले।

"क्या तरन्नुम में पढ़ी जानेवाली कविता कमजोर होती है?"

"नहीं, कौन कहता है! तरन्नुम से दुगुना आनंद आता है। हम हमेशा सस्वर पढ़ते रहे। श्रोता मानते ही नहीं थे। अच्छी कविता में अच्छा स्वर मिले

तो उसका डूबन नहीं उबरता। हाँ, स्वर का दुरुपयोग न हो। स्वर सधा रहना चाहिए। वैसे तो शब्दों की ध्वनि का जो आनंद है, उसके क्या कहने! अच्छी कविता के भीतर ताल-स्वर-लय सभी होता है।"

मैंने पूछा, "कविवर, आजकल सधे स्वरों से जो घटिया कविता पढ़कर मंच को दूषित कर रहे हैं उनके बारे में क्या कहेंगे? और क्या बुजुर्ग कवियों को उनका मार्गदर्शन न करना चाहिए?"

बच्चन जी जैसे उत्तर देने के लिए तैयार ही थे। बोले, "हमने जो करना था कर चुके। हर चीज का एक वक्त होता है, एक माहौल होता है। अब हम तमाशा-ए-अहले-करम देखते हैं। अब मुझमें दिशा देने की शक्ति नहीं है। अगर तुलसीदास से कहा जाए कि एक और रामायण लिखो तो क्या वो लिख पाएगा। अब मैं ही एक और मधुशाला नहीं लिख सकता। पर कोई उठेगा अवश्य जो आज के हास्य-व्यंग्य की आड़ में छुपे दूषित वातावरण की धुंध को मिटा देगा। जब-जब साहित्य, धर्म या जाति में इस तरह की स्थिति होती है तो एक व्यक्ति ऐसा होता ही है जो कगार से कूदने से पहले सबको बचा लेता है। महात्मा गाँधी कैसे देश को स्वतंत्रता दिलाने आ पहुँचे। एक लँगोटी और एक सोटी का मालिक वो गाँधी भारत के करोड़ों हृदयों का बादशाह था। उन दिनों जो कविताएँ छपती थीं उनमें से एक किसी की कविता याद है—

'बूक-भर हाड़ से पहाड़ हो हिलाय देत!'... इस बूक-भर हाड़ में आत्मा की शक्ति का अपरिमित भंडार था।

मैंने पूछा, "आपने तो गाँधी जी को भी मधुशाला सुनाई थी।" कहने लगे, "कुछ लोगों ने शिकायत कर दी थी कि बच्चन शराब की कविता लिख रहा है। गाँधी जी ने बुलाया, ग्यारह बजकर 55 मिनट पर। हम भी ठहरे कायस्थ", बच्चन जी हँस के बोले, "हमने भी कौशल किया। चुन-चुनकर वही सुनाया जो उन्हें रुचे। चारों अध्याय सुना दिए—

बैर बढ़ाते मंदिर-मस्जिद
एक बनाती मधुशाला!

गाँधी जी कहने लगे—यहाँ तो कहीं शराब का जिक्र नहीं है! हम खुश-खुश लौटे। जो यार इस ताक में हमसे पूछते फिरते थे कि मधुशाला नष्ट कर दोगे अगर गाँधी जी ने कहा तो? वो हमसे दाएँ-बाएँ होने लगे। हमने तो कह दिया—अगर गाँधी चाहेंगे तो नष्ट कर देंगे। पर गाँधी तो युग-निर्माता थे। एक

रचयिता की कला का गला क्यूँ काटते ।"

मैंने पूछा, "क्या आप अपनी कविताएँ पढ़ते हैं ?" बोले, "हाँ, लेकिन दूसरे की कविता मानकर । अपनी कविता पढ़कर मैं स्वयं प्रभावित हो जाता हूँ । कविता सीधे से कभी पकड़ाई में नहीं आती । रचनाकार निश्चय ही एक अलग व्यक्ति हो जाता है । पर जिसने जीवन-संघर्ष में रहकर गीत गाया, वो महान् है—बोझ सर पर कंठ में स्वर ।... हम तो उसी को कवि मानते हैं । यदि आप सिर्फ कविता लिखकर महान् बन गए हैं और जीवन को आपने नजदीक से नहीं जाना तो बच्चन का आपको प्रणाम ! जीवन को ठीक रास्ते से ले जाना बहुत बड़ी कला है । अब पंत या महादेवी कवि तो बहुत महान हैं पर जिंदगी की डगर पर उन्होंने चलकर नहीं देखा । अपने मन का मोह यहाँ-तहाँ पशु-पक्षियों को बाँटते फिरे । पर उनका हाथ कभी अपने बच्चे के सर पर नहीं फिरा । वो कोमलता जो गृहस्थी के धागों के बीच होती है, उसके सिवा कविता में प्राण कैसे पड़ेगा । जीवन सबसे बड़ी कविता है ।"

मैंने पूछा, "डॉ. साहब, आज भी कवि-सम्मेलनों से ज़्यादा मुशायरे ही जमते हैं ।" कहने लगे, "एक हजार वर्ष तक हिंदुस्तान पर मुसलमानों का राज्य रहा, वो क्या बेअसर जाएगा ।" मैंने मन-ही-मन कहा—या कवि-सम्मेलन जब तक वो असर न पैदा कर लेंगे, जिससे बात बनती है ।

मैंने पूछा, "सुबह से शाम तक क्या होता है ?" बोले, "सबेरे नहा-धोकर पूजा-पाठ-नाश्ते से निपटकर संस्कृत पढ़ता हूँ । महाभारत के दो-चार पन्ने पढ़ता हूँ, वाल्मीकि की रामायण, जो आदिकाव्य है, थोड़ा-थोड़ा उसका रसास्वादन करता हूँ । सस्वर अब ऊँचा तो नहीं पढ़ सकता पर मन-ही-मन सस्वर पढ़ता हूँ, जिसे सिर्फ मेरे कान सुनते हैं । सस्वर पढ़ने में जो आनंद आता है वो बयान से बाहर है ।" मैंने पूछा, "कविता में या लेख में संस्कृत के बहुत-से शब्द मिलाकर उसे जो कठिन कर देते हैं वो क्या पांडित्य है ?" बोले, "नहीं । भाषा सर्वसाधारण के लिए है । सरल ही होनी चाहिए ।..."

फिर बोले, "दोपहर को खाकर जब सोता हूँ तो कोई न कोई कैसेट लगा लेता हूँ । हल्के-फुल्के संगीत पर पाँच या दस मिनट में ही निद्रा देवी की थपकियों की हल्की आहट के ताल में नींद आ जाती है । सोता मैं बहुत अच्छी तरह हूँ । शाम को थोड़ा घूमता भी हूँ । जब बंबई में था, पोते-पोतियों के साथ खेलता भी था । मेरी छोटी बहू हिंदी नहीं जानती, उसे हिंदी सिखाता था । वो तो

बरसों इंग्लैंड में रही। अंग्रेजी ही बोलती रही। अब हिंदी सीख रही है। कभी-कभी कविता भी सुना देता था। अब जया तो खूब हिंदी जानती है। वैसे भी बंगाली परिवार की हैं और बंगाली तो बचपन से ही बच्चों को अपने साहित्य-संस्कृति के साथ बड़ा करते हैं। वो मेरी कविता पढ़ती है। अमित भी पढ़ते हैं। अजित नहीं पढ़ते। पर कभी जब हम न रहेंगे तो पढ़ेंगे।" मैंने पूछा, "और तेजी भाभी।" कहने लगे, "उन्हें तो हम सबसे पहले अपनी कविता सुनाते हैं। वो कवि बच्चन की हमेशा प्रशंसक रही हैं।" मैंने पूछा, "अमिताभ जब बीमार थे आपको क्या लगता रहा ?" बोले, "देखिए, आदमी के भीतर शक्ति का एक भंडार होता है जो वो आड़े समय में इस्तेमाल करता है। मैं समझता हूँ अमित ने अपनी इस बीमारी में उसे ही खोला था। लोगों की दुआएँ, भगवान की दया–ये सब ही इस भंडार में शामिल थे। आपको एक वाकया सुनाता हूँ। एक बार कालेज से हम पिकनिक पर गए। देवकीनंदन खत्री की किताब सिदुनाथ में एक झरना आंता है। वहीं हम गए थे। एक सीधी चट्टान आगे से थोड़ी-सी ढलवाँ थी। वहीं से 200 फुट नीचे पानी गिरता था। जहाँ पानी बरसों से गिर रहा था, वहाँ नुकीले पत्थर व फिसलन भी थी। हम सब पैदल गए थे। थके तो थे ही, पानी की धार में पाँव रख दिया। फिसलन तो थी ही, एक लड़के का पाँव फिसला। नीचे गिरने को ही था कि एक दूसरे लड़के ने अपनी धोती खोल उसकी ओर फेंकी। ज़रा-सी दूर थी, तो भी लड़के ने वो अपना अतुल भंडार इस्तेमाल किया–उछला और उछलकर धोती पकड़ ली। हमने उसे धीरे-धीरे खींच लिया। वो रोमांचक क्षण हमेशा मुझे मनुष्य में छिपे इस अतुल भंडार का स्मरण करवाता है।"

मैंने कहा, "नए कवि, कभी आपसे कोई सलाह चाहते हैं तो ?" बच्चन जी बोले, "सलाह तो मैं दे देता, पर आजकल के कवियों के पाखंड से मैं आतंकित हो जाता हूँ। वो तो अपने को मुझसे बहुत बड़ा कवि मानते हैं। उन्हें मैं क्या राय दूँ। हाँ, मेरा आशीर्वाद उनके साथ है।"

तभी तेजी भाभी अपनी दोनों बहुओं के साथ सजी-सँवरी कमरे में आईं। तेजी भाभी पंजाबी हैं। पंजाब में करवाचौथ का व्रत धूम से होता है। तेजी भाभी केसरिया साड़ी में सुंदर लग रही थीं, मैंने उनके पाँव छुए। उनकी बहुओं को प्यार किया।

भाभी जी सर्चलाइट की तरह आईं, कमरे में घूम-फिरकर आगे निकल

गईं। उनके जाते ही मैंने शरारत से पूछा, "भाभी जी इतनी सुंदर लग रही थीं, आपने प्रशंसा में एक शब्द भी नहीं कहा!"

यहाँ आपको एक बात बता दूँ कि मेरी और बच्चन जी दोनों की ससुराल सरदारों के यहाँ है। सो बहुत बड़े होने पर भी मैं उनसे मजाक कर लेती हूँ। शायद इसी वजह से तेजी भाभी तो कभी-कभी मुझे बेटी भी कहती हैं, डॉ. साहब नहीं कहते। थोड़ा-सा मुस्कुराकर कहने लगे, "ये तो हमेशा ही सुंदर लगती हैं। कब-कब तारीफ करूँ और फिर सारी उम्र इनकी तारीफ में ही तो निकल गई।" मैं कहना चाह रही थी पत्नी के सामने तो ब्रह्मा की भी बोलती बंद हो जाती है, पर सिर्फ इतना कहा, "डॉ. साहब, जिंदगी में हर भूख खत्म हो जाती है, लफ्जों की भूख कभी खत्म नहीं होती।" डॉ. साहब बोले, "हाँ, ये सही है और लफ्ज मेरे पास भी चुके नहीं हैं।"

घर जाते हुए रास्ते में मन में सोचा—आप लफ्जों को खूबसूरत बनाते हैं, उन्हें नए-नए जामे पहनाते हैं, आपके लफ्ज चुक गए तो लफ्ज कहाँ रहेंगे!

वरक-वरक खुश्बू

बँटवारे के दिन थे। लोगों के सर पर जुनून सवार था। उन्हें क्या चाहिए, ये पूछनेवाले का सर धड़ से अलग हो रहा था। एक मुल्क जो बरसों से जुड़ा हुआ था, उसके बाजू दोनों तरफ से काट दिए गए थे। हैरत तो ये थी कि वो पूरी तरह से कट भी न पाए थे। जहाँ तलवार की धार लगी थी वहाँ से खून के धारे बह रहे थे, जिनमें मुहब्बत और इंसानियत की लाशें तैर रही थीं। लोग भाग रहे थे, पता नहीं कहाँ। पनाह की तलाश में ट्रेनें भर-भरकर इधर-से-उधर जा रही थीं। इनमें लोग माल-असबाब की तरह भरे हुए थे। ये लोग इन अधकटे बाजुओं में बसने को जा रहे थे। कुछ इस मुल्क के दिन की तरफ आ रहे थे। भगदड़ मची हुई थी। बच्चे रो-रोकर थक चुके थे। सब सहमे हुए माँ की झोली में दुबके पड़े थे। उन्हें भी मालूम था, कुछ खौफनाक-सा हो चुका है, जिसका नाम नहीं है।

लाहौर से आई एक ट्रेन, तीन दिन से अंबाला में खड़ी थी। मकामी लोग मदद कर रहे थे। उबले चने, पानी, रोटियाँ, अचार बाँटे जा रहे थे। पर बेतरतीबी के साथ। इन टुकड़ों की तरफ बढ़ते हाथों की संख्या अनगिनत थी। कोई रोटी कहीं गिरती, कोई नहीं। बंदरों की तरह छीना-झपटी करके लोग खा रहे थे। दूर से फेंकी गई खीर एक के मुँह पर गिरी, दूसरे ने पोंछकर खा ली! एहसास खत्म हो चुका था। इस ट्रेन की छत पर भी सैकड़ों लोग थे, जो न अपनी जगह छोड़ना चाहते थे न रोटी। आवाजें घुलकर एक हो गई थीं। वहीं ट्रेन की छत पर एक सिख युवक अपना बिस्तर-पेटी लिए बैठा था। ट्रेन में कहीं उसके बच्चे थे, बीवी थी। इनके लिए रोटी इकट्ठी करने में उसे लोगों के सिरों के समंदर पर से गुजरना पड़ा था।

वहाँ से चनें और फुल्के कैच करके वो ट्रेन की तरफ फेंक रहा था। उसे ये पता न था, उसके बीवी-बच्चे कौन-से डिब्बे में हैं। वो हर डिब्बे में फुल्के और चने फेंककर आवाज़ लगा देता। लोगों की इस भीड में अपने किसी का चेहरा पहचान पाना मुश्किल था। जब कुछ लोग खिसकते तभी कोई अपना चेहरा दिखाई देता। पानी की बूँद-बूँद को तरसे लोग अब हड़बड़ाकर हर खाने-पीने की चीज पर टूटे पड़ रहे थे। इसके पहले जब ट्रेन एक पुल के नीचे से निकली थी तब कई बेखबर सिर धड़ से अलग हो गए थे। छत पर बैठा ये युवक ट्रेन से चिपक गया था। पीठ पर कुछ खरोंचें आई थीं, पर बच गया था। बच जाना ही बड़ी बात थी। उस दिन ये युवक बच न निकलता, तो लघु कहानी का एक बड़ा स्तंभ सिर उठाते ही मिट्टी में मिल चुका होता।

इस युवक को बचपन में किताबों में से खुशबू आती थी। उन्हें अपने इर्द-गिर्द फैलाकर उनसे चिपके हुए पढ़ते रहने में खूब आनंद आता था। पर इस वक्त ये सब कहाँ याद था। इस वक्त तो सिर्फ यह याद था कि एक बार फिर जन्म हुआ है। अब देखो नाव कहाँ लगती है। भरी नाव हर किनारे पर नहीं लगाई जा सकती। खास करके जब नाव में अपनी ही बीवी-बच्चे हों तो किनारा भी ठोस ही ढूँढ़ना पड़ता है।

साथ में कोई पूँजी न थी। किसी तरह शिमला पहुँचे। कुछ किताबें साथ थीं। छपने के लिए तैयार। उनमें से खुशबू भी आती थी। इतने घिनौने माहौल में से गुजरकर भी ये खुशबू बरकरार थी। इसी खुशबू के सहारे मैं यहाँ तक पहुँच सका हूँ।...

लघु कहानी के स्तंभ श्री राजिंदरसिंह बेदी ये कहकर सामने की दीवार पर लगी किताबों पर हाथ फिराने लगे। दुबला-पतला बीमार जिस्म धीरे-धीरे दीवार का एक हिस्सा होकर रह गया। मानो वहीं किताबों में जड़ा एक बुत हो, निश्चल, अडोल।

मैं काफी पीछे चली गई। जब बेदी साहब बीमार न थे। शायद 1973 की बात है। लंदन में, पाकिस्तान की एक शायरा सहाब कज़लबाश के घर में एक साहित्यिक जमावड़ा था। उदास नस्लों के लेखक जनाब अब्दुलाह, उनकी खूबसूरत बीवी, अहमद फराज, कुछ मकामी शायर, उनकी खूबसूरत बीवियाँ और बेदी साहब की प्रशंसिकाएँ वहाँ मौजूद थीं। कई और लोग भी थे। हम सब चाँदनी पर बैठे थे। तभी बेदी साहब के आने का शोर उठा। मानो कमरे में

लौ आ गई हो। गले मिलने के बाद कई तरह के हँसी-मजाक शुरू हो गए। मुझे देखकर बेदी साहब बेहद खुश हुए। अरे, आप भी आई हैं। परदेश में ऐसे ही होता है। यूँ लगता है, घर का कोई सदस्य ही आ गया है। सहाब ने छींटा कसते हुए कहा था–बेदी साहब, आप अपनी दाढ़ी पूरी क्यों नहीं काट लेते! बेदी साहब ने हँसते हुए ही जवाब दिया–कटवा तो लूँ, पर डरता हूँ, भीतर से न जाने क्या निकले! उनका ये कहना था कि पूरे कमरे में हँसी रोशनी की तरह बिखर गई। उसके बाद बेदी साहब ने लाहौर की गली-गली का पता पूछना शुरू किया। जैसे गलियाँ न हों, लोग हों! मुहल्ले की औरतें हों! फिर बेदी साहब की कहानियों के पात्र मानो कमरे में आ जुटे। लोग उनके बारे में बात करते थकते न थे।

एक दिन हमें आले हसन ने बुलाया। वो बी. बी. सी. में न्यूज रीडर थे। बड़े बाजौक आदमी। बड़ी खातिर की। सारा दिन लगाकर कई तरह का गोश्त उन्होंने पकाया था। भिंडी, कोफ्ते, काली दाल। 'लंदन में ये सब जुटाना बड़ा मुश्किल होता है, जब पत्नी भी विदेशी हो।' ये कहकर आले भाई हँसे। अब दिक्कत चपातियों की थी। उनकी ऊँची स्विस स्त्री की समझ में ये न आ रहा था कि बेदी साहब डबलरोटी या और कोई किस्म की ब्रेड क्यों नहीं खाते। चपाती के पीछे क्यों पड़े हैं। पर चपाती की धुन तो आले भाई को लगी थी। तभी आले भाई उनके करीब ही रह रहीं अपनी बहन के यहाँ से चकला-बेलन उठा लाए। उनके आने तक मैंने आटा मल दिया था। तभी उनका भांजा भागा-भागा तवा उठा लाया था। अब पहली चपाती बनने को तैयार थी। मानो ये सृष्टि की पहली चपाती थी। सब लोग चूल्हे के गिर्द खड़े थे। चपातियाँ बनाना मुझे वैसे भी अच्छा नहीं लगता, ऊपर से ये इम्तहान। यूँ लग रहा था जैसे नुमायश में खड़ी हूँ! हर नजर मुझे घेरे थी। जैसे-तैसे पहली चपाती उतरी। काँपते हाथों से मैंने उसे ग्रिल पर रखा तो वो फूलकर कुप्पा हो गई। 'फूल गई, फूल गई' से कमरा गूँज उठा। वो पहली चपाती बेदी साहब ने आले भाई की बीवी को नजर की। पर उसने चपाती का महत्त्व न समझते हुए 'नो-नो' कहकर उसे लौटा दिया। तब बेदी साहब को जबरदस्ती आले भाई ने मेज पर बिठा दिया था। इतने दिनों बाद ऐसी फूली हुई चपाती खाकर बेदी साहब खूब खुश हुए थे।

बेदी साहब अब तक किताब ढूँढ़ लाए थे। कहने लगे, "मेरी ये किताब उन दिनों छपी थी जब हम पाकिस्तान से आए थे। इसी ने बचा लिया था। किसी के

आगे हाथ फैलाना बड़ा बुरा लगता है।" मैंने पूछा, "बेदी साहब, आपको आले भाई के घर का फूला फुल्का याद है?" कहने लगे, "हाँ, आपने ही तो बनाया था। उन दिनों वहाँ बहुत अच्छा लगता रहा। उन्हीं दिनों मैंने अपनी फिल्म 'दस्तक' भी वहाँ दिखाई थी। आपने दरवाजे पर खड़े होकर सबका स्वागत किया था। पंजाबी कवि डॉ. हरभजनसिंह भी उन दिनों वहीं पर थे। आपने पैंफलेट बाँटे थे तो परदेश का अहसास कम हो गया था। आपकी बड़ी मेहरबानी रही।"··· स्त्रियों के प्रति बेदी साहब का ये विशेष सम्मान है।

सवा छह साल हो गए हैं, जब बेदी साहब को स्ट्रोक हुआ था। नानावटी अस्पताल के बाहर उनके दोस्त, घर के लोग व नरेंद्र बेदी के दोस्तों का जमघट था।

तब से अब तक तिल-तिल करके घुलते बेदी साहब बीमारी से जूझ रहे हैं। छोटे-से-छोटे होते जा रहे हैं, पर कभी कोई शिकायत नहीं सुनी। अभी दो बरस पहले जब नरेंद्र की मृत्यु हुई तब उन्होंने कहा था—अब मैं ठीक होना चाहता हूँ। मेरी बेटी को कौन देखेगा। इसे तो कुछ भी पता नहीं है। नरेंद्र जी की पत्नी वीना जिस तरह उनकी खिदमत करती है उसका जिक्र करते ही बेदी साहब रुआँसे हो जाते हैं। कहते हैं—पता नहीं, ये मेरी पिछले जन्म की माँ है। मेरी इतनी सेवा करती हैं। मेरी बेटियाँ, मेरी बहन, मेरी बहू ये सब कितनी अच्छी हैं। ये औरत बड़ी अच्छी चीज है। ये भूल चुकी हैं कि मैंने जिंदगी में क्या-क्या गलतियाँ कीं। पद्मा जी, अगर मैं बच गया तो औरत पर बड़ा कुछ लिख सकता हूँ। औरत की दया, उसकी ममता, उसकी अच्छाई से मैं इतना भर गया हूँ। मेरी बहन एक ही है। मुझसे काफी छोटी। उसके लिए जो कुछ मैंने किया था वो उसने मुझी पर कुरबान कर दिया। ये औरत सिर्फ देना चाहती है, लेती कुछ नहीं। मेरा दिमाग पता नहीं थोड़ी-थोड़ी देर बाद खाली कैसे हो जाता है, कुछ याद नहीं रहता। अस्पताल से आने के बाद जैसे जिस्म अपना नहीं रहता। मैंने कहा, "बेदी साहब, आप थोड़ा लेट जाइए। उठिए मत, मैं अभी थोड़ी देर वीना जी के पास बैठूँगी।"

वीना जी ने ही बताया था—भऊजी को कैंसर है! ये तो मेरे सर पर छत की तरह हैं। कम-से-कम मैं अकेली तो नहीं हूँ न। जब तक मेरे बच्चे बड़े हों भऊजी रहें, मैं तो यही चाहती हूँ। जब मेरी मँगनी हुई थी तब मैं चंडीगढ़ कालेज में पढ़ती थी। सबको पता चल गया था, मैं रजिंदरसिंह बेदी की बहू होने

जा रही हूँ। कालेज के नोटिस-बोर्ड पर भी छप गया था। हिंदी की प्रोफेसर ने मुझे अपने कमरे में बुलाकर बहुत प्यार किया था। मेरी जिंदगी का वो पहला अहम दिन था। जब नोटिस-बोर्ड में मेरा नाम आया तो कालेज में मैं सबकी नज़रों का केंद्र बन गई। एक ऐसे अनजाने व्यक्ति के लिए मन गर्व और श्रद्धा से भर उठा था। उनकी वजह से मैं कालेज की विशेष विद्यार्थी हो उठी थी। शादी के बाद भऊजी हमेशा बेटियों की तरह प्यार करते थे। तब इनको पगड़ी बाँधने की भी फुरसत न होती। घर भरा रहता था। बड़ा चाव आता भऊजी के पास बैठने का। कभी नाश्ते पर पूछने के लिए बैठ जाती—आपको कुछ चाहिए। हमारी सास बड़ी अच्छी थीं। सादा-सी पर पुराने खयालों की थीं। कहें, खबरदार जो यहाँ आकर बैठी! चुपचाप उठ जाती थी। अब तो भगवान ने मुझे ही इनकी सेवा का भार सौंपा है। भऊजी कभी किसी चीज की शिकायत नहीं करते। मैं बड़ा गर्व महसूस करती हूँ कि मैं उनकी बहू हूँ। आज भऊजी बड़ी कमजोरी महसूस कर रहे हैं।

बेदी साहब जब थोड़ा-सा ठीक होते हैं, मैं जाती हूँ। आज पुरानी यादों में खोकर कहने लगे—जब पाकिस्तान बनने का शोर हुआ, हमने सोचा लाहौर तो जाएगा नहीं। थोड़े दिन गाँव हो आते हैं! वहाँ हमारे ताया जी रहते थे। आपकी लाडली भाभी ताया जी से बहुत डरती थी। उसने साफ कह दिया, मैं गाँव न जाऊँगी। मैं ताया जी को लाने गया तो ताया जी बोले, हम इसी गाँव के हैं, किसी से नहीं डरते। उसी अपने गाँव में उनका कत्ल हो गया। अगर हम गए होते तो बच न सकते थे।

हमारा बचना मेरी बीवी का सदका है। बड़ी थानेदार औरत थी। इस बात की याद वो थानेदारनी भी अक्सर करवाती थी। जद्दोज़हद के वक्त उसका हौंसला मुझसे हमेशा बुलंद रहा। बेदी साहब ये कहकर चुप हो रहे, फिर थोड़ी देर बाद बोले।

ट्रेन से जब हम शिमला पहुँचे तो हमने वहाँ कई मुसलमानों को बचाया। हफीज़ जलांधरी भी उन दिनों वहीं पर था। अंग्रेज भाग रहे थे। एक भागे हुए अंग्रेज का बँगला हमने किराए पर लिया। उसका नाम था ब्रेनली। मैंने और ईश्वर चित्रकार ने वो बँगला मिलकर लिया था। उसकी नीचे की मंजिल में मुसलमान रहते थे। एक दिन कुछ लोगों ने उन्हें मारने का प्रोग्राम बनाया था। उनकी जवान लड़कियाँ भी थीं। हम किरपानें लेकर खड़े हो गए। हमने कहा,

कोई हमारे जीते-जी भीतर नहीं पहुँच सकता। उन्हें हमने सही-सलामत पाकिस्तान भिजवा दिया। इस सारे चक्कर में एक रात हवालात में भी काटी। उन दिनों कर्फ्यू लगता था। हमें घूमते देखकर उन्होंने अंदर कर लिया। हफीज़ का ये शेर उन दिनों बड़ा प्यारा लगता था–

हममें ही थी न कोई बात याद न तुमको आ सके
तुमने हमें भुला दिया हम न तुम्हें भुला सके!

हफ़ीज के पास बंदूक थी। एक दिन मैंने उससे कहा–इसे चलाओगे भी या खाली देखोगे ही। ये सुनकर वो रुआँसा हो गया। बंदूक को लेकर उसे छेड़ना फिर मैंने बंद कर दिया। हम महीना-भर शिमला रहे। फिर दिल्ली आने का प्रोग्राम बनाया। दिल्ली में रास्ते पर मृत्यु का जो तांडव था उसे देखकर ही बच्चे सहम गए थे। कोई चूँ तक न करता था। रास्ते में लाशें, बिलखते लोग, पगलाई औरतें–जैसे यमराज ही यहाँ से होकर गुजरे हों! दरियागंज में मेरा एक दोस्त रहता था, कुलदीपसिंह, हम उसके घर गए।

मेरी बीवी ने सामान वहीं रखा था। मैं बाजार गया तो एक लड़का मिला। उसका नाम बाबूसिंह था। उसने मुझे मोरीगेट में मकान ले दिया। हमने शुक्र किया। घर बनाने में मेरी बीवी बड़ी सुघड़ थी। वो वहाँ बैठी और घर बन गया। अब आखिरी पैसा भी खत्म हो चुका था। दौड़-धूप कर रहा था तो मेरी इसी किताब को छापने के लिए एक प्रकाशक तैयार हो गया। उसने मुझे दो हजार रुपए अग्रिम धनराशि दी। बीवी के आगे जाकर पैसे रखे तो वो हैरान हो गई। घर चल निकला। घर तो मेरा लाहौर में भी उसने जन्नत बनाकर रखा था। बड़ी अच्छी औरत थी।

मैंने पूछा, "बेदी साहब, जिंदगी में होश आने के बाद आपको सबसे पहले कौन-सी घटना याद आती है?" कहने लगे, "अजीब बात है। सबसे पहले मुझे गिरने का एहसास है। जैसे माँ के पेट में से निकलकर नीचे गिरने का एहसास हो। एक डर का एहसास। हमारे पिता पोस्टमैन थे। मैं लाहौर में पैदा हुआ। पोस्ट आफिस के पीछे हमारा क्वार्टर था। आगे बहुत बड़ा आँगन। बचपन में मैं बहुत बीमार रहता था। चौंक-चौंक उठता था। तब मुझे जम्मू में वैष्णों माता लेकर गए। तब से वैष्णों माता से मेरा ताल्लुक है। मुझे याद है, मुझे पिट्ठू ने उठाया था। मेरा छोटा भाई माँ की गोद में था। एक बार मुझे एक भैंस मारने आई। उसके बड़े-बड़े सींग मुझे अब तक याद हैं। किसी ने मुझे उठा लिया था,

वरना उसने मार ही डाला होता। अब तक उसकी दहशत है। फिर वैष्णों माता का भवन याद है। गुफा के अंदर से जो पानी आता है तब वहाँ कछुए होते थे, जो डराते थे। जब हम माता की गुफा में गए तो मेरा दम घुटने लगा। मैंने चीखें मारनी शुरू कीं। माँ-बाप वहाँ मत्था टिकाकर लाए तो पहली बार मैंने चना-मुरमुरा खाना शुरू किया। वापस आने पर मैं तंदुरुस्त हो चुका था। शैतानी भी करने लगा। उन दिनों मैं दूसरी जमात में पढ़ता था। घर में एक दिन मौलाना आए। मौलाना ने कहा—पढ़ो। मैंने इतना अच्छा पढ़ा कि मौलाना खुश हो गए। बोले—तुम दूसरी जमात में इतना अच्छा पढ़ लेते हो, तुम यकीनन कुछ बनोगे। मैंने कहा—मौलाना जी मुझे हिसाब नहीं आता। मौलाना ने कहा—हिसाब को गोली मारो! तब से मैंने हिसाब को गोली ही मार दी। हिसाब-किताब कभी आया ही नहीं। वहाँ हमारे पास एक ही कमरा था। एक आँगन बहुत बड़ा था। उस आँगन की कितनी ही यादें आज भी आँखों के सामने सजीव हो उठती हैं। बड़े प्यारे दिन थे। सारा दिन हम आँगन में खेलते रहते। उसकी कई यादें आपसे बात करते-करते आ रही हैं। मेरी माँ पढ़ी-लिखी थीं। पिता जी रोज लायब्रेरी में से एक किताब लाते थे। उन्हें पढ़ने का बड़ा शौक था। माँ बीमार ही रहती थीं। उन्हें तपेदिक था। पिता जी रात को दिए की रोशनी में किताब पढ़कर सुनाते तो हम सब उन्हें घेरकर बैठे रहते थे। मुझे इसीलिए किताबों से मुहब्बत बचपन में ही हो गई। बीज तभी पड़ गया। माँ हमारी रामायण पढ़ती थीं तो भी हम सब सुनते रहते थे। रामायण की चौपाइयों का जादू पूरे कमरे को घेर लेता था।"

बेदी साहब फिर अपने कमजोर हाथों को देख रहे थे। धीरे-धीरे कहने लगे, "मेरी माँ खत्तरी थीं। सुना है वो विधवा थीं। पिता जी उन्हें मजीठा गाँव से लाहौर लेकर आए थे। वहीं आर्यसमाज के मंदिर में उन्होंने शादी कर ली थी। पिता जी ने माँ को कहा था—तुम अपने धर्म का खयाल रखो। मैं अपने धर्म का रखूँगा। हमने बचपन में अपनी माँ से रामायण, महाभारत की कहानियाँ सुनीं और पिता जी से गुरुग्रंथ साहब की साखियाँ। दोनों मजहब मिलकर हमारे दिलों में एक हो गए। कभी लगा ही नहीं कि ये दो हैं। जैसे हमारे माँ और बाप दोनों एक थे, वैसे ही मजहब भी हमारे लिए एक ही थे। ...

"उन दिनों पढ़ने की लत लग चुकी थी। एक 'सुर्ख धब्बा' कहानी पढ़ी। अब तक याद है। फिर 'मिस्टरीज़ ऑफ कोर्ट ऑफ लंदन' पढ़ी। बड़ा अजीब

लगता। औरत और मर्द के संबंधों के बारे में सोचना पाप भी लगता पर उसे सोचे बगैर रहा भी न जाता था। एक कहानी में एक लड़का एक लड़की के पीछे पड़ गया। ऐसा क्यों हुआ, ये समझ में न आता था। उन दिनों हम जवान भी हो रहे थे। तभी हमारे पिता जी की ट्रांसफर लाहौर कैंट से लाहौर हो गई। वहाँ हमारे चचा प्रेस मैनेजर थे। प्रेस में छह-सात हजार किताबें थीं। हमारी मौजें हो गईं। बच्चे जब गली में या आँगन में खेलते रहते थे, तब मैं छत की मउंटी पर बैठा किताबें पढ़ता रहता था। गोंदनी के दरख्त के लाल-लाल फल होते थे। उनके खाने से होंठ लाल हो जाते थे। लड़कियाँ ये फल खाने के लिए गोंदनी के दरख्त पर चढ़कर चिड़ियों-सी चहचहातीं। फल खाकर थूक देतीं। एक-दूसरी को अपने लाल-लाल होंठ और जीभें दिखाती रहतीं। दुनिया में कुछ और भी इससे ज्यादा सुंदर हो सकता है क्या?

लड़के लड़कियों को छेड़ते थे। माँ-बाप से खूब डाँट पड़ती, पर बाज न आते। इन लड़कों में हम भी थे। एक बार माँ को पता चला तो उन्होंने महात्म्य सुनाया। एक आदमी ने औरत को छेड़ा तो क्या हुआ? माँ ने पता नहीं क्या कहा, मेरी समझ में ये आया कि इंसान खराब वो होता है जिसे बहुत-से लोग छेड़ें। हमारे मुहल्ले में एक सवित्तरी की माँ थी। तब औरतों के ऐसे ही नाम होते थे। लल्लू की पत्नी या कल्लू की माँ बड़ी लड़ाका थी वो। एक दिन मैंने उनसे कहा—तुम्हें बहुत लोग छेड़ते हैं, तुम खराब औरत हो। वो डंडा लेकर मेरे पीछे पड़ गई। उसके बाद मैंने तौबा कर ली। वैसे भी लड़कियों को छेड़ना अपनी फितरत में न था। देखना और बात है। देखते तो सभी थे।

"उन दिनों का लाहौर बड़ा खुला था। हमारे घर के पीछे खूब खुला आँगन था। स्कूल भी सामने था। लड़के गुल्ली-डंडा खेलते रहते। एक बार मास्टर ने मेरे छोटे भाई को मारा। उसे बुखार हो गया। मैंने मास्टर को जाकर कहा, मेरे भाई को इतनी बुरी तरह से क्यों मारा। इसे कभी मत मारना। शाम को पिता जी आए। जब उन्हें इस घटना का पता चला तो उन्होंने सीधे जाकर मास्टर को एक पटका दिया। उस दिन स्कूल बंद हो गया। इस खुशी में हम असली घटना भूल ही गए। आप सोच भी नहीं सकतीं, उन दिनों मास्टर कितनी बेरहमी से विद्यार्थियों को पीटा करते थे!... मार तो घर से भी पड़ती थी, पर ऐसे नहीं। अगर किसी लड़की की माँ आकर शिकायत करती तो मार पड़ती ही थी।"

मैंने पूछा, "छुटपन में आप लोग लड़कियों को छेड़ते थे?" हँसकर कहने

लगे, ''हमें छेड़ने का मतलब पता न था। वो तो ज़रा बड़े होने पर लगा। बचपन में बापू की उँगली पकड़कर गुरुद्वारा सिंह सभा हो आते। आर्यसमाज के मंदिर में भी जाते। घर पर पिता जी कुरान भी पढ़ते थे। उन्हें देखकर हम हैरान होते कि हमारा बाप इतना काबिल आदमी है। मुझे अच्छी तरह याद है, उन्होंने उर्दू में एक किताब भी लिखी थी। तब छपाई का रिवाज न था। वो किताब पता नहीं कहाँ रल गई। माँ के बीमार रहने से पिता काफी दुखी रहते थे। दोनों आपस में दोस्तों की तरह रहते थे। पिता जी ने उनकी बड़ी सेवा की। मैं दसवीं में था जब उनकी मृत्यु हो गई। जिस दिन उनकी मृत्यु हुई उस दिन उनके सिर पर कौआ बैठा था। माँ ने कहा—देखा, यमदूत आ गया है। आज मैं न बचूँगी! माँ के तीन लड़के थे, एक बेटी थी पर बीमारी की बजह से वो न घर सँभाल सकती थीं न औलाद। हमसे बहुत प्यार करती थीं। पास आने को मना करती थीं। उन दिनों तपेदिक लाइलाज बीमारी थी। अछूत की तरह बीमार के साथ व्यवहार करते थे। पर हमारे पिता जी ने माँ को कभी एहसास भी न होने दिया कि उन्हें तपेदिक है। जब माँ की अस्थियाँ गंगा जी में प्रवाहित करके लौटे तब हम अमृतसर में फिल्म देखने गए थे। मुझे याद है 'सोहनी महिवाल' फिल्म थी। पिता जी अपने आपको बहलाना चाह रहे थे। भाभी के जाने का उन्हें बेहद ग़म था। अपनी माँ को मैं 'भाभी' ही कहता था।''

मेज पर पड़ा एक लिफाफा बेदी साहब ने सूँघा। फिर बोले, ''इसमें भी खुशबू है। माँ की मौत के बाद मैं पिता जी को चिट्ठी लिखता तो वो बड़े हैरान होते। मैं इतना बड़ा कब हो गया कि इतनी समझदारी की चिट्ठियाँ लिखने लगा। उन्हें यकीन ही न आता। माँ की मौत के बाद उनका तबादला टोबा टेकसिंह में हो गया। तब मैं अठारह बरस का था। पिता जी ने एक दिन कहा—एक लड़की गाँव में बड़ी सुंदर है। तुम्हारी शादी की बात करें। मैं शादी न करना चाहता था। पर घर में एक औरत की सख्त जरूरत थी, क्या कहता। ये औरत भी अजीब चीज है, इसके बिना घर तो हो ही नहीं सकता। मुझे शादी का मतलब तो पता न था, जाकर टिंडोंवाले खूह में छलाँग लगा दी। लोगों ने निकाल लिया। मैं कहूँ, शादी न करूँगा। पर सब इंतजाम हो चुके थे। फेरों के वक्त मैंने अपने ससुर के हाथ पर पास में पड़ा पत्थर दे मारा, पर शादी नहीं रुकी। मेरी शादी भी हिंदू-रीति से हुई थी।...

''उन्हीं दिनों वंदेमातरम् पर्चा निकलता था। मैंने उसके लिए कहानी

लिखी। वो पिता जी के पोस्ट आफिस से ही पोस्ट हुई। बात खुल गई। कहानी ब्रिटिश राज्य के खिलाफ थी। पिता जी को पता चला तो उन्होंने संपादक को कहा—इसे मत छापना, मेरी सरकारी नौकरी है। संपादक को यकीन ही न आया कि ये कहानी मैं लिख सकता हूँ। उसमें आजादी के लिए मर-मिटने का जुनून था। मेरी पहली कहानी थी। पर सँभालकर न रखी।"

बेदी साहब ने मेरे एक सवाल के जवाब में कहा, "लिखने के लिए मुझे पढ़ने ने मुत्तासिर किया। बहुत पढ़ता था मैं। किताबी कीड़ा जिसे कहते हैं।"

फिर उस दिन भी बेदी साहब अस्पताल से लौटे थे। एकदम अशक्त। कहने लगे, "आज ख़्वाब में मेरी बीवी आई थी। मेरी बहू वीना भी वहीं बैठी थी। मेरी बीवी ने मेरी बहू को कहा—इनके पाँव छुओ। पता नहीं क्यों कहा। मेरी बहू तो आगे ही मेरी इतनी सेवा करती है।"

मैंने कहा, "भाभी जी बड़ी सुंदर थीं और बड़ी जिंदादिल। ..." मेरी बात काटकर बोले, "शादी के पहले मैं उन्हें देखना चाहता था। मैं तो काला-सा था। दुबला-पतला। लोगों ने कहा—उसका क्या देखना, वो तो दिव्यजोत है। घर आकर उसने जब घर सँभाल लिया तो मेरे पिता बड़े खुश हुए। सारी जिंदगी उनकी पत्नी बीमार रही थी। घर में अच्छी सेहतवाली बहू को कामकाज में लगा देखकर वे खूब प्रसन्न होते थे। उन दिनों मैं भी जी. पी. ओ. में था। पिता जी तरक्की पाकर टोबा टेकसिंह चले गए थे। अकेले में उन्हें अच्छा न लगता था। एक रात वहाँ बीमार हो गए, इत्तिला मिलने पर मैंने उनकी तसल्ली के लिए बीवी को भेज दिया। उसके जाने के बाद घर खाने को दौड़ने लगता। अब मैं आराम-तलब हो गया था। ये बीवियाँ बड़ा सुख देती हैं। मेरी पत्नी मेरे सारे सुख-दुख ओढ़ लेना चाहती थी। तभी मैंने वो कहानी लिखी थी, 'अपने दुख मुझे दे दो।' कहानियाँ लिखकर कब तक काटता। मैं जवान आदमी था। महीने-भर बाद मैंने याद करना शुरू किया। घर आता तो घर मन की तरह सूना लगने लगता था। शर्म-हया छोड़कर पिता जी को लिखा—उसे भेज दीजिए। बस वे आ गईं। घर फिर से आबाद हो उठा। बड़ी खुशी के दिन थे। तभी पिता जी को दिल का दौरा पड़ा। मेरा अंदाजा है कि उनके पेट में कैंसर था। उन दिनों उसे जड़ोंवाला फोड़ा कहते थे। तभी मेरा पहला बेटा पैदा हुआ। वो महीने-भर का था तो पिता जी चल बसे। डेढ़ साल का बेटा हुआ तो वो भी भगवान को प्यारा हो गया।

"तब नरेंद्र पैदा हो चुका था। घर में सुकून था। मेरा लिखने का काम खूब जोरों-शोरों से हो रहा था। उन दिनों मैंने एक कहानी लिखी, 'जेबुन्निसा की जिंदगी'। कड़ी मेहनत करके लिखी थी। उसे लिखने के लिए मैंने फारसी में उसका कलाम पढ़ा। खूब मेहनत से कहानी लिखी। संपादक बड़ा खुश हो गया। उसने मुझे बुलावा भेजा। उसका इरादा मुझे स्टाफ में रखने का था। मैं गया तो मुझे देखकर उसका सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। वो कलम को हिलाने-डुलाने लगा। पर जब उसे यकीन हो गया कि मैं ही राजिंदरसिंह बेदी हूँ," ये कहकर बेदी साहब मुस्कुराए, "तब उन्होंने मुझे 'सारंग' रिसाला ऐडिट करने को कहा। दो-तीन साल मैंने वो रिसाला चलाया। इसकी लिपि उर्दू थी, पर वैसे था पंजाबी में। उन दिनों पंजाबी या उर्दू ही पढ़ी जाती थी। कुछ कहानियाँ मैंने पंजाबी में भी लिखीं। पर ज्यादा कद्र न हुई। उन्हीं दिनों अदबी दुनिया में मेरी कहानी 'महारानी का तोहफा' उस वक्त की बेहतरीन कहानी करार की गई। मैंने उसे फाड़कर फेंक दिया। उस पर टैगोरियत छाई हुई थी। मेरी पहली अदबी कहानी 'मौला' थी। फिर 'गर्म कोट' भी लिखी गई। मैं आम लोगों के बारे में लिखना चाहता था। इन्हीं कहानियों से मैं अदबी दुनिया में जम गया।"

मैंने पूछा, "वो क्या जज़्बा है जो आपसे कहानियाँ लिखवाता है?" कहने लगे, "ये मैं नहीं जानता। शायद कहानी का बेसिक खयाल मुत्तासिर करता है। जैसे 'बब्बल' है। इस कहानी का बब्बल मेरा देखा हुआ है। उस गोल-मटोल बच्चे ने ही मुझसे कहानी लिखवा ली। कहानी कायम रखने के लिए भी कुछ मुतासिर तो करना ही चाहिए। अब ये सफेद गोरा-चिट्टा लड़का! उसे काली औरत उठाए घूमती रहती थी। इन दोनों में से मुझ पर वो बच्चा ही छाया रहा। मैं ये सोचता हूँ कि कहानी अगर एक नशिस्त में हो तो अच्छा है। मेरे दिमाग में कहानी का अंत पहले आता है। फिर मैं कहानी को घसीट के उस अंत तक ले आता हूँ। अंत बड़ा जरूरी है। अहम है।

"लाहौर रेडियो में मैं स्क्रीप्ट राइटर लगा था। उन दिनों कुछ ड्रामे भी लिखे। एक 'हक मेहर' ड्रामा लिखा। बड़ा ही मकबूल हुआ। उन दिनों मेरी डेढ़ सौ रुपए तनख्वाह थी। दो बच्चे थे। जितना खुश मैं वहाँ था, उतना खुश कभी भी नहीं हुआ। मॉडल टाउन में मैंने कोठी ले रखी थी। तैंतीस रुपए किराया था। रेडियो में जो उपनिदेशक था वो कहता था, मन करे जब

आओ-जाओ। तब काम करने को भी खूब मन करता था। उन दिनों मैंने वहाँ एक प्रोग्राम शुरू किया—खतों के जवाब। बहुत खत आते थे। जवाब देने में भी बड़ा मजा आता था। कभी अगर खत न आतें तो दोनों तरफ का मज़मून खुद ही लिख लेता था। एक क्लब का मेंबर भी था। उन दिनों खूब ऐश कुट्टी। दोनों भाई भी मेरे पास थे। मँझला भाई मैट्रिक करके क्लर्क लग गया था। दूसरा एम. ए. का इम्तहान दे रहा था। इस बात का रंज भी होता कि मैं खुद नहीं पढ़ सका, बल्कि कभी-कभी जलन भी होती। एम. ए. करने के बाद मेरा भाई लैक्चरर लग गया। अब कोई जिम्मेदारी न रही। तुम्हारी भाभी तो उन्हें अपने बच्चों जैसा ही समझती थी। शादी के बाद उसने मुझ पर कभी कोई बोझ न पड़ने दिया। हम वहाँ इतने खुश थे कि क्या कहूँ। बस तभी बँटवारा शुरू हो गया। सबकुछ बँट गया।

"दिल्ली में एक जगह रफी अहमद किदवई मिले। उन्होंने मेरी कहानियाँ पढ़ी थीं। शेख अब्दुल्ला ने उनसे रेडियो शुरू करने के लिए किसी मुनासिब आदमी के लिए पूछा। किदवई ने मेरा नाम लिया। बस जम्मू-कश्मीर रेडियो का स्टेशन डायरेक्टर हो के मैं जम्मू पहुँच गया। भगवान की मुझ पर हमेशा ही कृपा रही। उन दिनों लड़ाई का जमाना था। एक जहाज में जवानों के लिए रसद जा रही थी। बोरियों पर ही हम लद गए। बाल-बच्चा-बीवी और बोरिया-बिस्तरा।

"वहाँ शेख साहब उन दिनों प्रधानमंत्री थे। उन्होंने मुझे विशेष अतिथि का सम्मान दिया। बड़े खलूस से मिले। उन्होंने कहा—हमने सुना है आप रेडियो का काम अच्छी तरह जानते हैं। हमारी दावत कुबूल कीजिए। मुझे और क्या चाहिए था। उन दिनों सिर्फ जम्मू में रेडियो स्टेशन खुला था। रेडियो स्टेशन क्या था, एक-दो कमरे थे। एक स्कूल से लिए गए थे। वहीं झंडा-वंडा लगाकर रेडियो खुला था। रहने के लिए मुझे शाहमीरी की कोठी मिली, जो शेख साहब के घर के सामने ही थी। शेख साहब अदीबों की बड़ी इज्जत करते थे। मुझ पर उनका बड़ा करम था। ये सब देखकर बक्शी साहब को बड़ी जलन होती थी। मैं सोचता, यहाँ रहूँ कि न रहूँ? फिर मेरे खिलाफ साजिश भी शुरू हो गई। बक्शी उन दिनों गृहमंत्री थे। उन्हें नाखुश करके कोई रियासत में रह न सकता था। शेख साहब के क़ैद होने से पहले ही मैं इस्तीफा देकर बंबई आ गया। फाकाकशी का आलम शुरू हो गया। बीवी-बच्चे अभी जम्मू में ही

थे। पाकिस्तान से आने के बाद अभी हमारे पाँव जमीन पर लगे ही न थे कि ये एक और झटका लगा। बंबई में मेरा साला रहता था। उसने दस दिन घर में रखा। अमर कुमार मेरे साथ था। एक किताब भी साथ थी–कोखजली। यहाँ एक प्रकाशक ढूँढ़कर मैंने उसे वो किताब छापने को दी। उसने बारह सौ रुपए अग्रिम धनराशि देनी स्वीकार की। छह सौ रुपए दे भी दिए। एक जगह दो चारपाइयाँ बिछाने की जगह मिल गई। दिन में सारा दिन खाली रहते थे। सामने एक मोची बैठकर काम करता था। मैं सारा दिन उसे काम करते हुए देखता रहता था। ये कैसे चमड़ा कमाता है, कैसे सिलाई करता है, कैसे पानी में से निकाल-निकालकर चमड़े को पीटकर मुलायम बनाता है, कैसे एक-एक कील ठोंकता है। यूँ ही दिन गुजर रहे थे कि किसी ने डी. डी. कश्यप से मिलवा दिया। हम परेल में उसके दफ्तर गए। उसने देखकर पूछा–क्या ये वही बेदी है जो कहानियाँ लिखता है? हमारी शक्ल देखकर ये अंदाजा लगाना मुश्किल था कि ये शख्स कोई अच्छा काम भी कर सकता है।" बेदी साहब ये कहकर ज़रा-सा हँसे। इसमें उनके अतीत के ठहाकों की परछाईं थी।

फिर बोले, "डी. डी. कश्यप मुझे कहानी व डॉयलॉग के लिए रखना चाहते थे। उन्होंने मुझे छह सौ रुपए माहवार देना चाहा। मैंने कहा, एक हजार लूँगा। अमर कुमार जो अपनी फाकामस्ती से वाकिफ था, खफा होकर कहने लगा–क्या नवाबी है! छह सौ रुपए की नौकरी पर लात मार दी। रहने को जगह नहीं है और अकड़ रहे हैं! अगले दिन फिर कश्यप ने बुलाकर छह सौ की ही आफर दी। मैं फिर एक हजार पर अड़ा रहा। आखिर वो एक हजार पर मान गया। उस वक्त एक हजार रुपए बड़ी रकम होती थी। जो सरदार मुझे उससे मिलवाने ले गया था, हजार कोशिश करने पर भी उसकी समझ में ये बात न आई कि मुझे एक हजार रुपए किस बात के दिए जा रहे हैं।

"बंबई आए दो महीने हो चुके थे। जम्मू मैंने कोई चिट्ठी-पत्तरी न लिखी थी। बीवी बेहद परेशान रही होगी। हम बंबई में हाथ-पाँव मार रहे थे। एक दिन मैं होटल में चाय पी रहा था। अपने ध्यान में मग्न था। धड़-से दरवाजा खुला। मैंने चौंककर देखा–मेरी बीवी खड़ी थी! उसने मुझे देखा और फुक्का मारकर रो पड़ी। बच्चे और सामान बाहर था। वो अपने भाई के घर गई थी। उसे तो कोई और जगह न थी, पर भाई ने उसे सामान भीतर न रखने दिया! इस भाई को हमने लाहौर में अपनी माडल टाउनवाली कोठी में कितने ही दिन रखा

था। पर इन बातों का कोई फायदा न था। मेरे बीवी-बच्चे उस लम्हा सड़क पर खड़े थे। बीवी रो रही थी। मैं बदहवास खड़ा था। मैं बाहर से सात सीटवाली बस ले आया। उसमें सामान, बीवी-बच्चे सब लादे और साले के घर गया। मुझे बेहद गुस्सा आ रहा था। उसे भी पकड़कर बस में डाला और घर ढूँढ़ने निकले। सात बँगले के पास एक सरदार का घर था। एक बड़ा-सा बँगला। उसके चार हिस्से थे। एक हिस्सा उसने हमें दे दिया। मेरे साले ने घर पर पानी तक न पूछा था। मैं बेहद गुस्से में था ही, तीन सौ रुपए महीने के किराए का बँगला खट से लिया। अक्सर गुस्से में आदमी ऐसी हरकतें कर बैठता है।"

मैंने देखा—यही असली बेदी हैं। हर सिचुएशन में कोई-न-कोई मजाक ढूँढ़ निकालना और इतनी सहजता से बड़े-से-बड़ा काम कर जाना। यही सहजता तो उनकी कहानियों में भी है।

बेदी साहब कह रहे थे, "किताब के बाकी पैसे भी मिल चुके थे। वही इस तैश के मौके पर काम आए। बीवी भी मुतासिर हो गई, साला भी। जो एक और सरदार मेरे साथ था, वो दुख के मारे बोल भी न पाया। वो समझता था, मैं नालायक हूँ। इनके इतने पैसे एक मुश्त देने पर उसकी घिग्घी बँध गई।

"शुरू में प्रकाशक ने जब इसी सरदार को पैसे दिए थे। तब वो माँगने पर मुझें सिर्फ़ दस रुपए देता था और कई बार हिसाब पूछता था। मैं बड़ा तंग था। आज उसे तंग करके मुझे रूहानी तस्कीन मिल रही थी। वो इस बात से भी मरा जा रहा था कि मुझ जैसे को एक हजार की नौकरी कैसे मिल गई। मेरा साला और वो सरदार दोनों ही इस बात का जवा़ब ढूँढ़ रहे थे। अब मैंने रहने को बँगला ले लिया था। कुछ दिन पहले मेरे पास चारपाई बिछाने की भी जगह न थी। हमने रहना शुरू किया, तो मेरी सुघड़ बीवी ने घर जन्नत बना दिया। धीरे-धीरे घर में कई नई चीजें आने लगीं। पाकिस्तान से तो हम एक चद्दर न लाए थे। अब बच्चे भी अच्छे स्कूलों में डाल दिए। शहर में उठना-बैठना शुरू हो गया। सारा दिन तो मैं दफ्तर में लिखता रहता था। वहाँ पर एक-दो लोग थे गीतकार, वो मुझसे बड़ा जलते थे। पता नहीं क्यों? मैंने उनका कोई बुरा न किया था। सुबह से शाम तक मैं टेबल पर बैठा लिखता रहता था। फिल्में, कहानियाँ और डॉयलॉग। लोगों ने कश्यप को कहना शुरू किया—इसे निकाल दो। कश्यप कहने लगे—इतना मेहनती और कौन हो सकता है। मेरी खुशनसीबी से मेरी पहली फिल्म 'बड़ी बहन' खूब चली थी। फिर 'दाग़' भी

काफी चली । उन्हीं दिनों एक और फिल्म बनी 'आराम' । वो नहीं चली तो इसी बिना पर यारों ने कहना शुरू किया—इसे निकाल दो । कश्यप बड़े भले आदमी थे । उन्होंने कहा—एक फिल्म नहीं चली, दो चली भी तो हैं । अब मैंने बाहर भी फिल्में लिखने की इजाजत ले ली थी । इधर-उधर लिख रहा था । भगवान की कृपा से काफी शोहरत हो गई ।

''मेरी बीवी अब मकान बदलना चाह रही थी । अपने भाई के घर जाने को मेरे पीछे पड़ी हुई थी । साले ने भी घर में आना-जाना शुरू कर दिया । अब मेरा साला होना उसके लिए प्रतिष्ठा की बात हो चुकी थी । उन दिनों खालसा कालेज के प्रिंसिपल सोढ़ी साहब थे। उनका घर वहीं पास में था। साल-भर का किराया देकर हम वहाँ रहने लगे । साल-भर बाद उन्होंने घर छोड़ने के लिए मिन्नतें करनी शुरू कर दीं तो हमें वहीं पास में ही एक घर किराए पर मिल गया । वो घर बड़ा सुंदर था । सामने बाग भी था । फिल्मों में अपना काम जम चुका था । उन दिनों मैं ऋषिकेश मुकर्जी के साथ काम कर रहा था । उन्हीं दिनों सोहराब मोदी की फिल्म 'मिर्ज़ा ग़ालिब' भी लिख रहा था । ये फिल्म भी बड़ी चली । इसे सोने का तमगा भी मिला । मोदी मुझे दिल्ली ले गए, लेकिन क्रेडिट सारा खुद पी गए ।''

बड़े दिनों के सोच-विचार के बाद मैंने धीरे-से बेदी साहब से ये सवाल पूछ ही लिया कि लोग आपके बारे में बड़ी खुशगवार बातें कहते हैं, इसमें कुछ सच भी है या सब बातें ही हैं ? बेदी साहब ने अपने माथे पर हाथ रखा । फिर बोले, ''मेरी बीवी को मुझ पर बड़ा शक रहता था । इस बात से बड़ी कोफ्त होती थी । उन दिनों एक अंग्रेज औरत मेरी जिंदगी में आई । इस बात को तीस बरस से ऊपर हो गए हैं । वो घर भी आती-जाती थी । पता नहीं क्यों, उस पर मेरी बीवी को शक न होता था । दोनों खूब प्यार से बैठा करतीं । वो मेरे साथ कई बार माथेरान भी गई पर बीवी को शक न हुआ । उसने समझा, काम से कहीं गया होगा । जब किसी ने लगाई-बुझाई की तो कहने लगी—उस मेम को इस सरदार में क्या दिखाई देगा ! काला-सा फक्कड़ आदमी है । तुम मुझे पागल समझते हो क्या ? ··· कहनेवाला दोबारा नहीं आया । बड़ी सादा औरत थी मेरी बीवी । उस मेम से मेरी एक बेटी भी है । जब मैं लंदन गया था तब मिलने आई थी । मैंने उसे बाज़ारों में घुमाया, कई तोहफे ले दिए । उस औरत के काफी देर तक खत आते रहे, फिर मैंने ही मना कर दिया । कोई ताल्लुक तो रहा न था ।

उन्हीं दिनों मैंने एक अलग कमरा भी लिया हुआ था। वहाँ मुझे औरतें अक्सर मिलने आया करती थीं। एक बार मैं अकेला कुछ लिख रहा था तो धड़-से दरवाजा खुला। सामने सज-धजकर मेरी पत्नी खड़ी थी। मैं हक्का-बक्का रह गया। इत्तिफाक की बात थी कि मैं अकेला था। बीवी ने बड़े आराम से कहा—मैं इस तरफ शॉपिंग करने आई थी। सोचा, आपसे मिलती चलूँ। होश में आने के बाद मैंने कहा—देख लो, पढ़ने का काम कर रहा हूँ। तुम्हें पता नहीं कोई क्या-क्या कह देता है। असल में उसके देवर उसकी तरफ थे। उसके लिए जासूसी करते थे। मेरी गतिविधियों पर नजर रखना मेरी बीवी का मुख्य काम था।" बेदी साहब फिर हँसे। फिर उदास होकर कहने लगे, "मेरा जी चाहता है मैं अपनी जिंदगी के वाकयात से आपको भरकर भेजूँ पर क्या करूँ कुछ याद ही नहीं आ रहा। अब फिर मेरा दिमाग खाली होने लगा है। थक रहा हूँ। जैसे सारी ताकत छीनकर कोई भाग रहा है।"

एक शेर-सा आदमी, पहाड़ जितना लेखक धीरे-धीरे घुल रहा है। आसपास के लोग सिर्फ दुख बाँट सकते हैं, दर्द नहीं। मैंने एक दिन इस्मत चुगताई से कहा—बेदी साहब कितनी बातें अधूरी छोड़ देते हैं। पूछने पर उन्हें याद ही नहीं रहता। आप उनके बारे में कुछ बताइए न। इस्मत आपा कहने लगीं—बड़ा प्यारा आदमी है। हम चार थे। किशन, मंटो, बेदी और मैं। दोस्तों की तरह घंटों बातें करते रहते थे। बेदी अपनी बीवी के दीवाने थे। उसके आशिक थे। उसकी मौत के बाद ठीक ही नहीं रहे। बड़ा भोला आदमी है। मुझे याद आया, बेदी साहब की पत्नी की मृत्यु पर जब हम अफसोस करने गए थे तो बेदी साहब ने कहा था—मेरी जिंदगी की दिलचस्पी ही खत्म हो गई। अब मैं गुनाह भी करूँ तो उसमें लज्जत नहीं। कोई भी परवाह करनेवाला न रहा। उसे कितनी फिक्र रहती थी।

आपा कह रहीं थीं—बेदी के माँ-बाप उन्हें बहुत प्यार करते थे। इन्हें बड़ा होने तक बच्चा ही समझते रहे। इनकी तामीर मुहब्बत पर हुई है। बड़ा जज़्बाती आदमी है। इसकी बीवी बड़ी प्यारी थी। मुझे पहली बार मिली तो आँखें दिखाकर बोली, मेरे मियाँ से बात करोगी तो आँखें नोंच लूँगी! मैंने कहा, जा-जा, मुझसे मुट्ठी-भर तो छोटा है तुम्हारा मियाँ। ऊपर से भोंदू, फिर दाढ़ीवाला! दाढ़ी से मुझे मौलवी की याद आती है! मैं इस सरदार का क्या करूँगी? बस हमारी दोस्ती हो गई। फिर वो तुनक के बोली, तुम कितनी बेशर्म

हो ! मर्दों से बढ़-चढ़कर बात करती हो । मैंने कहा, क्यों न करूँ, तू भी कर। फिर मुझे कहने लगी—जा, जाकर देख, तेरे मियाँ कुछ खा रहे हैं या नहीं। उनका भी खयाल रखा कर। मैंने कहा, मैं क्यों रखूँ, तू ही रख। वो लड़ने की मुद्रा में बोली, मैं क्यों तुम्हारे मियाँ का खयाल करूँ, मैं अपने का करूँगी। मैंने भी जड़ दिया, मैं तुम्हें सिर्फ प्लेट देखने को कह रही हूँ, शाहिद के साथ भाग जाने को नहीं कह रही। वो बड़ी गुस्सा हो गई। कहने लगी, तुमने तो शर्म घोलकर पी ली है। तुम्हारे मुँह कौन लगे। जा-जा, बड़ी राइटर बनी फिरती है। ...ये कहकर आपा इतनी हँसी जैसे किसी बच्ची की बात पर हँसा जाता है। फिर कहने लगीं—बेदी बड़ा ही भोला था। इसे एक फिल्मी लौंडिया ले डूबी। उन दिनों इसने बीवी का खयाल नहीं रखा, वो मर गई। मर्द भोला हो तो औरत गधा बनाकर पालती हैं। एक बार, याद आ रहा है, हम सब लोग खंडाला गए थे। वहाँ मुल्कराज आनंद का बँगला है। तीन दिन पिकनिक मनाई। बेदी व उनकी पत्नी भी थे। क्या बताऊँ, कितने अच्छे दिन थे!

बेदी साहब ने अपनी फिल्म 'आँखिन देखी' शुरू की तो मुझे कहा—पद्मा जी, गीत आप लिखिए। मैंने कहा—मेरी खुशनसीबी होगी, पर मैं किसी म्युजिक डायरेक्टर के घर नहीं जाऊँगी। बेदी साहब औरतों का इतना एहतराम करते हैं कि पूरी टीम मेरे घर लाते रहे। उन दिनों भाभी जी मुझे अक्सर फोन करके पूछा करती थीं कि बेदी साहब के साथ कोई लड़की तो नहीं आती। मैं साफ मुंकर जाया करती। भाभी जी बड़ी सादा दिल थीं। मेरा यकीन कर लेतीं। पर हर बार झूठ बोलकर मुझे बड़ा खराब लगता। बेदी साहब को वो बच्चा समझती थीं। पर बुजुर्गों की तरह उनकी इज्जत करती थीं। बेदी साहब पर उन्हें बड़ा मान था। कई बार गुस्सा होतीं तो कहतीं—तुम क्या समझती हो, ये कहानियाँ खुद लिखता है? जो मैं दिन-भर बोलती हूँ वही ये रात को लिख लेता है।

उनका खयाल था, बेदी साहब इतने सादा हैं कि लोग-बाग उन्हें बरगला लेते हैं। और कुछ हद तक ये सच भी था।

पाँच मई को मैं जम्मू जा रही थी तो मालूम हुआ, बेदी साहब का ऑपरेशन होगा। मैं उनसे मिलने गई तो वहीं पर लेटे हुए थे, जहाँ नरेंद्र की मृत्यु के बाद मैं मिलने गई थी, तो बैठे थे। उस वक्त बरसों बाद मैंने उनमें जीने की चाह छटपटाती हुई देखी थी। उन्होंने रोते हुए कहा था—उसके कंधों पर मुझे जाना

चाहिए था। मैं अब क्या करूँ ? अब मैं बहू के लिए ठीक होना चाहता हूँ। इसके छोटे-छोटे बच्चे हैं। ये एकदम भोली है। इसे तो कुछ भी पता नहीं है। ...आज वहीं बैठे बेदी साहब कह रहे थे. पद्मा जी, अब मैं न बचूँगा, साफ दिखाई दे रहा है। अच्छा किया आप आ गईं। देखिए, मैं कितना दुबला हो गया हूँ। मैंने कहा—बेदी साहब, मोटे तो आप कभी न थे। कहने लगे—अच्छा ही था, नहीं तो मैं गोल-मटोल-सा लगता। फिर बोले—सुना है लोगों की बहुएँ बड़ी खराब होती हैं। पर मेरी बहू तो मेरी बड़ी सेवा कर रही है। मैं कैसे चुका पाऊँगा ? नरेंद्र था तो भी यही मुझे हमेशा देखती थी। पिछले जन्म में शायद मेरी माँ थी। मेरे सभी बच्चे बड़े अच्छे हैं। छोटा बेटा जर्मनी में है। मैं उसे खत अब नही लिख सकता। ये हाथ काम नहीं करता। आँख से भी कम दिखाई देता है। ये कहकर बड़ी हैरानगी से उन्होंने अपने हाथों को देखा। ये वही हाथ हैं, जिन्होंने 'मैली चादर' लिखी, जिन्होंने 'लाजवंती' की नोक-पलक सँवारी, जिन्होंने 'कोखजली' का दर्द जाना, उसे सहलाया, हौंसला दिया; आज यही हाथ एक बेटे को खत नहीं लिख सकते। फिर कहने लगे—आप आती हैं, बड़ा अच्छा लगता है। मेरे करीबी दोस्त भी कहाँ आ पाते हैं ? जिन लोगों को मैं बंबई लाने का जिम्मेदार हूँ उनके भी दर्शन नहीं होते।

सवा छह साल से बीमार पड़ा हूँ। लगता है इलाज अब शुरू होगा। कल अस्पताल में मुझे अनीमा दिया, उल्टियाँ करवाईं। मेरी चीखें निकल गईं। आज तक कमजोरी लग रही है। पता नहीं क्या होगा। आपके आने तक रहूँगा या नहीं। जाइए, मेरे लिए सही-सलामत वापस लौट आइए। जम्मू में मेरे कितने ही मित्र हैं, सबको मेरी याद दिलाइएगा।

रेडियो में जिन लोगों ने कभी भी काम किया है वो कहीं-न-कहीं से रेडियो के साथ जुड़े ही रहते हैं। जम्मू रेडियो के मँजे हुए कलाकार कल्चरल अकादमी के सह-सेक्रेटरी श्री जितेंद्र शर्मा से जब मैं बेदी साहब के बारे में जानने के लिए मिली तो उनकी आँखों में जैसे बचपन लौट आया।

उन्होंने कहा—जम्मू से 1948 में रेडियो चालू हुआ। शेख साहब सूचना एवं प्रसारण के भी मंत्री थे। पढ़े-लिखे लोगों का बड़ा अदब करते थे। वही बेदी साहब को जम्मू-कश्मीर रेडियो में लाए। बेदी साहब हमारे पहले निदेशक थे। स्टाफ कम था। एक आदमी ने कालेज में आकर पूछा—रेडियो में बोलने की दिलचस्पी किसे है। मैं और गीतकार यश शर्मा दोनों ने पैसों के बगैर काम

करना मान लिया। बेदी साहब ने हमें बोलना सिखाया। उर्दू के सभी प्रोग्राम बेदी साहब सँभालते थे। उन दिनों पाकिस्तान रेडियो से प्रौपेगंडा प्रोग्राम खूब होते थे। बेदी साहब ने एक प्रोग्राम शुरू किया। उसका नाम था—सिर्फ पाँच मिनट। इसमें पाकिस्तान द्वारा किए गए सब प्रोग्राम धो दिए जाते थे। कबायलियों के हमले से बेशुमार अत्याचार हुए थे। उन सबका ब्यौरा दिया जाता। 'आँसुओं का जेहलम' जैसे मुहावरे घर-घर में प्रचलित हुए। ये प्रोग्राम हर शख्स सुनता था। हमें वो बच्चे की तरह सबकुछ सिखाते थे। उनका घर शेख साहब की कोठी के सामने था। एक बार एक फाइल लेकर मैं उनके घर गया। बाहर एक सरदार अंडरवियर पहने बैठा था। दाढ़ी खुली थी। मैंने पूछा, बेदी साहब हैं क्या? उसने कहा, हैं, अंदर जाओ। मैं अंदर गया। उनकी पत्नी ने बड़े प्यार से बिठाया। तभी बेदी साहब कुर्त्ता-पाजामा पहनकर आए। मैं उठ खड़ा हुआ था। कहने लगे, डोगरे तो बड़े अच्छे सबआर्डिनेट होते हैं, तुमने अपने अफसर को नहीं पहचाना! एक बार नहर पर पिकनिक के लिए ले गए थे। हमें इतना हँसाया कि हमें वो अपने दोस्त लगने लगे। एक बार हम लड़के नगरोटा गए। वहाँ एक लड़के के पास रिकार्डों की लायब्रेरी की चाबी आ गई। उन दिनों रोज सुबह-शाम खुद बेदी साहब ट्रांसमिशन शुरू करते थे। हम बियर के नशे से ज़रा-सा उबरे तो उस लड़के ने जेब में हाथ डाला। चाबी देखकर वो घबरा गया। हम एक ट्रक रोककर उसमें बैठे और रेडियो पहुँचे। बेदी साहब ने प्रोग्राम शुरू कर दिया था। उन्होंने हमें कुछ न कहा। हम सब डरते रहे। तीन-चार दिनों बाद एक दिन बुलाकर सिर्फ ये कहा—ये बड़ी जिम्मेदारी का काम है। हम पानी-पानी हो गए। उनके लिए हमारे मन में बड़ा अदब था। कितनी ही घटनाएँ याद आ रही हैं। जम्मू रेडियो से बच्चों और बहनों का प्रोग्राम उन्होंने ही शुरू किया। पैसे न होते थे। एक थाल में मिठाई रख के बच्चों को बाँटा करते थे। ड्रामे भी उन्होंने ही शुरू करवाए। एक शख्स को एक मकान अलाट हुआ था। इसका मालिक पाकिस्तान भाग गया था। उसमें हजारों किताबें थीं। वहाँ कुरान शरीफ व इस्लाम पर कई किताबें थीं। बेदी साहब ये किताबें पढ़ा करते। हमारी ड्यूटी किताबें लाने-ले जाने की थी। जब बेदी साहब गए तो रेडियो पर मातम-सा छा गया। हम सब हिचकियाँ लेकर रोते रहे। मैंने कहा—शर्मा साहब, राजनीति के दलदल में कुछ देर के लिए हीरा भी छिप जाता है।

फिर मैं भूतपूर्व केंद्र निदेशक, हमारे जम्मू के श्री बी. पी. शर्मा से मिली। वो उन दिनों सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय में डायरेक्टर थे। बड़े कायदे के इंसान हैं। उन्होंने मुझे फाइल निकालकर बताया कि पहली दिसंबर 1947 को रेडियो का उद्घाटन महाराजा हरिसिह ने किया था। तीन जनवरी 1948 को बेदी साहब ने रेडियो का कार्यभार सँभाला और अगस्त में चले गए। काम शुरू करने के लिए ऐसा ज़हीन आदमी दूसरा न मिल सकता था। उन दिनों पाकिस्तान की प्रेस व रेडियो बेलगाम हो चुके थे। भारत के नेताओं के खिलाफ जहर उगला जाता था। इनका जवाब बेदी साहब ने शुरू करवाया। फौजियों की खबरें, शरणार्थियों की खबरें, हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए गीतों भरी कहानियाँ— काफी कुछ शुरू किया गया। इन्होंने पहली बार फौजी छावनियों पर जाकर प्रोग्राम किए। पहला प्रोग्राम सतवारी में हुआ था। ब्रिगेडियर उस्मान थे। उन्होंने बड़ी तारीफ़ की। अब तक ये प्रोग्राम बड़े मकबूल होते हैं।

बेदी साहब की जिससे भी बात करो, उसी के पास बेदी साहब के बारे में कहने को कितना ही कुछ है। ये सब उनके लिए लोगों के प्यार की निशानी है।

आज बेदी साहब बिस्तर पर हैं। ऑपरेशन हुआ है। बड़े कमजोर हो चुके हैं, पर औरत के भीतर आते ही अपने कमजोर शरीर से उठते हैं—अदब के लिए। औरतों का अदब करनेवाला ये अदीब कब तक बीमार रहेगा।

जो तारों की छाँव में चले

बैसाखी के मद-भरे दिन हैं। जम्मू के पास भगवाल गाँव के लोग सेओड़ा किले में बैसाखी का मेला देखने जा रहे हैं। दो-तीन हजार साल पुराने किले के अहाते में हजारों लोग आ सकते हैं। इस किले में बारहदरियाँ हैं, फव्वारें हैं, दीवारों पर चित्र हैं और पीपल के दरख्त हैं। अहाते में मेला लगा है। कंघी, शीशा, चूड़ी, सुरखी, दातुन, मिस्सी, सित्था और बिंदी सुहाग-पिटारियों में भर-भरकर सुहागिनें दान कर रही हैं। छोटे बच्चे हिंडोलों पर सवार हैं। गुड़ की पँजीरी को दोनों में रखकर खाना भूल गए हैं। मसालेदार कचालू खा-खाकर लड़कियाँ पत्ते जमीन पर फेंक रही हैं और तिल्लेदार परांदे को हवा में लहराकर फिर कंघी-शीशा देखने में होड़ लगा रही हैं। फौज से छुट्टी पर आए बाँके डोगरे सिपाही गोल बाँधकर खड़े हैं। केसरिया पगड़ियों को ज़रा-सा सरकाकर कान पर हाथ रखे भाक्खाँ गा रहे हैं–

चढ़ना बटोती बाला ढक्क
करदे लोक मोए सौ शक्क
दोहरा होई-होई जंदा लक्क
रख दे बैरी रातीं तक्क
उर्दू भला बसारे दा।

[बटोत का पहाड़ चढ़ते-चढ़ते लोग मुए शक करने लगते हैं। कमर दोहरी हो जाती है। रातों को दुश्मन घात लगाए रहते हैं। उर्दू को भूल जाना ही अच्छा है।]

मस्ती भरे इस आलम में बावड़ियों से नहाकर आती बुजुर्ग औरतें अपनी-अपनी गिद्दियों (गिद्दी एक चादर होती है, जो औरतें बदन पर लपेटती

हैं) को सँभालती, बिसनपते गाती हुई मंदिरों से लौट रही हैं। घर में चक्की पर दोपहर के लिए अनाज पीसती बहू हथेली का छाला फट जाने से गा उठती है–

आई ए बसाखी

लग्गी ऐ दोआसी ढोला साक्की लैई चल्लो नाले।

[बैसाखी आई है, उदासी लग गई है। परदेसी साजन हमें अपने साथ ले चलो।] घूँघट के बाहर उसका स्वर नहीं आता, यही रीत है।

किले के अहाते में एक हरिजन महाशय ढोल बजा रहे हैं। कुछ लोग उनके इर्दगिर्द जमा हैं। बच्चे नाच रहे हैं। बड़े-से ढोल पर बाँस की खपचियाँ ऐसे पड़ रही हैं, जैसे बड़ी-सी मटकी में दूध की धारें। इन महाशय का नाम है–चिड़ा। पास के गाँव राँबड़ी से आए हैं। उनके काले-चौड़े कंधों पर छह-सात बरस का एक लड़का बैठा है। ढोल की थाप पर ताल देता हुआ वह खिल जाता है और इन दूध की धारों को रस ले-लेकर पीता है। मेले के बाद थककर जब चिड़ा महाशय उसे नीचे उतारते हैं, तो बच्चा खुश होकर कहता है, 'दे, हुन ढोल मिगी दे।' [दो, अब ढोल मुझे दो।]

वह ढोल पर बैठकर बाँस की पतली खपचियाँ ढोल पर धीरे-धीरे पूरे ताल में यूँ मारता है, मानो खपचियाँ न हों, फूल हों। ज्यों ही ढोल से आवाज निकलती है, चिड़ा महाशय उसे प्यार से उठा लेते हैं और घर छोड़ आते हैं। बच्चे की माँ उसे गोद में उठाकर कहती है, ''रक्ख, अज्ज फी चिर लाई आऐआँ मड़ा। चल अंदर मुँह धोइयै रुट्टी खाई लै। [रक्ख, आज फिर देर लगाकर आया न! बच्चे, चलो मुँह धोकर कुछ खा-पी लो।]

बच्चा हँस पड़ता है। माँ के आँचल की ओट से चिड़े को निहारता हुआ अंदर चला जाता है।

कुछ दिनों बाद गाँव में मोरकी बुखार आता है। यह बुखार चिड़े को दबोच लेता है। रक्ख उसके पायँताने खड़े ढोल की तरह ही गुमसुम है। सूनी-सूनी नजरों से देखता रहता है। पंद्रह दिन के बुखार से लड़कर चिड़ा हार जाता है। जिन कंधों पर वह रक्ख को उठाए-उठाए घूमता था, वे झुक जाते हैं। उसकी अर्थी के पीछे-पीछे रक्ख जाता है। उत्सुकता से देखता है, अब चिड़े का लोग क्या करेंगे? जब वे उसे अग्नि के सुपुर्द कर देते हैं, तो वह चिल्लाता है। चिल्लाते-चिल्लाते बेहोश हो जाता है। बेहोश लड़के को उसके लाला जी घर

ले आते हैं। सात दिन तक बच्चा न सोता है, न कुछ खाता है। उसकी दादी उसे छाती से अलग नहीं करती। बेहोशी में चिड़ा-चिड़ा चिल्लाता है। महीना-भर चिड़े की शक्ल उसकी आँखों के आगे घूमती रहती है। गंडे, तावीज, सयाने सब हार जाते हैं। बच्चे की आँखों से मरघट का सीन नहीं जाता।

तबले से मुहब्बत

रक्ख के लाला जी ड्रामा कंपनी में काम करते हैं। दादी, बच्चों को बहलाने के लिए उन्हीं के साथ कर देती हैं। महीनों बाद बच्चा नई-नई जगहों पर जाकर सँभलने लगता है। ड्रामा कंपनी में कलूर गाँव का एक तबलिया है झंडू। अपने आपको झंडू कलूरिया कहता है। उस वक्त के मशहूर तबलानवाज मियाँ कादिर बख्श का शागिर्द है। बच्चे को गोद में बिठाकर तबला सिखाता है। बच्चा खुश हो जाता है।

यहीं से शुरू होती है अल्ला रक्खा की और तबले मुहब्बत की कहानी।

ड्रामा कंपनी को रासलीला भी कहते हैं। उसमें पूरण भगत, प्रह्लाद, रवि चंद व अभिमन्यु की भूमिका यह बच्चा करता है।

नगरी कस्बा जम्मू से थोड़ा दूर है। वहीं नवरात्रि में पड़ाव जमता है। रासलीला में छोटे रक्ख की भूमिका देखकर सब खुश होते हैं। ड्रामे में गाना भी पड़ता है। थोड़ा-थोड़ा गाना याद करते-करते गाने में भी रुचि हो जाती है। रासधारियों की ये ड्रामा कंपनी गाँव-गाँव जाती है। धीरे-धीरे यह लड़का बड़ा हो जाता है।

शाहपुर कंडी के पास एक गाँव है। सारी रात काम करके यह लड़का सो रहा है, तभी कोई कंकरी मारकर खिलखिलाकर हँसती हुई भाग जाती है। करवट बदलकर यह लड़का फिर सो जाता है। दूसरे दिन फिर वही कंकरी, वही खिलखिलाहट। गुस्साया हुआ लड़का उठता है। मूँगिया दुपट्टे में से चाँदनी की तरह हँसी बह रही है। दुपट्टा ओझल हो जाता है। लड़का आराम से सो रहा है। रात को रासलीला में स्त्रियों के झुंड में मूँगिया दुपट्टा ढूँढ़ता है। अँधेरे में कुछ दिखाई नहीं देता। पर दोहरे मोतिए-जैसा एक चेहरा बार-बार भीड़ में से उचक-उचककर मंच की तरफ निहारता है।

दोपहर बाद उठकर लड़का नदी पर नहाने जाता है। पीठ पर एक कंकरी

पड़ती है और आम के झुरमुटों में से मूँगिया दुपट्टा सरककर ओझल हो जाता है। अभिमन्यु बने हुए रक्ख को आज भी कहीं भीड़ में मूँगिया दुपट्टा नहीं दिखाई देता। दूसरे दिन गाँव में आखिरी दिन है। नदी पर नहाते-नहाते देर हो गई है। ठक्क से एक कंकरी पानी में गिरती है। आम के झुरमट के पास मूँगिया दुपट्टा अचल है। धीरे-धीरे सुस्ताते-झिझकते कदमों से लड़का वहाँ जाता है। चुनरी पकड़ लेता है। लड़की का नाम है शानो। हिंदू है। लड़का कहता है, "आज हम चले जाएँगे।"

"मिगी कन्ने लैई चलो।" (मुझे साथ ले चलो)

"कैसे, तुम हिंदू हो, मैं मुसलमान!"

दूसरी तरफ मुँह किए-किए लड़की कहती है, "मुझे सब मंजूर है। साथ ले चलो।"

लड़का मुग्ध है। हैरान भी। यह भी होता है क्या? जिंदगी में इतनी सुंदरता है। अहा! कैसा सुंदर मुख है शानो का। उत्तरा से भी सुंदर। सारा आकाश मूँगिया चुनरी में बँध जाने को तैयार है। कैसी अनुभूति है। क्या नाम है इसका। कितना अनदेखा रास्ता है। इस पर चलते कितना डर लगता है। भर्राए स्वर में अभिमन्यु उत्तरा को कहता है, "आज आओगी न, आज मैं फिर अभिमन्यु बनूँगा।" धीरे-धीरे उत्तरा चली जाती है।

मंच पर अभिमन्यु की आँखें भीड़ को चीरकर एक शरमाए हुए उस चेहरे पर जा रुकती हैं। अभिमन्यु की छाती पर लाल रंग के गुब्बारे बँधे हैं, जिनका लाल रंग है। उसी में छुरी मारनी है, ताकि खून निकले। लड़ते-लड़ते गुब्बारा कहीं खिसक गया है। आखिरी सीन है। छुरी पेट में घुस जाती है। असली खून का फव्वारा छूटता है। लड़का बेहोश हो जाता है। लोग 'हाय-हाय, यह क्या हुआ' कर रहे हैं। खन्न-से एक थैली आकर अभिमन्यु की छाती पर लगती है। उसमें बतौर इनाम चाँदी के बीस सिक्के हैं। लोग सिल्क का कपड़ा जलाकर खून रोकते हैं। घाव पर हल्दी-चूना लगाकर पट्टी बाँध देते हैं। हल्दी डालकर गर्म दूध लिए कोई खड़ा है, पर अभिमन्यु तो बेहोश है। पानी के छींटों से चौंककर उठता है। भीड़ देखकर उसे लगता है, कोई गलती हो गई। घबराहट में पूछता है, "मुझे पत्थर किसने मारा?"

लोगों ने कहा, 'ये रुपयों की थैली है, तुम्हें इनाम में मिली है।' इधर एक बात और हुई। चोट लगने के कारण अब गाँव से जाना नहीं हो सकता। जब

तक घाव न भरे, हिलना-डुलना मना है। अभिमन्यु रसोइए को चाँदी का रुपया देकर अपनी तरफ मिला लेता है। उत्तरा दोपहर के सन्नाटे में रोज मिलने आती है। अभिमन्यु कहता है, "रोती क्यों हो ? मुझे चोट नहीं लगती, तो हम यहाँ से चले गए होते।" उत्तरा उसका सिर सहलाती है, धीरे-धीरे।

अहसास रंगीन हो उठता है।

कई-कई गाँव घूमना पड़ता है। नए-नए लोग। पर एक चेहरा अब घाव के साथ ही जमकर कलेजे में ठहर गया है। और ठहरी गई है जिंदगी की ये पहली अनुभूति बिंदु-सी बनकर।

अब के ड्रामा कंपनी काँगड़ा गई है। दोपहर को सब खाना खाने के लिए नहा-धोकर आते हैं, तो देखते हैं, रसोइए का गला सूजा हुआ है। आँखों से गंगा-जमना बह रही हैं। पता चलता है कि एक बड़ा बंदर रसोइए को थप्पड़ मारकर सारा आटा छीन ले गया। और अब पीपल के दरख्त पर बैठकर दिखा-दिखाकर खा रहा है। बीच-बीच में दूसरे बंदरों को भी थोड़ा-थोड़ा फेंकता जाता है। सबको बड़ा गुस्सा आया। दोबारा बाजार से आटा लाकर गूँथा गया, फिर खाना बना। फिर तो यह किस्सा हर रोज होने लगा। बंदर कभी-कभी रोटियाँ ले जाए, कभी आटा। एक दिन दही की मटकी ले गया। पीपल पर बैठकर हाथ से निकाल-निकालकर खा रहा था। रक्ख ने एक पत्थर मारा, जो उसके हाथ पर लगा। मटकी गिर गई। बंदरों का हुजूम गुर्राने लगा। (यह बंदर उनका लीडर था)। रक्ख तो अब बाहर मुँह न निकाल सकता था। बड़ी मुसीबत हुई। उधर बंदर का घाव भी बढ़ता जा रहा था। कब तक चलता। रक्ख ने एक दिन बाजार से चीनी मढ़े चने मँगवाए और हिम्मत करके बंदर के पास गया। उसे चनें देकर उसका घाव धोया। मरहम-पट्टी की। लाल दवाई बाँधी और बंदर को अपने कमरे में ले आया। अब दोनों पक्के यार हो गए। एक आने रोज का खर्चा बढ़ गया। चीनीवाले चने तो उसे रोज ही खिलाने पड़ते थे। अब उसे आदत भी पड़ चुकी थी। सोते हुए रक्ख की चद्दर उतार लेता और बाजार चलने को कहता। यह गली-गली, वह पेड़-पेड़।

वहीं पर एक चतरकुंड बावड़ी थी। वहाँ भी दोनों रोज नहाने जाते। एक दिन रक्ख अकेला गया। वहाँ एक छोटा-सा बंदर इधर-उधर फुदक रहा था।

रक्ख ने उसे पकड़ा, तो सौ बंदर इकट्ठे हो गए। डर के मारे रक्ख ने बावड़ी के अंदर छलाँग लगा दी। वह निकलने की कोशिश करता, तभी बंदर गुर्राते। पानी से सिर, बस साँस-भर लेने को ही निकालता। किसी तरह आधा घंटा निकला। फिर सोचा, अब बचना मुश्किल है, मालिक को याद किया। कुछ गोते और खाए। तभी संयोग से वह यार बंदर उधर आया। उसने देखा, सारी बिरादरी जमा है, क्या मामला है। बावड़ी में झाँका तो देखा, यार मौत के मुँह में! एक ही घुड़की में उसने सबको भगा दिया। रक्ख को बाहर आकर आधा घंटा संयत होने में लगा। देर तक बंदर के गले लगा रहा।

दोस्ती का यह सिलसिला चल ही रहा था कि एक दुर्घटना हो गई। गाँव में एक दरख़्त के नीचे नौ-दस बरस की लड़की सो रही थी। बंदर ने उस पर झपट्टा मारा। लड़की ऐसी डरी कि मर ही गई। रक्ख के दिमाग पर ऐसा असर हुआ कि चार-पाँच महीने चुप हो गया। गम अंदर बैठ गया। फिर दादी की शरण में झाड़-फूँक होने लगी। दादी के और भी पोते हो गए थे, पर सबसे प्यारा यही था।

इस हादसे से ठीक हुए तो आवाज बदल रही थी। अब बच्चोंवाली भूमिकाएँ ज्यादा दिन तक नहीं हो सकती थीं। तभी शानो के गाँव जाना पड़ा। कई दिन तक वह नहीं आई। न उसका कुछ पता चला। आख़िर रसोइए को भेजा। मालूम हुआ किसी ने रक्ख की मौत की खबर उड़ा दी थी, सुनते ही वह पहाड़ से कूदकर मर गई। उसकी लाश भी कहीं तीसरे दिन मिल सकी। ऐसी थी शानो। रक्ख को एक और धक्का लगा। सारा-सारा दिन अकेले गाँव के पास की छोटी नदी पर बैठा रहता। वहीं पर दादी आकर खाना खिला जाए। वहीं से रात को उठाकर ले जाए।

कलूर गाँव की इस नदी पर बैठा-बैठा ये लड़का बौरा गया। एक दिन लाला जी ने कहा, "कुछ करने की क्या जरूरत है, घर पर बैठकर खाओ।" बस, यही बात उसे चुभ गई। दीवानगी के आलम में उन दिनों उसे अजीब तरह की आवाजें आती थीं--जाओ, जाओ, भाग जाओ, अब तुम चले जाओ। सबसे दूर यह नदी ही थी। कहीं जाकर बैठा रहता। घरवाले परेशान हो गए।

करीब की आवाज, दूर का सफर

फिर एक रात जब वह नदी पर था, तभी बुशारत हुई। वह आवाज बड़े करीब

से आ रही थी—जाओ, भाग जाओ ! तभी आसमान से एक रोशनी दरिया में जाकर गिरी। लड़के की आँखें चुँधिया गईं। नीम बेहोशी की सूरत में घर के लोग उठाकर ले गए। लड़के ने भागने का फैसला कर लिया। ...

यह कहकर उस्ताद अल्ला रक्खा खाँ उस लड़के के बारे में बताते-बताते भर्राए हुए गले से बोले, "शानो के मरने का दुख आज तक नहीं गया। जैसे पेट पर छुरी के घाव का निशान है, वैसे ही सीने में उसका निशान है। एक काँगड़ी है, जो जलती रहती है। अपने होने का अहसास दिलाती है। मन ऐसा उचाट हुआ कि फिर कहीं न लगा। अब तो हमारा गाँव पाकिस्तान में है। जब मैं वहाँ गया तो मेरी दादी मेरी थाली कलेजे से लगा-लगाकर मर चुकी थी और वह थाली मेरी माँ के पास थी, जिसे वे अंदर से निकाल लाई। कहने लगी, 'रक्ख, यह थाली पहचानते हो।' बरसों बाद उस्ताद अल्ला रक्खा ने अपनी माँ के मुँह से रक्ख नाम सुना था। मैं उससे लिपट गया। हम दोनों कितनी देर रोते रहे। यादें ताजा हो गईं।

"जब हमारी ड्रामा कंपनी का बहुत नाम था, तो लोग काफ़ी जलते थे। अक्सर हम कृष्ण किसी हिंदू लड़के को ही बनाते थे। अब सिर्फ मुसलमानों ने मिलकर एक नाटक कंपनी बनाई। उसमें कृष्ण भी एक मुसलमान लड़के को बना दिया। अब नाटक खेला जा रहा है। राधा कहती है, 'शाम मेरा छल्ला कहाँ है ? मैंने दूध में दो मन पानी मिलाकर बेचा, तब जाकर छल्ला बना। बताओ कहाँ है मेरा छल्ला ?' कृष्ण नया लड़का बना था। घबराकर बोला, 'अल्लाह कसम, मैंने नहीं लिया।'

"सारा पंडाल हँसी में डूब गया। फिर उसी लड़के को एक दिन इंद्र बनाया। लड़का रात-भर जागा हुआ था। दृश्य कुछ इस प्रकार था—इंद्र सिंहासन पर बैठे हैं। प्रहरी कहता है, वशिष्ठ मुनि आ रहे हैं। इंद्र तो सो गए थे। प्रहरी ने फिर आवाज लगाई—वशिष्ठ मुनि आ रहे हैं। इंद्र बना हीरो हड़बड़ाकर बोला, 'बिस्मिल्लाह, आने दो !' लोगों ने वो जूतम-पैजार की कि कंपनी बंद हो गई।"

हमारी हँसी की आवाज शायद बावर्चीखाने तक भी पहुँची और भाभी भी आ गईं। कहने लगीं, "कुड़िए, इनके दादा तो फौज में थे। 1914 की जर्मनी की

लड़ाई में उन्हें सात गोलियाँ लगी थीं। डोगरा रेजिमेंट में बड़ा नाम था उनका। इनके लाला जी के ड्रामों से ही वे कहाँ खुश थे। खाँ साहब कहने लगे, "उनकी पेंशन लेने मैं ही हर महीने गुरदासपुर जाता था। मेरे पैदा होने पर दादी ने दो गायें खरीदीं कि यह दूध पीकर तगड़ा होगा और फौज में जाकर अपना नाम रोशन करेगा। पर अपना मन तो तबले में था। जब मैं दो साल का था, तबला ऊँचा पड़ता था।" अतीत में गुम होते खाँ साहब आँखें मूँदकर बैठ गए और बोले, "भाई नसीरा की गोदी में बैठकर घंटों तबला बजाता। भाई नसीरा भी मियाँ कादिर बख्श के शागिर्द थे। उस्ताद की बातें सुन-सुनकर मन होता वहीं जाऊँ, एकलव्य की तरह घंटों उस्ताद का ध्यान करके तबला बजाता रहता। उस्ताद को रिझा पाऊँगा कि नहीं, यही सोच रहता। मंजिल एक छलावा-सा लगती थी। फिर नदी किनारे बुशारत होने के बाद गाँव परदेस लगने लगा था। वह आवाज आखिर घर से ले ही गई। मेरे भागने में मेरी माँ शरीक थी। उसने दूध के आटे में रोटियाँ बना दीं, जो कई दिन चलीं। मुँह अँधेरे गुरदासपुर की बस में जा बैठा था। उसमें एक फकीर भी था। तबला-पेटी देखकर मुस्कुराया। कहने लगा, 'बच्चा फिक्र मत करो, हम तुम्हारी मदद करेंगे।' गुरदासपुर में एक सराय में ठहरा। वहाँ सराय में भी वह फकीर आता रहा।

"कमरे में तन्हाई के अलावा मैं होता या फिर तबला। जितने ठेके याद थे, बजाता रहता। सराय के मैनेजर ने कहा, 'लड़के, कोई बोर्ड लगाओ, तो लोगों को पता चले कोई सिखानेवाला है।' और एक बोर्ड उर्दू में लिखवा लिया—यहाँ बाजा-तबला सिखाया जाता है। सब देखकर हैरान होते। नाम हो गया छोटा मास्टर। तीन-चार शागिर्द भी जुट गए। बारह रुपए महीना आने लगा। गुजारा अच्छा चल निकला। कमरे का किराया भी तीन रुपए ही था।"

उस्ताद का बुलावा

"उन्हीं दिनों गुरदासपुर में संगीत-समारोह हुआ। वहाँ एक ध्रुपद गानेवाला आया। किसी पखावजी से ठीक बजा नहीं, ध्रुपदिया काफी नाराज हो गया। लोगों ने कहा, 'यहाँ एक लड़का भी है। उसे बुलाकर देखो।' कहनेवाले ने तो शायद जुगत की होगी, पर उनमें से एक कार्यकर्ता मेरे पास आकर पूछने लगा, 'कांफ्रेंस में बजाओगे।' मैंने कहा, 'जरूर।' मालिक की मेहरबानी थी, ध्रुपद गवैए ने उस दिन जो कुछ भी गाया, वह मुझे याद था। रियाज भी खूब था। 19 मात्रा का

इंद्र ताल डेढ़ घंटा-भर बजाया। लोग खुश हो गए। गायक ने भी शाबाशी दी। बस, फिर तीनों दिन बजाया। रोज के दस रुपए मिले, जो घर भिजवा दिए।

''अब शागिर्द हो गए पंद्रह। सारा दिन रौनक लगी रहती, पर अब गुरदासपुर से भी मन उचाट होने लगा। छह महीने वहाँ रहा। खयाल आया, लाहौर में चाचा हैं और मेरे उस्ताद भी वही हैं, वहीं जाना चाहिए। थोड़े पैसे रखकर बाकी घर मनीऑर्डर कर दिए। तभी लाला जी गुरदासपुर आ गए। मैंने धुआँ तक न निकाला। उनकी आवभगत की। वे बहुत खुश हुए। दूसरे ही दिन वे लौट गए। उनके जाते ही मैंने सराय का किराया चुकाया। बाजा-पेटी उठाई और लाहौर की बस में जा बैठा। चाचा मुगलपुरे की चुंगी के पास रहते थे। उनकी परचून की दुकान थी। वहीं बैठने लगा। लगन क्या-क्या नहीं करवाती। वहीं पास में तेज़ाब अहाता था। जहाँ गाना-बजाना होता था। चाचा ने उन लोगों को कहा, 'मेरा भतीजा भी तबला बजाता है।' दावत मिल गई। वहाँ मैंने दीपचंदी ठेका बजाया। यह सात मात्रा में होता है। और भी कई बजानेवाले थे, पर मालिक ने मेरा नाम किया। लोगों ने कहा, 'अल्ला रक्खा नै सारे गी पिन्जी ओड़ेया।' (अल्ला रक्खा ने सबको धुनकर रख दिया।) उम्र भी कम थी। लोग मुहब्बत भी खूब करते थे।

आंखिर इंतजार रंग लाया। उस्ताद मियाँ कादिर बख्श ने बुलावा भेजा। यकीन ही न आ रहा था। मंजिल सामने थी। बस कुछ कदम का ही फासला था। धड़कते दिल से गया। उस्ताद ने प्यार से बिठाकर पूछा, 'कहाँ से आए हो?'

'' 'जम्मू से।'

'' 'डुग्गर से?'

'' 'हाँ, जी।'

'' 'क्या करना चाहते हो?'

'' 'आपसे सीखने आया हूँ।'

''उस्ताद ने पूछा, 'तबले पर हाथ किसने रखवाया?' मैंने कहा, 'आपने।'

'' 'उस्ताद हैरान होकर बोले, 'मैंने तो तुम्हें कभी देखा नहीं।'

''मैंने हलीमी से कहा, 'मैंने तो देखा है।'

'' 'सुब्हान अल्लाह', उस्ताद के मुँह से बेसाख्ता निकला।

''मैंने कहा, 'मैं सही विद्या सीखना चाहता हूँ। घर छोड़कर इसीलिए आया हूँ।'

''उस्ताद ने खुश होकर शागिर्द बना लिया। गंडा बाँधने की रस्म हुई। उन दिनों हर बार उस्ताद को नजर देने का रिवाज था। चाचा की दुकान के गल्ले से पैसे चोरी होने लगे। दो-तीन ट्यूशनें भी मिल गईं। मैंने सोचा, चोरी खराब काम है। चोरी के पैसे से क्या विद्या आएगी? वहाँ रेलवे क्वार्टर में कुछ लोग सीखना चाहते थे। वहीं काम शुरू कर दिया। नजर के पैसे इकट्ठा होते, तो उस्ताद के पास चला जाता। एक और तिकड़म की। उन दिनों मंदिर में मुसलमान न जा सकते थे। वहाँ एक तबलिए की जरूरत थी। मैंने अपना नाम भाई रक्खा रख लिया। मंदिर में बजाने लगा। जलसों में भी बजाता रहा। पैसों की कमी न रही।

रेडियो स्टेशन पर नौकरी

''तभी लाहौर में डब्ल्यू. एम. सी. हॉल के एक छोटे-से कमरे में रेडियो स्टेशन खुला। वहाँ मुझे संगीतकार की हैसियत से पंद्रह रुपए माहवार की नौकरी मिल गई। उन दिनों पंद्रह रुपए बहुत हुआ करते थे। स्टेशन डायरेक्टर जेड ए. बुखारी थियेटर की मानी हुई हस्ती थे। बड़े काबिल और कद्रदान थे। अनारकली के सभी किरदार वे रेडियो पर अकेले ही निभा लेते थे। उन दिनों सभी कार्यक्रमों को सीधा प्रसारित किया जाता था। तब रेकॉर्डिंग का इंतजाम न था। नाटक का यह काम काफी मुश्किल हुआ करता था। चुन-चुनकर कलाकार बुलाए जाते थे। मैंने उस्ताद आशिक अली खाँ साहब से संगीत भी सीखा था। इसलिए नई नौकरी में मुझे कोई दिक्कत पेश न आई। वहाँ सारा माहौल अदबी था। छह साल मैं लाहौर में रहा। क्या जमाना था। रेडियो स्टेशन तब संस्कृति का गढ़ होता था, कोई ऐरा-गैरा वहाँ घुस नहीं सकता था।

''उन दिनों रेडियो स्टेशन में हर कोई अपने फन का उस्ताद था। एक-से-एक फनकार रेडियो स्टेशन पर आते थे। बुखारी साहब मेरे काम से इतने खुश थे कि जब 1936 में वे दिल्ली आए, तो मुझे भी अपने साथ ले आए। मैंने कहा, 'मैं वहाँ क्या करूँगा?' कहने लगे, 'अपने मन से सोचो।' उन दिनों तबला खाली संगत के लिए होता था। मैंने हर हफ्ते पंद्रह मिनट सिर्फ तबले का कार्यक्रम प्रारंभ किया। तभी पेशावर, लाहौर, काबुल और पंजाब से चिट्ठियाँ आनी शुरू हो गईं, जिसमें श्रोताओं ने लिखा था कि यह कार्यक्रम हफ्ते में चार

दिन होना चाहिए। बुखारी साहब बहुत खुश हुए। इनाम के बतौर बुखारी साहब ने एक नई घोषणा की और यह थी दिल्ली में पचास रुपए की प्रतियोगिता–जो अल्ला रक्खा को तबला बजाने में हराएगा, उसे यह इनाम मिलेगा। रेडियो की नौकरी के बाद मुझे हरानेवाली महफिल गुलजार हो उठती। वहाँ मेरा एक दोस्त था, अब्दुल हुसेन नगीनेवाला। वह हमेशा बताता, कौन-से ठेके पर तैयारियाँ हो रही हैं। मैं कमरे में घुसते ही बजाना शुरू कर देता। मैं ताल भी न गिनता। बस शुरू हो जाता। यह प्रतियोगिता महीना-भर चली। आखिर प्रतियोगिता का वह पचास रुपए का इनाम मैंने ही जीता।

"जीत के बाद बुखारी साहब खुश होकर बोले, 'बताओ तुम्हारी कितनी तरक्की करूँ?' साठ रुपए मिल रहे थे। मैंने कहा, 'बस, अस्सी रुपए कर दीजिए।' घर भेजने के बाद भी पैसे खत्म न होते थे। अब दिल्ली से बुखारी साहब बंबई तबादला हुए तो मैं बंबई आ गया। वह 1943 का जमाना था। रेडियो स्टेशन में ही रहता भी था। एक ही धुन थी।"

मैंने पूछा, "खाँ साहब, इन दिनों जम्मू नहीं गए।" कहने लगे, "भागने के पाँच साल बाद जम्मू गया था। वहाँ खरोटे का टिक्का साहब मेरा मित्र था। उसके पास सुनने के लिए बैटरी का रेडियो था। सभी उसे रेडुआ कहते थे। मुझे याद है, कर्णसिंह जब तीन बरस के थे, उनकी सालगिरह मनाई जा रही थी। शेर और हाथी की लड़ाई हुई थी। हाथी को दो गैलन शराब पिलाई गई थी। शेर ने अपने दोनों पंजों से हाथी के दाँत तोड़ दिए थे और उसके सिर पर जा बैठा था। महाराजा हरिसिंह को पोलो खेलने का बड़ा शौक था, बंबई में महाराजा हरिसिंह मुझे 'सुर-सिंगार संसद' के कार्यक्रम में मिले थे। बड़े प्यार से बात की। कहने लगे, 'डोगरों को आप पर बड़ा फख है।' उनकी आँखें भर आईं। डॉ. कर्णसिंह भी जब मिलते हैं, बड़े प्यार से मिलते हैं।"

मैंने खाँ साहब से पूछा, "आपकी शादी कब हुई?" खाँ साहब बोले, "इस तरफ कभी ध्यान ही न जाता था। तबला ही सबकुछ था।" तभी भाभी जी नहा-धोकर बाहर निकलीं। हँसती हुई बोलीं, "इनको तब लड़की कौन देता? एक जगह मँगनी हुई थी। जब उन्हें पता चला ये गाते-बजाते हैं, तो शादी से आठ दिन पहले मँगनी टूट गई।" यह सुनकर खाँ साहब अपने शागिर्दों को

सिखाने दूसरे कमरे में चले गए, तब मैंने भाभी जी को कुरेदा और खाँ साहब, परिवार के बारे में ज्यादा जानकारी लेनी प्रारंभ की। मेरे सवालों का एक साथ जवाब देते हुए, वे कहने लगीं, "मेरा गाँव भी इनके गाँव के पास ही था। हॅरड़ डोगरा इलाका था। हमने तो कोई और जबान कभी सुनी ही न थी, जबान तो यहाँ आकर खराब हुई।"

मैंने पूछा, "भाभी जी, खाँ साहब तो चौदह-पंद्रह बरस की उम्र से ही घर छोड़कर आ गए थे। उम्र-भर विदेशों में रहे। उनकी जबान तो खराब नहीं हुई।" कहने लगीं, "मैं काफी छोटी थी, फिर कुछ नौकर लखनऊ की तरफ के थे, उन्हीं की मेहरबानी से जबान खराब हुई और मैं अपनी जबान भूल ही गई। जर्मन की जब लड़ाई हुई तब मैं पैदा हुई थी। खाँ साहब के दादा मेरे नाना थे। खानदानी रिश्ता था। जब मँगनी टूटी, तो इनके लाला जी (जो मेरे मामा होते थे) आकर हमारे आँगन में बैठ गए। बोले, 'उठूँगा तो डोला लेकर उठूँगा।' सबने कहा—एक दूध है, रिश्ता नहीं होना चाहिए। पर मेरी माँ ने भाई को मना नहीं किया। हमारी मँगनी हो गई।" तभी खाँ साहब भी हमारे बीच आकर बैठे। हँसकर बोले, "इनका भाई तालिब खुद दस नंबरी बदमाश था, पर मुझे देखने बंबई आया कि मैं क्या करता हूँ।" इसके जवाब में भाभी बोलीं, "इनके बारे में इतनी अफवाहें सुनते थे, इसलिए वह इन्हें देखने तो जरूर आता।"

और अब भाभी की सुनाई कहानी उनके ही शब्दों में—"बस समझो कि शादी भी ड्रामे की तरह हुई। उस दिन इतनी ज़ोर से बारिश हुई कि दरिया चढ़ गए। खाँ साहब आगे घोड़े पर थे, मेरा डोला पीछे आ रहा था। एक दरख्त पर बिजली गिरी, जिसके दो टुकड़े हो गए। खाँ साहब ने घोड़े की रास खींच ली। इतनी मुश्किल से बीवी मिली है, कहीं डोले पर तो नहीं गिरी। तब सबने कहा—मामा और भानजी इकट्ठे नहीं होने चाहिए। मेरे ससुर पीछे हो गए। फिर हम सब ताँगे में जाकर बैठे। थोड़ी देर बाद ताँगे का एक पहिया नौमनी पार करते वक्त खड्डे में गिर गया। मेरे देवर ने मुझे नदी पार करवाई। सब लोग हँसे। कहने लगे—इन दिनों तेली शादी करते हैं, क्योंकि बारिश में कोल्हू नहीं चलते। मेरे लाल जोड़े का रंग पानी में बह रहा था। सिर-मुँह लाल हो गया था। रंग भी ऐसा ही था।

"मैं जब पैदा हुई, तो मेरी बड़ी बहन मर गई थी। माँ ने मुझे पड़ोस में तुलसीदास पंडित को दे दिया। उनके बच्चा ना था। मैं उन्हें तुलसी चाचा

कहती थी और पंडितानी को माँ । उन्होंने ही मेरा नाम रखा था 'बावी', जो अब तक चल रहा है । तुलसी चाचा मुझे शादी-ब्याह में, पूजा में साथ ले जाते थे । मैं श्लोक सुनती थी । पढ़ती भी थी । जब मैं पाँच साल की हुई, तो उनके घर भी औलाद हुई । मेरी माँ कहे—तू हमारी बेटी है । मैं मानूँ ही नहीं । वहाँ पहाड़ों से एक बाँका चौधरी भी आया था । उसकी बीवी भी मुझे बहुत प्यार करती थी । कपड़े सिलवाकर देती, मेले में घुमाने ले जाती ।

''उन दिनों हिंदू-मुसलमान का कोई फर्क न था । हमारे पास सलारिए राजपूत रहते थे । लखपति थे, पर सारे गाँव का ध्यान रखते थे । एक बार मैं और मेरी बहन छत पर चारपाई डाले सो रहे थे । रात को डर लगा, तो हम दोनों रोने लगीं । चौधरी दौड़कर आए । चारपाई समेत उठाकर घर ले गए । मेरी शादी का सारा इंतजाम उन राजपूतों ने ही किया था । मेरी डोली को गाँव के बाहर तक कंधा दिया । अब यह सब सपना हो गया है । मैं पिछले साल पाकिस्तान गई, तो घोड़े पर बैठकर अपने गाँव गई । वहाँ चाचा चूहे का लड़का अपने घर के बाहर खड़ा था । मैंने पूछा—चाचा, चूहे के लड़के हो ? कहने लगा—हाँ । वैसे वह बड़ा सख्त था । घर में कंघी नहीं करने देता था । कहता था—खाने में बाल घुस जाएँगे, सभी चुड़ैलें कंघियाँ करती रहती हैं ।

''मैं गाँव गई तो सारा गाँव इकट्ठा हो गया । कीकर के नीचे चारपाइयाँ बिछ गईं । कोई दूध ला रहा है, कोई दही, कोई बरफी । उन्हें यकीन ही न हो कि हम हिंदुस्तान में इतने खुशहाल हैं । मैंने पूछा—इस गाँव में सलारिए राजपूत थे, वे कहाँ गए, तो लोगों ने कहा—वे हिंदुस्तान चले गए । उनकी खेतियाँ गूजरों ने सँभाल ली हैं ।

''जब विभाजन हुआ तो मेरी माँ घोड़ों पर सामान लादकर उनके साथ जम्मू ही जा रही थी । उसने कहा, मेरे आदमी के मरने के बाद इन्होंने ही सुख-दुख में मेरा साथ दिया है । इनके सिवाय मेरा कौन रखवाला है ? मैं पाकिस्तान को क्या जानूँ ? तभी मेरे भाई तालिब ने आकर घोड़ों के मुँह पाकिस्तान की तरफ मोड़ दिए । माँ रो-रोकर हल्कान हो गई थीं । मैं तो उस वक्त बंबई में थी । बच्चों की छुट्टियाँ हुई थीं । सहारनपुर तक आकर वापस चली गई ।

''अरे, उस वक्त जब तवायफें शादी-ब्याह में गाने-बजाने आती थीं, तो लड़कियों को सुनने की इजाजत न थी । दरवाजे-खिड़कियाँ सब बंद रहते थे ।

कितना अच्छा जमाना था। लोग ज्यादा बिगड़े नहीं थे। बेटी सारे गाँव की बेटी होती थी। कोई डाकू भी उस पर बुरी नजर न डालता था। लड़कियाँ हमेशा सिर को कपड़े से ढाँकती थीं।

''शुरू में तो मेरा सिर तबले की थाप से फटने लगा था। फिर धीरे-धीरे आदत हो गई। मैंने कभी न चाहा कि मेरे बेटे तबला बजाएँ। मैं तो जाकिर को उसके दादा की तरह फौज में भेजना चाहती थी, पर इसका नसीब अब देख लो, तीनों तबला बजा रहे हैं, मेरी मार-वार का कोई असर न हुआ।

मैंने कहा, ''ठीक ही हुआ, नहीं तो हिंदुस्तान एक अच्छे तबलिए से महरूम रह जाता।'' कहने लगीं, ''इसके एक चाचा तो पाकिस्तान में फौज में ही हैं। अब दोनों तरफ मुसीबत है। स्यालकोट सेक्टर में लड़ रहे थे। वही पाकिस्तान-हिंदुस्तान की लड़ाई। उन्होंने कहा—बंदूक उठाना भारी होता है। जब उठाऊँ तो तुम लोगों की शक्ल सामने आती है, अब इन लड़नेवालों को कौन समझाए।''

जब गोदी में बम फटे

मैंने पूछा, ''भाभी जी, आप बंबई कब आई थीं?'' वे तपाक से बोलीं, ''जब गोदी में बम फटे थे। ताज, बोरीबंदर सब हिल गया था। खिड़कियाँ टूट गई थीं। बड़े धमाके हुए थे भई।'' तभी खाँ साहब अंदर से आ गए। कहने लगे, ''मैं मोहन स्टूडियो में रिहर्सल कर रहा था, जब पहला बम फटा। पेटी मेज के नीचे गिर पड़ी। दीवारें हिलने लगीं। मैं घर की तरफ भागा। मैंने सोचा, ये गाँव से नई-नई आई हैं, डर गई होंगी। दूसरा बम बस से उतरा, तो फटा। बस तक हिल गई। गिरता-पड़ता जब घर पहुँचा, तो ये शाहनी सो रही थीं। दरवाजा ही न खोले। मैं डर गया, कहीं बेहोश तो नहीं हो गई। अंदर पत्थर फेंका तो ये आँख मलती हुई दरवाजा खोलकर पूछने लगीं, 'क्या हुआ, आज इतनी जल्दी कैसे आ गए?' मैंने कहा, 'भलीमानुस कुछ नहीं हुआ। खाली दो-चार बम फटे हैं।' तब ऐसी थीं तुम्हारी भाभी?''

मैंने कहा, ''खाँ साहब, आप तकरीबन सभी संगीतकारों के साथ तबला बजा चुके हैं, कोई बात याद आती है?'' कहने लगे, ''कितनी पोटलियाँ यादों की कड़ियों के साथ बँधी हुई लटक रही हैं। मजा सभी के साथ आया। कभी-कभी

दो-दो तबलिए भी एक कलाकार के साथ बजाते थे। नोक-झोंक भी होती थी। हाँ, आज का जमाना पहले से भी अच्छा है। कलाकार दोस्तों की तरह रहते हैं। पंडित ओंकारनाथ ठाकुर का बड़ा नाम था। गंगाजल छिड़ककर कालीन या चटाई बिछाकर गाते थे। उन्होंने बटालेवाले नाथ से ध्रुपद सीखा था। मैं भी वहाँ रह चुका था। उनको नाथ बटालिया कहते थे। उनका एक शागिर्द था, दौलतप्रसाद। वह ध्रुपद के बोलों में उसका नाम जरूर देते थे। एक बानगी देखिए–

अब कर सोलह सिंगार प्यारी
कैसी फूली अलबेली बन-बन बसंत
तू सतवंती जब कीनो निवास
पति बिन तैं गला रख प्रमाण
सिर सदका सेहरा
नाथ देत दौलत प्रसाद
अब कर सोलह सिंगार प्यारी!

"ऐसा ध्रुपद नाथ बटालिया लिखते कि पता ही न चलता। पंडित जी सम न बताते थे। सब तबलिए तंग थे। मंच पर ही तबलिए को झाड़ देते थे। एक दिन लक्ष्मी बाग में उनका कार्यक्रम था। तबले पर मैं था। पंडित जी ने एक ताल में खयाल शुरू किया। मैंने थोड़ा तंग किया, तो उन्होंने झट ध्रपद चालू किया कि यहाँ तो मरेगा। मैं उन्हें वहीं लाना चाहता था। वे हाथ से मात्रा गिनने लगे। मैंने कहा, 'पंडित जी मात्रा सुननेवालों को गिनने दीजिए। आप आराम से गाइए।' मैंने ऐसी लयकारी की कि उनके हाथ से मात्रा गई। मैंने कहा, 'पंडित जी बोल पकड़ो।' उन्होंने कहा, 'तुम सम पर तो आओ।' फिर दूसरा ध्रुपद चालू किया, वह भी मुझे याद था। बस पंडित जी पार हो गए। गाने के बाद पूछा, 'कहाँ के हो?' मैंने कहा, 'जहाँ से आप ध्रुपद लाए हैं।' बस फिर मेरी तारीफ के पुल बाँध दिए। बड़े निर्मल मन के थे।"

अंदर से तबले की आवाजें आ रही थीं। तभी घंटी बजी और एक गोरा-सा लड़का अंदर आया। अपना बैग रखकर भक्तिभाव से उसने खाँ साहब के पैर छुए और बैठ गया। खाँ साहब बोले, "ये ऑस्ट्रिया से यहाँ तबला सीखने आया है। जाकिर का शागिर्द है। छह सालों से सीख रहा है। नाम है थॉमस ईडर।" मैंने उससे पूछा, "तुम ऑस्ट्रिया में तो सीख ही रहे हो, यहाँ किस मंशा से आए

हो ?'' कहने लगा, ''भारत आ सकूँ, इसके लिए मैंने लारियों से सामान उतारकर पैसे जोड़े हैं। तबला यहाँ का साज है। उसके साथ यहाँ का रहन-सहन, यहाँ के रीति-रिवाज सब करीब से देखना चाहता हूँ। दरिया का उद्गम तो सभी देखना चाहते हैं। असली लय के लोग तो इसी धरती के हैं। यूरोप में कोई रिद्म के बारे में ज्यादा नहीं जानता, पर अब लोगों की दिलचस्पी बढ़ रही है। वहाँ डिस्को और रॉक ने लोगों का दिमाग खराब कर दिया है। तबला मेरी पहली दिलचस्पी है। लय की फिलासफी बड़ी गहरी है। मैं उसमें डूबना चाहता हूँ। एक योजना के मुताबिक कोरिया और ब्राजील संयुक्त रूप से लयकारी पर काम कर रहे हैं। आज जो विश्व में भ्रष्टाचार, एक-दूसरे से ज्यादा हथियार बनाने की होड़ व दूसरी कुरीतियाँ हैं, वे संगीत की शक्ति से जरूर कम होंगी। संगीत की यह शक्ति ब्रह्मांड हिला सकती है। कोरिया में चाय हाथ में कप लेकर, कुहनी पर हाथ रखकर मेहमान को पेश करते हैं, ताकि उसकी मुहब्बत व खलूस की ताकत भी उस चाय में शामिल हो। लय और संगीत में भी ऐसी ही ताकत है।'' मैंने कहा, ''भारत में भी हम कई जगह पानी का गिलास ऐसे ही पकड़ाते हैं।''

दूसरे दिन मैंने देखा, वह युवा विदेशी सिल्क का सफेद कुर्ता पहने तबले पर दत्तचित्त होकर रियाज कर रहा है। वहीं निशिकांत भी था—हीराबाई बड़ौदेकर का पोता। पुरानी परंपरा के मुताबिक वह उन्हीं के पास रहता है। मैंने उससे पूछा, ''तुम्हारी माँ गायिका थीं। तबले की तरफ रुझान कैसे हुआ ?'' कहने लगा, ''मेरी माँ शोभा बड़ौदेकर सितार बजाती थीं। वे जब रियाज करके उठतीं, तो मैं तबला पीटता रहता था। फिर तो मैं तबला ही बजाने लगा। पंडित रविशंकर जी ने मेरी दादी को कहा कि इसे खाँ साहब से सिखाओ, तब से अब्बा जी के पास हूँ। यही अपना घर लगता है।'' मैंने पूछा, ''पुराने समय में उस्तादों के घरों में शागिर्दों के साथ अक्सर अच्छा सलूक नहीं होता था।'' बोला, ''अब वह बात नहीं है, पर होता भी तो मैं भागता नहीं।''

भाभी जी कहने लगीं, ''मेरे तो सभी बेटे हैं। इधर फजल और तौफीक भी बजा रहे हैं। अब तबला न बजे, तो रौनक नहीं लगती। अब मेरे सामने कोई खराब बजा नहीं सकता। बड़ी बेचैनी होती है।''

मैंने पूछा, ''खाँ साहब तो तबले को पूर्णतया समर्पित थे, फिर आपने कैसे निभाया।'' बोलीं, ''कड़िए, ये मत पूछ। यही सवाल मुझसे कलकत्ता के दास बाबू ने भी पूछा था। मैंने उनसे कहा था, मेरी जड़ें काफी मजबूत हैं। यह खानदानी मामला है। मेरे साथ खानदान जुड़ा हुआ है। उसका लगाया पौधा, जो अब दरख्त बन चुका है, वह कोई नहीं हिला सकता। बाकी कई सौतें सहनी पड़ती हैं। तुम्हारे भाई सुंदर भी थे, गुणी भी थे। कई औरतें आती-जाती रहीं। मैं सबको खाना पका-पकाकर खिलाती थी। ये मस्त रहते थे। मैं कहती थी—मेरा खयाल मत करो, बच्चों का खयाल करो। एक औरत तो इनके प्रोग्राम में बेहोश ही हो गई थी। खाँ साहब तो उसे जानते भी न थे। उठाकर घर छुड़वा दिया। दूसरे दिन उसकी लंबी चिट्ठी आई—जुहू में गाँधी के पुतले के पास मिलो। मैंने इनसे कहा, 'जाओ भई, मिल आओ, वह इंतजार करती होगी।' कहने लगे, 'कूड़ कहीं की!' बस मैंने अपने देवर को लिया और जुहू पहुँच गई। मुझे देखते ही वह भाग गई।

''तुम्हें एक और किस्सा सुनाती हूँ। छुट्टियों में हमें ये रेल पर चढ़ाने आए। रेल चली गई तो उन दिनों की एक मशहूर फिल्म तारिका इनको अपने साथ पूना ले गई। वहाँ तीन-चार दिन रहे, तभी किसी ने बताया कि उसका पति पुलिस लेकर चल पड़ा है। तारिका ने इनको दक्कन क्वीन पर बिठाया और खुद नींद की गोलियाँ खा लीं। बड़ी जिगरवाली थी, मर भी सकती थी, पर खाँ साहब पर आँच न आए, इसलिए उसने जान तक की परवाह न की। घड़ी में अलार्म लगा दिया और नौकरानी को कहा, जब यह बजे तो हल्ला कर देना। जब पुलिस आई तो वो अस्पताल में जिंदगी और मौत के बीच झूल रही थी। बस फिर क्या था, पुलिस ने उसके आदमी को खूब लताड़ा।''

मैंने खाँ साहब से फिल्मों के बारे में पूछा तो कहने लगे, ''बंबई आकर मैं हाजी मलंग गया। रास्ता चढ़ते-चढ़ते आँसू आ गए। मुझे लगा, चारों तरफ मैं अकेला हूँ। आसपास कोई नहीं है। दो-तीन कबूतर मुझ पर आकर बैठ गए। मैंने उन्हें दाना खिलाया। लोग कहने लगे, बड़े खुशकिस्मत हो। हाजी बाबा से मैंने जो माँगा, पा लिया। उनके दीदार करके आया, तो तीसरे दिन 'माँ-बाप' फिल्म मिली। 'घर की लाज', 'सती अनुसूया', 'मदारी' आदि कई फिल्में

चलीं। मधुर सुरों में गाया 'चाँदनी चाँद सो जा' यह गीत बड़ा हिट हुआ। फिर तो सिलसिला निकला, 'रस्सी उत्ते टंगेया दुपट्टा मेरा डोर दा, जेड़ा अज्ज लैया के देवे कच्च दिया चूड़िया' ये गीत तो गली-गली गाए जाते थे। अमीर बाई कर्नाटकी, शमशाद बेगम, लता मंगेशकर, आशा भौंसले, रफी, मुकेश, सभी ने मेरे गीत गाए। लता जी ने जो पंजाबी गीत गाए वे आज तक बजते हैं। ये गीत तो अब लोकगीतों में बदल गए हैं।" मैंने पूछा, "दीदी (लता जी) को कभी पंजाबी गाने में दिक्कत पेश आई?" तो कहने लगे, 'नहीं, एक बार एक बोल, "इश्क बी अनार उन्न छड्डैया न बूटे उत्ते' थोड़ा मुश्किल था। सभी कहने लगे, मुश्किल पड़ेगी। पर लता सहजता से गा गईं। 'पुच्छ मेरा हाल कदे आ के मेरे हाणिया' गाया तो लता जी ने था, पर इसे मशहूर बरकत अली खाँ ने किया। मेरी पहली कलाकार थीं आशा जी। जब वे आईं तब पता चला कि वे दीनानाथ मंगेशकर की लड़की हैं। मैंने कहा, 'तुम मेरी बेटी हो।' वे भी लता जी की तरह झट से 'पिक' कर लेती थीं। एक बार एक गाना शराबबंदी पर था। लिखनेवाला महापियक्कड़, हमें भी परहेज न था। आशा ने उसे ऐसा गाया कि जान डाल दी। इतनी-इतनी अच्छी गायिकाएँ लता जैसी, आशा जैसी और भी कई, हमारे पास हैं, पर संगीत का स्तर कितना गिर गया है। अब कद्रदाँ नहीं रहे। हम तो बाहर ही रहते हैं, पर सुनकर दुख होता है।"

मैंने खाँ साहब से कहा, "बाहर की कोई घटना सुनाइए।" बोले, "बाहर लोग बड़े प्यार से सुनते हैं। वहाँ हिंदुस्तानी संगीतकारों का बड़ा सम्मान है। उस्ताद अली अकबर खाँ की कार, एक लड़की बरसों से रोज सवेरे आकर धोकर चली जाती है, पंडित रविशंकर की लोग पूजा करते हैं। सानफ्रांसिस्को में हमारा स्कूल है, जाकिर वहाँ से पच्चीस-तीस किलोमीटर दूर रहता है। मैं भी वहीं रहता हूँ। कई शागिर्द हैं, जो सीख रहे हैं। उनमें लगन है। पंडित जी के चेले बगल में सितार दबाए सड़कों पर दिखाई देते हैं। एक बार न्यूयॉर्क के पास वुडस्टॉक में कार्यक्रम था। सुनने के लिए तीन लाख लोग इकट्ठा थे। पर मंच पर जाने का कोई रास्ता न था। सड़क बंद थी। अब प्रबंधकों को समझ में न आए कि वे हमें कैसे सभागृह में ले जाएँ। फिर थोड़ी देर के विचार-विमर्श के बाद हमें हेलिकॉप्टर से स्टेज पर उतारा गया। पंडित जी और यहूदी मैनुइन के साथ कई बार संगति की है। बड़ा अच्छा लगता है। अब तो पंडित जी यहाँ आना

चाहते हैं। मैं भी आने की सोच रहा हूँ। यहाँ आकर एक सगीत का स्कूल खोलना चाहता हूँ।"

तबले का कन्हैया

मैंने कहा, "खाँ साहब, प्रेम की तरह इस लगन की गली भी बड़ी सँकरी है। फिर आपने ये कैसे निबाहा ?" बोले, "यह तुम्हारी भाभी का कमाल है। घर इसका है, बाहर हमारा। बच्चों को माँ-बाप दोनों का प्यार इसने दिया। घर इसी की बदौलत है। मेरी इच्छा थी, जाकिर तबला बजाए। उसके पालने में मैंने दो छोटे-छोटे तबले टाँग दिए थे। उन्हें देख-देखकर वह किलकारियाँ मारता था। मोहन स्टूडियो में मैं इसे साथ ले जाता था। टेक के वक्त इसे एक तरफ तबला देकर बिठा देता था। उन दिनों 'बरसात' का गाना बहुत चला था–'बरसात में हमसे मिले तुम सजन। तुमसे मिले हम सजन बरसात में। तक धिना-धिन !'

"जाकिर सारा दिन धिनाधिन ही करता रहता था। रिकार्डिंग में मैं इसे अलग बिठाता था। फिर साथ बिठाने लगा। मुझे इसका भरोसा था, यह जरूर तबला बजाएगा। मालिक ने इच्छा पूरी की। घर में मेरे सभी शार्गिद इससे तबला बजवाया करते थे। जाकिर बड़ा मिलनसार है। विदेशों में कभी सभी शागिर्दों को घर आने की दावत दे आता है। घर भी एक संगीतालय की तरह ही है। छोटी उम्र से ही बड़े-बड़े कलाकारों के साथ बजाता आ रहा है। कलकत्ता में ज्ञानघोष कहने लगे, यह तो तबले का कन्हैया है।"

मैंने हँसकर कहा, "गोपों से ज्यादा इसकी प्रशंसिकाएँ, गोपिकाएँ हैं। उन्हीं से यह घिरा भी रहता है।" फिर मैंने कन्हैया से ही यह पूछ लिया।

जाकिर बोला, "मुझे याद है, बचपन में मैं मोहन स्टूडियो जाता था। अब्बा जी की शोहरत से सिर गर्व से ऊँचा उठ जाता था। बड़ी खुशी होती थी।" मैंने पूछा "तुमने तबला ही क्यों चुना ?" बोला, "बचपन से और कुछ देखा ही नहीं। तबले से बोल निकलते हैं, सुर उठते हैं, बोलों की नज्म बनती है और उस नज्म का मैं आशिक हूँ।" मैंने कहा, "वाह भई जाकिर साहब, क्या मुहब्बत है, अपने साज से।" अपनी खास हँसी हँसकर बोला, "अम्मा जी कहती हैं, मैं दूध की बोतल पर भी अपने हाथों से तबला बजाया करता था। वैसे एक बार पियानो भी सीखना चाहा। अब्बा जी ने टीचर लगवा दिया। पर तीसरे दिन नहीं सीखा। घुट्टी में तबले के बोल पिए थे। अब मेरा हाथ अब्बा जी जैसा होने लगा

है। इसकी खासियत अब नजर आने लगी है। बचपन में अब्बा जी तो बाहर रहते थे। इनके शागिर्द जमकर रियाज करवाते थे। विनायक इंगले हमेशा कभी यह बजाने को कहते, कभी वह, पर उस्ताद तो अब्बा ही थे। हमारे घर आकर थिरकवा खाँ साहब रहे, उनसे भी मैंने सीखा। पंडित सामता प्रसाद, पंडित किशन महाराज जैसे गुणीजनों को सुनकर भी सीखता हूँ। सभी कलाकारों के साथ बजा चुका हूँ। पंडित शिवकुमार शर्मा तो डोगरा ही हैं, उनके साथ हमने हरिप्रसाद चौरसिया को भी डोगरा ही कर लिया है। सब काम फौजी तरीके से अनुशासन में होता है। अम्मा जी को मुझे फौज में भेजने का शौक था, पर तबले का ज्यादा जोर रहा। मैं डोगरा हूँ, सिपाही तो हूँ ही, पर तबले का।"

और जाकिर कहता गया—"विदेशों में लोग देश की तरह ही प्यार करते हैं। एक बार इटली में अणुबम विरोधी रैली हो रही थी। उसमें तबले का भी कार्यक्रम था। शेरिफ के भाषण के बाद उन्होंने मुझे बजाने को कहा, वहाँ न लहरा, न कोई और इंतजाम। क्या बजाता? पाँच मिनट बजाकर उठ गया। भीड़ ने शोर मचाया—और बजाओ। बस फिर पौन घंटे तक बजाता रहा। राजनीति लय में डूब गई। गवर्नर टिंग में खड़े रहे। मैं तीन बार बजाकर उठा, तीनों बार लोगों ने बिठा दिया।"

मैंने कहा, "जाकिर साहब, ये गोपियों का क्या चक्कर है?" बोला, "मैं अपने श्रोताओं को प्यार करता हूँ, उनका प्यार पाता हूँ। उन्हीं के लिए बजाता हूँ। उनकी प्रशंसा, उनका प्यार मिले, तो अच्छा लगता है।" मैंने कहा, "अब मुझे ही मत बहलाओ, कुछ तो बताना ही पड़ेगा।" हँसकर बोला, "जामनगर में हरि जी के साथ प्रोग्राम में गया था। प्रोग्राम के बाद सब होटल में एक कमरे में बैठे हुए थे, तभी एक फ्रेंच लड़की आई। कहने लगी—जाकिर, मैं आज रात तुम्हारे साथ बिताना चाहती हूँ। कमरे में सन्नाटा छा गया। वह हिले ही नहीं। मैंने कहा—चलो, तुम्हारे कमरे में छोड़ आता हूँ। वहाँ मैंने उससे कहा—अभी बारह बजे हैं, यहीं सब लोग बैठे हैं। तुम तीन बजे आकर दरवाजा खटखटाना। वह मान गई। मैंने कमरे में आकर सामान बंद किया और अहमदाबाद भाग गया।"

मैंने पूछा, "तुम्हारी पत्नी विदेशी है और घर का सारा माहौल हिंदुस्तानी है, क्या उसे कुछ कठिनाई नहीं होती?" जाकिर बोला, "उसे कथक का शौक

है। पिछले तेरह सालों से वह इसे सीख रही है। भारत से उसे बड़ा लगाव है। मेरे सभी कार्यक्रमों का निर्धारण, कार्यक्रम एवं स्कूल सब वही देखती है। पहले यह काम हमेशा अम्मा जी करती थीं। अब उनका काम हल्का हो गया है। अब्बा जी के बाहर रहने से ही मैं अपनी शख्सियत उभार सका। सोचता हूँ, मेरी गैरहाजिरी में मेरी बेटी भी कुछ-न-कुछ जरूर बनेगी। मुझे अब्बा जी की जब बड़ी याद आती थी, तब खूब रियाज किया करता था।"

अच्छे कलाकार और अच्छे इंसान

और जाकिर ने बताया—"मैं 18 साल से बाकायदा तबला बजा रहा हूँ। अब इसमें कुछ परिवर्तन करके इसे आज के युग के साँचे में ढालना चाहता हूँ। मैं ऐसे ताल बजाना चाहता हूँ, जो लोगों की समझ में आए। अपने प्रशंसकों को रिझा पाऊँ, यह मेरा लक्ष्य है। फिल्मों से अच्छे प्रस्ताव मिले, तो वहाँ जरूर काम करूँगा। एक अंग्रेजी फिल्म में तो काम किया ही है, पर फिल्मों में काम कम करूँगा। जैसे शिवकुमार जी, हरि जी ने एक फिल्म की है। पंडित जी ने भी कुछ ही फिल्में कीं, पर ऐसी कि अब भी गीत बजे तो कलेजा हिलता है।"

पंडित रविशंकर जी से मैंने भेंट की तो कहने लगे—"खाँ साहब तो हमारे भाई हैं। 1939 में मेहर के बाबा, हमारे गुरु, हमें दिल्ली लेकर आए थे। खाँ साहब को मैं सुन चुका था। पर जब मिले तो पहली ही मुलाकात में हम एक-दूसरे को बहुत अच्छे लगे। खाँ साहब बोले, चलिए चाय पिएँ। उनका मिलनसार स्वभाव, बेबाकी, सादगी, सब अच्छे लगे। और लोगों से अलग एक अच्छे इंसान लगे। 1944 में मैं 'इप्टा' से संबद्ध हो गया, तो संगीत-सभाओं में इनके साथ हमेशा बजाया। उन दिनों तबले में कामोराव व किशन महाराज का भी बड़ा नाम था। अल्ला रक्खा मंच पर सुंदर भी बड़े लगते थे। उन दिनों बंबई में कहीं ज्यादा भीड़ होती, तो लोग मजाक में कहते—देखो, अल्ला रक्खा तो नहीं बजा रहा। 1964 के बाद तो विदेशों में हम एक साथ ही बजा रहे हैं। एक अच्छा कलाकार एक अच्छा इंसान भी हो, यह बड़ा कम देखने को मिलता है। खाँ साहब में ये दोनों गुण हैं। विदेशों में हमारा काम सिर्फ कार्यक्रम पेश करना ही न था, बल्कि भारत की छवि बनाना भी था। इसमें खाँ साहब का बड़ा सहयोग रहा। लोग तो कहते हैं पंडित जी ने इन्हें भी पंडित बना दिया है। सबसे

बड़ी बात है कि पुत्र भी वैसा ही काबिल है। जाकिर बड़ा गुणी लड़का है।

"खाँ साहब को संगीत नाटक अकादमी का पुरस्कार मिला, तो मुझे धीरे से पूछने लगे—पद्मश्री बड़ा होता है या यह पुरस्कार? मैंने कहा—खाँ साहब, आनेवाले वक्त में ऐसे सादे लोग कहाँ मिलेंगे! ये सम्मान बहुत बड़ा है। कहने लगे—जो भी अपने घर से सम्मान मिलता है, उसकी तुलना नहीं होती। अमरीका में रहनेवाले भारतीय लोगों की संस्था ने भी इन्हें एक इनाम दिया। वहाँ आठ सौ देशी-विदेशी इकट्ठे हुए। भारत के कौंसिल जनरल इशरत अजीज के हाथों इनाम मिला। बड़ा अच्छा लगा। भारत व अमरीका के बीच मैत्री की यह एक कड़ी है।"

तभी खाँ साहब बोले, "सभी ख्वाहिशें पूरी हुईं। मालिक ने सबकुछ दिया। मैं चाहता हूँ, जब वापस भारत आ जाऊँ तो अपनी जन्मभूमि में जाकर दो-तीन महीने वहाँ रहकर लड़कों को सिखाऊँ। लोग तो वहाँ बहुत प्यार करते हैं, पर सरकार ने कभी याद नहीं किया। हम जम्मू-कश्मीर के हैं। कहीं भी रहें, मन तो वहीं भटकता है। एक पतली-सी डोर जो वतन के साथ जुड़ी है, वह उस तरफ खींचती रहती है। मन करता है, अब वहाँ जाऊँ। एक बार कुछ दिन वहीं का होकर रहूँ। जन्मभूमि का मोह बड़ा सालता है।" यह कहकर खाँ साहब की आँखें झीलों की तरह भर आईं...

पलट रहे हैं गरीबुल वतन पलटना था
वो कूचा रुकशे जन्नत हो घर है घर फिर भी।

छुंदरिया की धन्नो

ये उन दिनों की बातें हैं, जब टाकी शुरू नहीं हुई थी। मूकचित्र देखने भी सब लोग नहीं जा पाते थे। नाटक, नाच या नोटंकियाँ भी होती थीं, पर नाचनेवालियों और गृहस्थिनों के बीच की लक्ष्मण-रेखा बहुत गहरी थी। कोई भी शरीफ आदमी अपनी बहू-बेटी के साथ नृत्य देखने की बात सोच भी न सकता था। उन्हीं दिनों नृत्य और गायन में रुचि रखनेवाले एक ब्राह्मण परिवार में एक टेढ़े मुँहवाली लड़की का जन्म हुआ। एक तो लड़की, ऊपर से टेढ़ा मुँह और दो बड़ी सुंदर लड़कियों के बाद की औलाद, घर में सबने मुँह बिचका लिया। जो टेढ़ा मुँह देखकर भी मुस्कराती रही, वह थी उस परिवार की नौकरानी सुंदरिया। उसी ने अपनी खाली झोली को उन दो चमकती आँखोंवाली शिशु बालिका के गोरे-चिट्टे बदन से भर लिया। उसी की निश्छल स्नेह-छाया में यह बच्ची बढ़ने लगी। और धीरे-धीरे 'छुंदरिया-छुंदरिया' कहकर उसके पीछे-पीछे भागने लगी। वह बर्तन माँजती, तो यह उन्हें धोने की कोशिश करती, वह झाड़ू लगाती, तो यह कूड़े में से चिड़ियों के घोंसलों से गिरे तिनके-धागे बटोरती, वह कपड़े धोती, तो यह पानी से दोस्ती करती। दिन बीतते रहे और यह उपेक्षित व त्याज्य लड़की आठ बरस की हो गई। तभी उनके मुँह का टेढ़ापन निकल गया और उसकी जगह वह बाँकपन आ गया, जो आज भी है।

हमारी नृत्य-परंपरा, जो शिव के तांडव, पार्वती के लास्य व कृष्ण की रासलीला से चली आती है, वह आज भी कुछ कलाकारों की बदौलत सिर्फ जिंदा ही नहीं है, बल्कि उस समय की कितनी ही चीजें आज भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमारे सामने आ रही हैं। क्या कभी ऐसा न हुआ होगा कि रासलीला के समय राधा की

आँखों में समाया भय देखकर कृष्ण ने आकाश में छाए बादलों में बिजली देख ली होगी और फिर वही बिजली हाथ में झपटकर उन्होंने धरा पर छोड़ दी होगी और उसी बिजली को क्या आज हम सितारादेवी के मंच पर आने पर महसूस नहीं करते ? मुझे तो इस बिजलीवाली बात में कोई संदेह नहीं लगता । सिर्फ इस बिजली को चमकते देखते रहने की उत्सुकता बराबर बनी रहती है । वह बिजली शापित अप्सरा की तरह आज धरा पर चमक रही हैं और अपनी चकाचौंध से हमारे नृत्य को समृद्धि के शिखर पर लाकर एक पाँव से नाच रही हैं । अपनी हर चितवन, हर कटाक्ष, हर अदा में वही बिजली बरसाते हुए, अपने पाँव के घुँघरुओं में उसे बाँधे सितारा देवी मंच पर आती हैं ।

अब कहाँ रहे वे कलाकार !

अपने बचपन की उपरोक्त घटना सुनाकर सितारा देवी ने मुझसे यह भी कहा था, "कभी-कभी तो अपने बुजुर्गों के लिए मन में बड़ी घृणा, बड़ी विद्रोही भावना पैदा होती है । बड़ा गुस्सा आता है । फिर सोचती हूँ, उन्हीं के पुण्य प्रताप व आशीर्वाद से तो मैं आज सितारा देवी बनी हूँ । फिर भी मैं धनतेरस के दिन जन्मी उस टेढ़े मुँहवाली धन्नो को नहीं भूल पाती, जो बचपन में अपनी माँ के स्नेह व आँचल से वंचित रही । जिसे देखकर सब मजाक उड़ाते रहे । जो उपेक्षित थी ।

"बचपन की वह धन्नो आज भी मुझमें जी रही है । मैं चाहने पर भी उसे सितारा देवी से अलग नहीं कर पाती हूँ । वही धन्नो, जो अपने घर के सब लोगों के खाना खाने के बाद सुंदरिया के साथ खाना खाती थी, उसी के साथ सोती थी, उसी के पीछे भागती थी । उस वक्त का निरादर आज के इतने बड़े आदर में भी अपने आसन से नहीं हिलता । प्रोग्राम खत्म होने के बाद जब लोग मुझे घेर लेते हैं, तब चमकते हुए मंच के पर्दों के पास किसी अँधेरे कोने में खड़ी टेढ़े मुँहवाली धन्नो मुझे दिखाई दे जाती है और प्रशंसकों की ओर जाती मेरी मुस्कराहट दयनीय हो उठती है । मैं उस कोने में दोबारा देखने का साहस नहीं कर पाती ।

"खैर, धन्नो की बात छोड़ो, सितारादेवी नृत्यांगना, प्रख्यात नृत्यांगना सितारादेवी की बात करो । उन दिनों की बात करो, जब आधुनिक प्रसाधन सामग्रियाँ न थीं । जब कलाकार पान से होंठ रँगकर, लाल स्याही की टिकिया का घोल इधर-उधर लगाकर, काजल से आँखें व भँवें सँवारकर, जुल्फों में

चमेली का तेल लगाकर, मुँह पर थोड़ा पाउडर झाड़ लेती थीं। पाँव में घुँघरू, कदमों घाघरा और चलो नाचने!…"

फिर एकदम सितारा जी बोली, "अरे अब न पहलवान रहे, न कलाकार। अगर रहें, तो खाएँ क्या? उस जमाने में राजा-महाराजा, नवाबों-बादशाहों का संरक्षण होता था। भविष्य की कैसी चिंता, कई पीढ़ियाँ खाती थीं। पहलवानों के आगे बादामों की बोरियों के मुँह खुल जाते थे। भैंसे बँधी रहती थीं। असली सरसों का तेल मालिश में लगता था। कलाकारों के सम्मान में गाँव मिलते थे, जागीरें अता होती थीं। अच्छा कलाकार अपने राज्य में रखने के लिए होड़ लगती थी, जंग छिड़ जाती थी। न जवानी काटने की फिक्र थी, न बुढ़ापे की। आज कौन करेगा यह सब? अब तो सब भीख माँग रहे हैं। सरकार भी कलाकारों के लिए कुछ नहीं करती।अगर कोई सितारा देवी से पूछे—आप क्या करती हैं, तो कहिन कि नाचत हैं! अरे, सो तो है, पर घर कैसे चलता है? खाते कैसे हैं? तो कहो क्या कहें? आज तो कोई शरीफ आदमी अपनी बेटी भी कलाकार को देना नहीं चाहता। और क्यों दे? भूखा मारने के लिए? छोड़ो, जाने दो!"

तब का सपना अब सच हुआ

"हाँ, तो मेरे पिता जी पहले नेपाल महाराज के यहाँ थे। वहाँ दरबार में वे गाना गाते थे। और हमारे ननकू चाचा नृत्य करते थे। पिता जी ने सोचा—नृत्य को प्राचीन कवियों की कविताओं पर कैसे बिठाया जाए। गीत गोविंद, रामायण, तांडव, कृष्ण-लीलाएँ—ये ऐसी कैसे हों कि सारी जनता उन्हें देखे। कैसे इन नृत्यों में हमारी संस्कृति की झलक दिखाई दे। कैसे नृत्य को सिर्फ मनोरंजन तक ही महदूद न रहने दिया जाए। कैसे? हमारे पिता जी पं. सुखदेव महाराज फिर बनारस अपने पुरखों के सदियों पुराने घर में आ गए। पर कोई भी शरीफ घराने की लड़की मंच पर नाचने को तैयार न हुई, तब पिता जी ने अपनी बेटियों—अलकनंदा व तारा दीदी—को नृत्य सिखाना शुरू किया। तब इनका नृत्य देखने के लिए आनेवाली जनता पिता जी को वैसी न दिखाई देती थी, जैसी एक बार उन्होंने बिदादीन महाराज (कान को हाथ लगाकर) के प्रोग्राम में देखी थी। और आज देख लो, एक सपना, जो एक मामूली आदमी ने देखा था, सच हो

गया है। और तो और, हमारी दादी भी घर की लड़कियों को नाच सीखते देख कहतीं—अरे, यह क्या कर रहे हो! तुम्हारी बुद्धि कहाँ जा रही है? सबकी सब भाग जाएँगी। खानदान की नाक कटवा डालेंगी। दादी को पिता जी बड़े ही धैर्य से समझाते—तीस बरस बाद देखना, यही लड़कियाँ तुम्हारे खानदान की नाक को ऊँचा उठाएँगी। और इसी माहौल में आनेवाले जमाने के लिए कलाकार तैयार होने लगे।"

जहाँ अलकनंदा और तारा दीदी नृत्य सीखतीं, उस दालान के बंद दरवाजे की फाँक के बाहर खड़ी धन्नो एक-एक टुकड़ा तोड़ा आत्मसात करती रहती। स्कूल से शादी-ब्याह के घरों में भाग जाती। उन दिनों के शादी-ब्याह आज की तरह थोड़े होते थे—मोटर को फूलों और गुब्बारों से सजाया और मंदिर या गुरुद्वारे से फेरे लगवाकर शाम पार्टी में आइसक्रीम खिलवा दी! उन दिनों कई-कई दिन भोज होता था। रोज रात को घर-बाहर की स्त्रियाँ गाना गातीं, मधुर गालियाँ देतीं, तो दीवारें तक खुशी से उज्ज्वल हो जाती थीं। जब यह छोटी बच्ची जाकर उन शादी-ब्याहों में नाचती, तो लोग हैरान हो जाते। ढोलक की उसकी थाप सुनकर पुरानी-पुरानी ढोलक बजानेवालियाँ सहम जातीं। जब इनाम-इकराम ले धन्नो स्कूल से पहले ही घर आती, तो रास्ते में सहेलियों के साथ चाट व ठंडी बरफ में इनाम-इकराम उड़ जाता था। किसी को कानोकान खबर न होती कि धन्नो कहाँ थी। उसे स्कूल में भी बड़ी-बड़ी लड़कियों के साथ बैठना अच्छा लगता था।

आठ बरस की अध्यापिका

एक बार स्कूल में नाटक हुआ—सावित्री-सत्यवान। धन्नो को खैर कौन पूछता, यह तो आठ ही बरस की थी। पर वह वहीं नाटक के आसपास जमी रहती। एक दिन मास्टर ने पूछ ही तो लिया, तुम क्यों खड़ी रहती हो, तो झट-से बोली—हमें भी नाच-गाना आता है। मास्टर ने कहा—सुनाओ, तो झट-से 'हटो छोड़ो साँवरिया भरूँ मैं गगरिया' पूरे एक्शन के साथ सुना दिया। उन लोगों का नृत्य-निर्देशक छुट्टी पर था, धन्नो ने उसकी जगह ले ली। और अपने से दोगुनी उम्र की लड़कियों को वही गाना एक्शन के साथ सिखाना शुरू कर दिया। बड़ी अनोखी बात हो गई। मदर ने बुला भेजा। अपने पास कुर्सी पर बिठाया और यह

आठ बरस की उम्र में नृत्य-निर्देशक हो गई ! घर में कोई क्यों यकीन करता। जिस दिन शो था, इन्होंने कहा, देर से आऊँगी, तो सौतेली बहन को साथ कर दिया गया। वापसी में जब सारे घर में धाक जम गई, तो नृत्य सीखनेवाले दालान का पूरा दरवाजा धन्नो के लिए खुल गया।

बस फिर तालीम शुरू हो गई। सुंदरिया की उपेक्षित धन्नो घर-भर की लाड़ली हो गई। सुंदरिया फूली न समाई। घर-भर में कोई न जान पाया कि स्कूल-बस के ड्राइवर को कई-कई चक्करघिन्नियाँ देकर यही धन्नो कभी स्कूल जाती थी, कभी नहीं। नृत्य की उसकी प्रतिभा देख उसके पिता जी के मन की आशा और बलवती हो उठी। और धन्नो को जब तालीम के साथ-साथ कुछ शऊर भी आया, तो वह सितारा देवी बन बैठी। बड़ी बहनों को नृत्य का बुलावा आता, तो वह भी साथ जाती। पालकी-कहार लदे-फदे सब यह जान भी न पाते कि किसी पालकी की फाँक खोल सुस्ताते कहारों को चकमा देकर कब धन्नो उड़न-छू हो दूसरी नाचनेवालियों के गिरोह में मूँगफलियाँ उड़ाते-उड़ाते उनकी अदाओं को ध्यान से देखती और कब कहार की चिरौरी करके पालकी में आ जाता।

जब लड़कियाँ अपनी कला का प्रदर्शन भी करने लगीं, तो बनारस में बिरादरीवालों ने निकाल बाहर किया। तब पिता जी ने कलकत्ता आकर महाराज मैमनसिंह के यहाँ नौकरी कर ली। तब बड़ी दो बहनों के साथ-साथ इस छोटी बिजली का जिक्र भी आने लगा। अलकनंदा दीदी का नाच में, तारा दीदी (गोपीकृष्णा की माँ) का गाने में बहुत नाम हुआ। कलकत्ता के लोग बड़े कलाप्रिय हैं। वहाँ बड़ा ही प्रोत्साहन मिला।

...और उम्र ठिठक गई

सितारा देवी का पहला कार्यक्रम वाराणसी में गणेश मंदिर में हुआ था। उसके बाद कलकत्ता में उनका कार्यक्रम जब और जगहों के अलावा रवि बाबू के सामने हुआ, तब सोलह बरस की उम्र में उन्हें महान कवि से पहला पुरस्कार मिला—"भई, बड़ा हुस्न होता है पुरस्कार का! तब जो उम्र सोलह पर ठिठककर खड़ी हुई, तो आज तक मुश्किल से कुछ कदम ही आगे आ पाई है। रवि बाबू महाराजा मैमनसिंह के यहाँ ही पिता जी से मिलते थे। उनके

आशीर्वाद के बाद जो पतंग उड़ी, सो उड़ी। रवींद्र संगीत, गीत गोविंद, कृष्णलीला, रास ये सभी नृत्य अपने यौवन पर आ गए, जिन्हें बाप-बेटी ने मिलकर देखा।

''कई रजवाड़ों से निमंत्रण आने लगे। रायगढ़, धर्मपुर, काशी, निजाम हैदराबाद, दरभंगा महाराज—कितनी ही जगहों पर यह नई तरह का नृत्य हुआ, जो सिर्फ मनोरंजन ही न था, बल्कि इसमें आप अपने प्राचीन ग्रंथों से अपने देवी-देवताओं को निकालकर मंच पर देख सकते थे।

''और भई तुम तो जानती हो, बिड़ला मातुश्री में हमने बारह घंटे नृत्य प्रस्तुत किया। लोग तब भी कहाँ छोड़ते थे। तब लच्छू महाराज भी जिंदा थे। वे वहीं मौजूद थे। हमने अपने पिता जी के अलावा अच्छन महाराज, शंभु महाराज व लच्छू महाराज सबसे भिन्न-भिन्न अंगों को सीखा। तब क्या गुरु ऐसे ही विद्या सिखा देते थे। उन्हें महाराजाओं की तरह अपने घर में रखना पड़ता था। सौ नाज उठाने पड़ते थे। हमारे पिता जी ने घर गिरवी रखकर हमें सिखाया है। घर में कोई शराब न पीता था। पर इन गुरुओं के लिए आती थी। रात को कभी भी सोते से उठाकर घंटों पाँव दबवाते रहते थे। पर भई, उनका ही सिखाया नाच रहे हैं। उनका ही आशीर्वाद है।''

हर प्रोग्राम एक इम्तहान

मेरे यह कहने पर लच्छू महाराज ने तो आपके बारह घंटे के नाच के बाद कहा था कि हम तो घर में बीस-बीस घंटा नाचते हैं, तब आपके यह कहने पर कि 'जंगल में मोर नाचा, किसने देखा, यहाँ मैदान में आइए'— वे आगबबूला हो गए थे। तो वे बोलीं, ''हाँ भई, गुस्सा तो करते ही थे। उनसे सीखा है, उनको हक़ था नाराज होने का। आज के शिष्यों की तरह तो हम नहीं हैं। इनको पका-पकाया मिल रहा है। तो भी खाने में इनकी रुचि नहीं होती। जो तपस्या हम लोगों ने की है वह तपस्या ये कर सकते हैं क्या?

''आज भी हर प्रोग्राम को एक चुनौती और इम्तहान की तरह ही मानकर चलते हैं। एक बार लुधियाना में हमारे किसी मित्र ने बुला लिया। हमने कहा—भई, वहाँ कथक कौन देखेगा? वही बात हुई। गणेश-वंदना में ही भाई लोग शुरू हो गए। हमने उनसे कहा—भई, हमारी सारी उम्र की कमाई। आप

एक घंटा-भर तो देखिए। उसके बाद हम आपके साथ भांगड़ा भी नाचेंगे। वे लोग बैठे रहे। बाद में हमने जाटों-सरदारों के साथ घंटों भांगड़ा नाचा। उसमें कितनी तब्दीलियाँ भी बाद में कीं। तो बताओ, है कोई माई का लाल, जो लुधियाना में नाच आए? आज भी एक उम्र गवाँकर हमें अपनी कला का प्रदर्शन हाथ जोड़कर करना पड़ता है।''

वैसे वे यह बात भी जानती हैं कि कैसे वे संयोजक उनके आगे हाथ जोड़ते हैं।

''फिल्मों में भी खूब डटकर काम किया। एवार्ड भी मिले, पर नृत्य के लिए समय न मिलता था। और फिर पिता जी ही कहाँ मानते थे। इस गली में से गुजर कर भी देख लिया, पर फिर कभी लालच न हुआ। फिल्मों में काम छोड़ा, उसके बाद पिता जी ने ब्राह्मणों को बुलवाकर बाकायदा शुद्धि करवाई और तब से सिर्फ नाच ही रहे हैं।''...तब मुझे बरसों पहले एक शाम की सितारा देवी याद आई, जिन्होंने सफेद साड़ी पहन रखी थी और बिंदी नहीं लगाई थी। मेरे हैरान होकर पूछने पर उन्होंने बताया था, ''के. आसिफ का स्वर्गवास हो गया है. उनका तेरहवाँ कर रहे हैं। शैया दान, ब्राह्मण भोज के बाद ही शोक दूर होगा।''

''तो नृत्य के अलावा भी आपको कुछ-न-कुछ याद रहता ही है?'' मैंने कहा।

''हाँ भई, क्यों न रहेगा। आखिर तो मनुष्य हूँ।''

''तो क्या कभी जिंदगी में इस तरह टूटकर किसी से मुहब्बत न की कि नृत्य भी छोड़ दें।'' वे बोलीं, ''मुहब्बत क्यों नहीं की। कई बार की। पर वे सब लोग नाच छोड़ दो, नाच छोड़ दो, कहते रहे। तो नाच से ज्यादा, समझ लो, किसी से मुहब्बत नहीं की—

तुझको देखा तो सरे चश्म हुए
तुझको चाहा तो और चाह न की!

''हाँ भई, कोई बताते हैं कोई नहीं। हाँ, उन मूर्ख स्त्रियों की तरह मुहब्बत न की कि जिस कला के लिए आपको कोई चाहे उसे ही प्रेमी के लिए छोड़ दो। बेटा पैदा हुआ, उसके बाद जैसे एक नया जन्म हुआ था। तब लगता था, पता नहीं कब उठकर नाचेंगे। अभी क्यों न नाचें। तब लड़के के पैदा होने के कुछ दिन बाद ही, जब उसने पूरी तरह अपनी मुट्ठियाँ भी न खोली थीं, हमने पेट

बाँधकर प्रोग्राम किया। उस दिन लगा, हमारा भी नया जन्म हुआ है। और शायद वही एक दिन था, जब यूँ लगा कि पहली बार मंच पर आकर नाचे हैं। पहले जैसे कभी न नाचे थे।"

"क्या आपका बेटा नाचेगा?" यह पूछने पर बोलीं, "उसकी मर्जी पर है। अभी तो पढ़ रहा है। लेकिन यह तो छूत की बीमारी है। कुछ-न-कुछ तो करेगा ही। मृदंगम तो कस के बजाता है। मेरी लड़कियाँ जयंतीमाला, प्रियमाला तो अब प्रोग्राम करती हैं। आजकल बाहर गई हुई हैं। उन्होंने ही ठीक से तालीम भी पाई है। नहीं तो कुछ लड़कियाँ आती हैं, किसी रेकार्ड पर थिरकना शुरू किया और उड़न-छू। गुरु के पाँव छू लेने में तो पश्चिमी सभ्यता की टाँग टेढ़ी होती है, टुकड़ा-तोड़ा में कहाँ फँसती हैं।"

मेरे यह पूछने पर कि आजकल लड़कियाँ ज्यादा ओडिसी नृत्य सीखना चाहती हैं या भरतनाट्यम, वे बोलीं, "अरे भई, कथक-नृत्य बड़ा कठिन नृत्य है। एक पूरी जिंदगी लगाने के बाद भी लगता है, जैसे अभी और कुछ करने को रह गया है। बाकी नई लड़कियों में उतनी सहनशक्ति नहीं है। ठीक है, कुछ भी सीखें, सीखें तो सही।" मैंने फिर पूछा, "आपने इस नृत्य को जैसे समृद्ध किया, कई नई कृतियाँ देकर, ऐसा कोई शिष्य आपको दिखाई देता है?" वे बोलीं, "हाँ, हो सकता है जयंतीमाला, प्रियमाला उसमें कुछ नया करें, वैसे तो नई लड़कियों को ज्यादा शौक फिल्म लाइन का होता है।"

अब तो सारी दुनिया ही घर है अपना

घरानों का जिक्र छिड़ने पर उन्होंने कहा, "पहले तो लखनऊ घराना था, जयपुर घराना था, जहाँ लोग़ सीखते रहे। जब तक पिता जी ने शुरू न किया था, बनारस में कोई नृत्य न था। नृत्य का बनारस घराना पिता जी ने ही शुरू किया। अब तो बनारस में गली-गली में नृत्य है। जो दूसरे घरानों के बड़े-बड़े उस्ताद थे, तवायफों को सिखाते रहे। हमारे पिता जी ने इस नृत्य को कोठों से उतारकर मंच पर लाने का सफल प्रयास किया।" मैंने पूछ, "बनारस की आप बेटी हैं, महाराष्ट्र में ही क्या पूरा समय रहेंगी?" बोलीं, "अरे भई, यह तो गुणीजनों का अखाड़ा है। जितना प्यार-प्रोत्साहन हमें यहाँ मिला, कहीं नहीं मिला। अब तो यही हमारी काशी है और यही काबा, कलाकार को जहाँ प्यार

मिले। प्यार तो हमें बनारस में भी मिलता है। अलकनंदा दीदी, हमारे भाई सब वहीं हैं। हम मिलने तो जाते हैं, पर रहते यहीं पर हैं।

'देश-विदेश घूमने पर सारा संसार ही अपना घर लगता है। विदेश में लोगों ने कितना प्यार दिया, वहाँ कितने विद्यार्थियों को सिखाया, पर देश की माटी हमेशा बुलाती रही, तो अब यही हैं। और अब तो इसलिए भी प्रोग्राम करते हैं, ताकि बुढ़ापे के लिए कमाकर रखें। यह आशा तो है नहीं कि कोई मदद करेगा। आज अपने जमाने के कितने उच्चकोटि के कलाकार गुमनाम हालत में पड़े हैं। सरकार का ध्यान इधर कहाँ जाता है? हमें जो अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता को जिलाए रखने के लिए सब ऐशो-आराम छोड़कर तपस्या करते हैं, सारी उम्र रोजी-रोटी की चिंता लगी रहती है। कमाएँ नहीं, तो खाएँ क्या? कभी अगर भविष्य में सरकार को कुछ खयाल आया, तो हो सकता है कलाकारों की जिंदगी में कुछ सुधार हो। आज तो सरकार कुछ नहीं कर रही।

आपा की आपबीती

इंसान कितना भी बड़ा क्यों न हो जाए, बचपन की कोई-न-कोई बात उसके सिर के ऊपर खूबसूरत तितली की तरह मँडराती रहती है। रंग-बिरंगे परोंवाली यह तितली उसके हाथ में तो नहीं आती, पर सपनों में, छत पर अकेले बैठे हुए, अँधेरे कमरे में नींद को बुलाते हुए, किसी बहुत अपने से कोई बड़ी कड़वी बात सुनते हुए या बहुत-सा काम करते-करते थक जाते वक्त—यह सिर पर घूमना शुरू कर देती है, आँखों की पुतलियों की तरह। बहुत चाहने पर, सपने में कभी यह तितली आपके हाथ के दायरे में आ भी जाए तो भी आप इसे पकड़ नहीं सकते। खाली देख सकते हैं, और चाह सकते हैं उस लमहे को और-और अतीत में डुबो-डुबोकर याद करना, ताकि आप इस तितली के पंखों के सारे रंग गिन सकें।

इस्मत चुगताई, जिन्हें प्यार से हम सब इस्मत आपा भी कहते हैं, अपनी आँखों की चमक पर अतीत के पर्दों की परछाइयाँ तह-दर-तह उठाते हुए कह रही थीं—जब अपनी जिंदगी की सबसे पहली बात याद आती है, तब लाल-लाल शीशोंवाला एक गोल कमरा अपनी चकाचौंध के साथ आँखों के आगे घूमता है, जहाँ मैं तालियाँ बजाते हुए घूमा करती थी। यह शीशमहल मेरी माँ का पेट था, जो उस कमरे की शक्ल में मुझे कभी-कभी दिखाई देता रहा। फिर एक और घेरा याद आता है जहाँ बहुत चमकदार कपड़े पहने मैं खड़ी हूँ और आसपास खड़े लोग गोल-गोल मेरे गिर्द घूम रहे हैं। बात यों थी कि मैं अपने मामू की शादी में नाच रही थी, लोग खड़े थे, जो मुझे घूमते दिखाई दे रहे थे। आज भी लगता है, वे सब घूम रहे हैं, और मैं खड़ी हूँ।

यह कहकर इस्मत आपा फिर लाल रंगोंवाले शीशमहल को खोजने लगीं।

तब मैंने उनसे पूछा, ''आपके ऐसे व्यक्तित्व को देखकर यह तो लगता ही नहीं कि आप कभी छोटी भी थीं। यों लगता है, जैसे आप इतनी ही बड़ी थीं और बाकी सब बौनों की तरह अपना सिर ऊँचा किए आपको देखते रहते थे।''

पर मेरी बात अनसुनी करते हुए वे बताने लगीं, ''हमारे घर में एक सफेद घोड़ी थी, मेरे सभी भाई उस पर बारी-बारी से घूमते। साईस उन्हें घुमाकर लाता। मैं ललचाई नजरों से उन्हें देखती रहती और घोड़ी पर चढ़ने की जिद करती रहती। पर माँ की इजाजत न थी। वे कहतीं—लड़कियाँ घुड़सवारी नहीं करतीं, घोड़ी पर चढ़ी तो टाँगें तोड़ दूँगी। पर जब भी मैं अपने किसी भाई को सफेद घोड़ी पर अकड़कर बैठे हुए देखती तो मचल उठती। एक बार मैं घोड़ी के पीछे-पीछे रोते-रोते आ रही थी। भाई घोड़ी पर शान से बैठा था। तभी मेरे वालिद कचहरी से लौटे। साईस से उन्होंने पूछा—यह क्यों रो रही है? उसने बताया—घोड़ी पर बैठना चाहती है। अब्बा ने कहा—तो बिठाते क्यों नहीं?···जी, बेगम साहिबा की इजाजत नहीं है। अब्बा ने कहा—बिठाओ!···तब से मैं भी रोज सफेद घोड़ी पर बैठने लगी। घोड़ी पर बैठकर मुझे यों लगा, जैसे मैंने कोई किला फतह कर लिया हो।'' विद्रोहिणी इस्मत की पहली जीत थी यह। ''उसके बाद तो वालिद जब भाइयों से निशाना लगवाते, तब मेरे हाथ में भी कारतूस थमा देते और निशाना लगाना सिखाते।'' मैंने हँसते हुए पूछा, ''किसी को निशाना तो नहीं बनाया?'' वे भी हँसते हुए ही बोलीं, ''नहीं बंदूक से नहीं।''

बाजी को ले गया थानेदार

फिर आपा सन्जीदगी से कहने लगीं, ''मैं माँ का दसवाँ नंबर बच्चा थी। मेरे पैदा होते-होते बच्चों में माँ की दिलचस्पी एकदम कम हो गई थी। मुझे या तो अन्ना देखती, या मेरी बाजी। पर अन्ना भी दो-तीन साल बाद चली गई। अन्ना का दूसरी तरफ मुँह किए हुए एक खास अंदाज मुझे अब तक याद है, जिसमें उसके हरे-हरे गोदने साफ दिखाई देते थे। बाजी मुझे बहुत सँभालती थीं, उनकी टाँगों में लिपटी मैं सारा-सारा दिन अपने-आपको महफ़ूज़ समझती रहती। अम्माँ तो, लगता है मुझे नफरत ही करती थीं। हर दो साल बाद उनके बच्चा हो जाता था। भला हो उस बंदर का, जिसने उन दिनों परिवार-नियोजन का काम किया!'' आपा फिर बताने लगीं, ''हुआ यों कि माँ पूरे दिनों से थीं। अपने पेट

पर कटोरी टिकाए वे चने खा रही थीं। दरख्त पर बैठे एक मोटे-ताजे बंदर का मन भी चने खाने को हो आया। उसने ऊपर से माँ के पेट पर छलाँग लगाई। उसके बाद वह बच्चा भी चला गया और अम्माँ के फिर कभी बच्चा न हुआ ... तो जब मैं चार बरस की थी, बाजी की शादी हो गई। लंबे-से सूखे-से-दूल्हा, जिनकी सेहरे की लड़ियाँ नोच लेने को जी चाह रहा था, बाजी को ले गए। वे थानेदार थे। घर-भर में छोटे-बड़े सब मुझे चिढ़ाते थे—

बाजी के बिछुए दानेदार
बाजी को ले गया थानेदार

"जोर-शोर के साथ बजते बाजों में अपनी रुलाई को गुम होते मैं देखती रही। बाजी चली गई। उस वक्त इतने हंगामे में एक बच्ची का रोना-बिसूरना क्या अहमियत रखता था। उन दिनों कभी-कभी ख्वाबों में मुझे अँधेरी खाली सड़क पर रोती हुई धीरे-धीरे आगे बढ़ती एक छोटी लड़की दिखाई दिया करती थी। वह मैं होती थी। ... मैं घर में अकेली इसलिए भी थी कि मुझ में और बाकी बहनों में उम्र का बड़ा फर्क था। वे सब एक कोने में गुच्छा बनाकर अपने-अपने होनेवाले मियाँ लोगों का जिक्र करती होतीं, मुझे देखते ही भगा देतीं। भाई लोग अपने खेल-कूद में मस्त रहते थे। मैं बगैर पार्टी की थी, यानी निर्दलीय। कोई भी मुझे अपनी पार्टी के दायरे के करीब न फटकने देता।

"धीरे-धीरे मुझे यह समझ आने लगा कि बहनों की तरह सिर जोड़कर फिजूल बातें करने से अमरूद के दरख्त पर चढ़ना ज्यादा सुंदर है, घर में बैठकर बावर्चीखाने में नौकरों के सिर पर खड़े रहने से बंदर का तमाशा देखना ज्यादा दिलचस्प है, और ब्याह के लिए तैयार हो रहे दहेज में सिर खपाने से मुर्गियों के पीछे दौड़ना ज्यादा आसान है। मैंने दूसरा रास्ता पकड़ा, जो आज तक पकड़े हुए हूँ।" आपा सुनाती रहीं, "घर में किसको इस बात की फिक्र थी कि मैं कैसे बड़ी हो रही हूँ। मैं अपने भाइयों के साथ वे सभी खेल खेलती, जो लड़के खेलते। गुल्ली-डंडा, पतंगबाजी और फुटबाल खेलते-खेलते मैं बारह बरस की हो गई। तब तक मैंने पढ़ने के नाम पर कुरानशरीफ खत्म कर लिया था। शाबाशी देने के बजाय सब कहने लगे—अए-हए, इतनी बड़ी हो गई, और कुरान अब खत्म किया। इन्हीं की भानजी को देखिए—पाँच बरस की है, कुरान भी खत्म किया और सीना-पिरोना भी सब जानती है। यह भानजी मेरी बड़ी आपा की लड़की थी। आपा बेवा हो गई थी। याद आया—एक बार घर में तार आने से कुहराम

मच गया था। पता चला, दूल्हा भाई चल बसे। मैं बड़ी खुश हुई कि अब बाजी वापस आ जाएँगी, अब फिर रातों में अँधेरी सड़क पर रोते हुए जाती वह छोटी लड़की मुझे न दिखाई देगी। पर मालूम हुआ, ये बड़ी बहन के शौहर थे, जो गुजर गए। मुझे बड़ा गुस्सा आया। अल्लाह मियाँ को अगर मारना ही था तो बाजीवाले दूल्हे को मारते ताकि मैं जी जाती। पर अल्लाह मियाँ को मुझ से क्या मतलब!

"बारह साल की हुई, तो एक दिन अम्माँ ने हाथ में पुराने गरारे की गोट निकालकर दे दी। सूई-धागा थमाकर कहा कि इसका कमरबंद सियो, हाथ खुल जाएगा। जब तक अम्माँ सिर पर खड़ी रहीं, मैं भी सीने की कोशिश करती रही। एक टाँका दूँ, तो दम घुटता हुआ लगे। मुर्गियाँ दौड़ाते या पेड़ों पर चढ़ते भाई दिखाई दें तो हाथ में सूई चुभ जाए। अम्माँ को घर में बहुत काम होते थे। उनके जाते ही मैं यह गोट बंद रजाइयों में घुसा देती, जो कभी सर्दियों में बिस्तर खुलने पर नजर आती।

"फिर माँ ने खाना बनाना सिखाना चाहा। मैंने कहा—मैं तो न सीखूँगी। अम्माँ ने कहा—क्यों न सीखोगी? मैंने कहा—शहनाज भाई क्यों नहीं सीखते? माँ ने कहा— उसकी बीवी आएगी, वह खाना बनाएगी। मैंने कहा अगर उनकी बीवी मर गई या भाग गई तो कौन बनाएगा? शहनाज भाई रोने लग गए कि मेरी बीवी को क्यों भगा रही है? तभी अब्बा आ गए। सारी बात सुनकर उन्होंने बड़े प्यार से मुझसे कहा—खाना तो औरतें बनाती हैं। ससुराल जाकर दूल्हे को क्या खिलाओगी? मैंने जवाब दिया—दुल्हा गरीब हुआ तो खिचड़ी बनाकर खा लेंगे, और अगर अमीर हुआ तो बावर्ची बनाएगा।

"अब्बा ने तभी समझ लिया, इस भूतनी का हम कुछ न बिगाड़ सकेंगे। उन्होंने पूछा—क्या करोगी फिर तुम? मैंने कहा—सभी भाई पढ़ते हैं, मैं भी पढ़ूँगी। तब मेरे मामू महीना-भर मुझे घर पढ़ाते रहे। और उस एक महीने में सुबह-शाम मैंने इतना पढ़ा कि स्कूल में चौथी जमात में ले ली गई। उसके बाद डबल प्रमोशन मिला और मैं छठी में आ गई। मैं आजाद रहना चाहती हूँ, यह तो बचपन से मैं सोचती थी, अब एक राह भी सुझाई दी। शिक्षा के बिना औरत को आजादी नहीं मिल सकती। बेपढ़ी औरत घर बैठकर मियाँ से 'बेवकूफ', 'जाहिल' जैसे खिताब पाएगी और मियाँ के दफ्तर जाते ही घर बैठ फिर उसी का इंतजार शुरू कर देगी। मैंने सोचा, चाहे कुछ हो जाए किसी से दबकर नहीं

'रहूँगी, और जितना मुमकिन हुआ पढ़ूँगी।"

छिड़की थी नन्ही-मुन्नी जान किसी पर

मैंने उनसे पूछा, "उन दिनों तो लड़कियाँ ज़रा-सी जवान होते ही शादी-ब्याह के बारे में सोचने लगती थीं। क्योंकि और कोई दिल्लगी न थी। तो सहेलियों की बातें सुनकर आपको भी तो शादी का खयाल आता होगा?"

"नहीं, शादी तो हम करना ही न चाहते थे। पड़ोस का एक लड़का पसंद जरूर आ गया था। तब मैं बारह या तेरह बरस की थी। मुहब्बत तो उस उम्र में खुद-ब-खुद लड़की के दिल में घर करने लगती है। वे साहब छब्बीस या सत्ताईस के रहे होंगे। हमारी बहुत बड़ी कोठी के पास ही रहते थे। रोज सवेरे घुड़सवारी के लिए जाते थे। तब मैं बाकायदा पाबंदी से उन्हें देखा करती थी। उन्होंने कभी सपने में भी न सोचा होगा कि यह छाटी-सी चुन्नी-मुन्नी उन पर जी-जान से आशिक है। वे बेहद हसीन थे। पर मेरी तरफ क्यों देखते। उनकी नजर अपनी उम्र की किसी छोकरी पर रही होगी। तो हम सिर्फ उन्हें घोड़े पर आते-जाते देखते ही रह गए। फिर तीस बरस बाद वे बंबई में एक बार शाहिद के सेट पर आए। मुझे पहचानकर गले लगा लिया। मैंने मन में सोचा—अरे कमबख्त, अब क्या फायदा! तीस साल पहले गले लगाया होता तो दुनिया में क्या हो गया होता! तब तो हमारा नोटिस न लिया! हम कितनी देर अपनी बारह-तेरह की नन्ही-मुन्नी जान मुहब्बत की फुहारों से भरकर तुम पर छिड़कते रहे! और तब के सुंदर राजकुमार का जो सपना आज मुझे रोमांचित कर जाता था, उसे एक मरियल खूसट सूखे-सड़े बुढ़ऊ ने आकर चकनाचूर कर दिया। कमबख्त ने मेरा बचपन ही सुखा दिया।

लड़के कोई खा तो नहीं जाएँगे?

मैंने डरते हुए आहिस्ते से पूछा, "इन साहब की तरह क्या कालेज में फिर कोई लड़का कभी अच्छा लगा?"

वे बोलीं, "कई एक लड़के अच्छे लगे। पर थोड़े-थोड़े दिन ही अच्छे लगते थे। जो बहुत हैंडसम व लायक लड़के थे, उन पर तो लड़कियाँ ही मरती थीं। जो सूखे-सड़ियल, कुतरे-से लड़के थे, वही लड़कियों के पीछे भागते थे। एक

क्रिश्चियन लड़का बड़ा हैंडसम था। उस पर बहुत लड़कियाँ फिदा थीं। हमारे साथ भी उसकी दोस्ती थी। लड़कियाँ उसके घर जाकर केक-पेस्ट्री भी खा आती थीं। हमारे कालेज में तो सिर्फ लड़कियाँ पढ़ती थीं। जब कभी कोई लीडर आते—जैसे मौलाना आज़ाद आए, नेहरू जी आए, विजयलक्ष्मी आईं—उनके भाषण यूनिवर्सिटी में होते थे। तब हम लड़कों की यूनिवर्सिटी में जाते थे। वहाँ तो हॉल में लड़के शरीफों की तरह बेंचों पर बैठे रहते, पर बाहर सड़क पर आते ही आवारा हो जाते। सामने की पटरी पर चलते हुए घटिया-घटिया शेर उछालते, बिलावजह हँसते, या एक-दूसरे पर गिरते-पड़ते चलना शुरू कर देते। लड़कियाँ नीची नजर किए अपनी पटरी की ओर देखते-देखते मुश्किल से होस्टल पहुँचतीं। इस ड्रामे से मुझे बड़ी कोफ्त होती। उस्तानियाँ तो समझती थीं कि इधर लड़कियों ने लड़कों से बात करनी शुरू की, उधर लड़के खत्म। मैं लड़कियों से कहती—ये लड़के हम से सिर्फ दोस्ती करना चाहते हैं, खा तो नहीं जाएँगे, पर कोई लड़की मुझसे सहमत न थी।

"बहरहाल, एक दिन भाषण सुनकर जब हम अपनी-अपनी पटरियों पर चल रहे थे, एक लड़के के शेर खत्म करते ही मैंने अपनी पटरी से जुमला उछाला—क्यों भई, यह जिगर का शेर है क्या ? लड़के ने दाएँ-बाएँ देखा—यह आवाज कहाँ से आई ? आवाज तो जनाना लगती है ! तब तक मैंने अपना सवाल दोहरा दिया। वह हकलाता हुआ बोला—मालूम नहीं ! मैंने फिर कहा—बिना जाने ही अँधेरे में गोटी फेंक रहे हो ? अरे भई, यह दाग़ का शेर है। उसके बाद मैंने लड़कियों से कहा—देखो तो, मुझे तो किसी ने खाया नहीं। मैं तो सही-सलामत हूँ। उसके बाद कई लड़कों से हमारी दोस्ती हुई। पढ़ने-लिखने की, शायरी की बातें होतीं। हाँ, तीन-चार लड़कियाँ मिलकर लड़कों से चाय-वाय भी पी लेते। पहले से यह सोचकर जाते, क्या-क्या मँगवाएँगे। सोडा, समोसे, आलू की टिकियों का दौर चलता। लड़कों के घरों से जो आमों के टोकरे आते, मिठाइयाँ आतीं, उनमें हमारे लिए भी हिस्सा रहता। उस्तानियाँ खफा होतीं तो एक-आध आम उन्हें भी दे दिया जाता।

"एक बार छुट्टियों में हम घर जा रहे थे। लड़के भी, जाहिर है, उस ट्रेन में थे। ज्यों ही किसी स्टेशन पर गाड़ी रुकती, सब लड़के जाकर हमारे डिब्बे के सामने इकट्ठा हो जाते। डर के मारे, लड़कियाँ छोले-भटूरे व टिकियों की तरफ देखती रह जातीं और नीचे जाकर खरीदने की किसी को हिम्मत न होती। प्यास

के मारे बुरा हाल था। मैंने सोचा, यह सफर तो बड़ा बदमजा रहेगा। अगली बार प्लेटफार्म पर जब गाड़ी खड़ी थी, मैंने एक लड़के से कहा—ज़रा इधर आओ। वह कुछ समझा नहीं। मैंने फिर इशारे से बुलाया। वह डरते-डरते खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया। मैंने कहा—सोडा ला दोगे? बोला, जरूर! और पलक झपकते ही सोडे की बोतल लाकर हाथ में रख दी। पैसे लेने से वह इनकार करने लगा! मैंने कहा—भई, दो आने के लिए तुम्हारा एहसान क्यों लूँ। तुमने सोडा ला दिया, यह क्या कम है? जब गाड़ी चली तो एक टीचर जो साथ में थीं, गुस्सा होने लगीं कि क्यों लड़कों से सोडा मँगवाया? मैंने कहा—अब की पूछेगा तो खाना ही मँगवा लूँगी। बात ही तो की है—बात करने में क्या हर्ज है? अगले स्टेशन पर एक सोडा आपको भी मँगवा देंगे। टीचर शायद माइंड कर गईं। अगले स्टेशन पर लड़के फिर आए। जब-जब प्लेटफार्म आता, हम कुछ-न-कुछ मँगवा ही लेते। काफी बेतकल्लुफी हो गई। सफर भी खूब मजे में कटा।"

आपा ने सिलसिला आगे बढ़ाया, "बचपन में मुझे सोते में चलने की आदत थी। दस बरस की उम्र तक यह आदत रही। सोते में उठकर कहीं भी निकल जाती। एक बार कुंडी खोलकर बाग में निकल गई। जब होश आया तो एक पेड़ के नीचे खड़ी थी। उसे हम भूतहा पेड़ कहते थे। मुझे तो कोई भूत-वूत नहीं दिखा। पर माँ ने समझा, मुझ पर बला आती है। वे दरगाह में चढ़ावे चढ़ातीं। दरगाह का डंडा भूत भगाने के लिए सिर पर लगातीं। पर न बला आई, न गई।" यह कहकर वे जोर से हँसा। हँसी तो उनके साथ मैं भी, पर यह कहने की मेरी हिम्मत न हुई कि बला आपका भला क्या खाकर मुकाबला करती?

विषय को ज़रा बदलते हुए मैंने पूछा, "स्कूल में दाखिल होने के बाद क्या फिर घरवालों ने शादी की बात नहीं उठाई?" आपा बताने लगीं, "क्यों नहीं, जब मैं नवीं क्लास में थी, पैगाम आने शुरू हो गए। एक लड़का डिप्टी कलक्टर था। माँ ने फौरन फैसला कर लिया—अपनी भूतनी लड़की मैं इसी को दूँगी। दर्जी-सुनार बैठा दिए गए। एक दिन स्कूल से लौटकर मैंने चहल-पहल देखी, तो कुछ शुबहा-सा हुआ। अब कोई और बहन कुँवारी तो न थी, फिर यह हंगामा कैसा। सुराग लगाने से पता चला, ये हमारी ही शादी की तैयारियाँ हैं। मैं तो घबरा गई। बारी-बारी अम्माँ-अब्बा से कहा—मैं शादी नहीं करूँगी, पढ़ूँगी। माँ बोली—पागल है। अब्बा समझाने लगे—पढ़ने को कौन मना करता

है। ससुराल में जाकर पढ़ लेना। मैंने सोचा, ससुराल में पढ़ाई हो चुकी। अब्बा जैसा कलक्टर हुआ तो हर साल बच्चे पैदा करूँगी, या इम्तहान दूँगी? बहुत सोचने के बाद एक तरकीब सूझी। मेरे मामूजाद भाई बंबई में डॉक्टरी पढ़ रहे थे। मैंने बड़ी मिन्नत करते हुए, गिड़गिड़ाकर उन्हें खत लिखा—मुझे सिचुएशन से निजात आप ही दिला सकते हैं। आपको कुछ नहीं करना है। सिर्फ मामूजान को खत लिख दीजिए कि मैं आपको पसंद हूँ, आप मुझसे शादी करेंगे। इससे मेरी शादी रुक जाएगी। और मैं कुरानशरीफ की, अल्लाहपाक की और अपनी पढ़ाई की कसम खाकर कहती हूँ कि कभी आपसे शादी नहीं करूँगी। खुदा के लिए यह सबाब का काम कीजिए। मेरी शादी रुकवा दीजिए। भाई मेरी चाल में फँस गए। चार-पाँच दिन बाद जब अम्माँ सफेदीवालों से मोल-भाव करवा रही थीं, मामूजान हड़बड़ाते हुए आए और बोले—शौकत इसे पसंद करता है। लड़की तुम बाहर नहीं दे सकतीं। यह देखो चिट्ठी। अम्माँ की तो बाँछें खिल गईं। अधसिले कपड़े और पिघले हुए सोने को उठाकर दर्जी व सुनार चले गए। अपनी शादी रुक गई।"

मैंने पूछा, "आपा, जब आप बड़ी हो गई होंगी तो पर्दा तो करती होंगी?"

आपा बोलीं, "अरे नहीं, काहे को करते। जब छोटी थी, तब एक पर्देवाली खटारा गाड़ी में स्कूल जाते थे। वह दरवाजे के साथ आकर लग जाती थी। उसमें एक औरत रहती थी, वह बाहर झाँकने पर डाँटती थी। मैट्रिक तक तो अलीगढ़ में रहे। उसके बाद लखनऊ हास्टल में चले गए। बचपन में बाहर अम्माँ के साथ शिकरम में जाते। उन दिनों बंद पर्देवाली गाड़ियाँ होती थीं। स्कूल में ही जब ज़रा बड़े हो गए तब घरवालों ने बुर्का पहनने को कहा तो था। हाँ, याद आया। एक बार सब रेलगाड़ी में जा रहे थे। मंजिल आने से पहले सब बीवियों ने अपने बुर्के सँभाल लिए। मैंने सोचा—उतरते ही मुझे बुर्का पहनना पड़ेगा। जब नौकर बिस्तर बाँध रहे थे, मैंने उसमें अपना बुर्का रख दिया। सात-आठ बिस्तरों में से एक में वह बँध गया। जब ट्रेन रुकी तो मैंने बहुत भोली बनकर अपना बुर्का ढूँढ़ना शुरू कर दिया। सबने पूछा कि आखिर गया कहाँ? अम्माँ ने तलब किया—कहीं चलती ट्रेन से फेंक तो नहीं दिया कमबख्त? जब पीठ पर एक-दो धौल पड़े तो मैंने जैसे बहुत सोचकर जवाब दिया—हो सकता है, बिस्तर में बंद हो गया हो। मैंने तकिए के लिए तहाकर रखा था। अब तो कोई चारा न था। बिस्तर बंद करने में दो घंटे लगे थे। खोलने में एक तो लगता

ही। लिहाजा मैं बगैर बुर्के के ही बाहर निकल आई। एक बार अब्बा ने पूछा—तुम स्कूल में सिर ढककर रखती हो ? मैंने कहा—नहीं, ढके हुए सिर में मैं बड़ी बेवकूफ लगती हूँ। अब्बा 'हूँ' करके रह गए।

"मेरा पर्दा तो छूट ही चुका था। कभी बहुत जरूरत होती, तो किसी बूढ़ी से माँगकर पहन लेती थी। पर रिटायर होने के बाद जब अब्बा जोधपुर आए, तब सभी को बुर्का छोड़ना पड़ा। हुआ यों कि जोधपुर में हिंदू औरतें चादर ओढ़कर आती-जाती थीं। मुसलमान औरतें बुर्के में होती थीं। चौपालों पर बैठे मुस्टंडे देखते रहते कि अच्छा ये जा रही हैं। घर से निकलने से लेकर कहाँ जाती हैं, वहाँ तक की पूरी खबर ये लोग रखते। रिश्तेदारी में बड़ा हंगामा होता। इन बातों से बचने के लिए यह तरकीब निकाली गई कि हिंदू औरतों की तरह चादर ओढ़कर निकला जाए। न कोई पहचानेगा न बातें होंगी। पहचान तो सारी बुर्के की होती थी। तभी घर में भी सबका पर्दा छूट गया।"

गाँधी जी से मुलाकात : खद्दर का चक्कर

"कालेज पहुँचने तक तो मैं बुर्का कब की छोड़ चुकी थी। यूनिवर्सिटी जाना होता तो कभी माँगे हुए बुर्के से काम चला लेते थे। फिर तो खद्दर पहनना शुरू कर दिया। खद्दर का किस्सा यों हुआ कि गाँधी जी लखनऊ आए। हम कुछ लड़कियाँ उनसे मिलने गईं। ऑटोग्राफ माँगा तो बोले—जब तुम लोग खद्दर पहन कर आओगी, तब ऑटोग्राफ दूँगा। शाम को हमने खद्दर की धोतियाँ खरीदीं। दूसरे दिन तीस लड़कियाँ बदबूदार, खुरदरी, कलफ लगी खद्दर की धोतियाँ पहने गाँधी जी के दरबार में हाजिर हो गईं। गाँधी जी अपनी पोपली-सी हँसी हँसकर मानो कह रहे थे—देखो, तीस लड़कियों से आज विदेसी कपड़ा छुड़ा दिया। तब हम सबको उन्होंने बहुत प्यार से बैठाकर ऑटोग्राफ दिए। खद्दर के चक्कर में हम एक बार गिरफ्तार होते-होते भी बचे।"

मेरी दिलचस्पी को देखते हुए आपा ने मुस्कराकर फिर सुनाना शुरू किया, "तब मैं नौकरी करने लगी थी। जोधपुर अम्माँ से मिलने जा रही थी। दिन तो थर्ड-क्लास में काटा, रात को सोने के लिए फर्स्ट-क्लास में बुकिंग करवा ली। धोती तो खद्दर की ही पहनी थी। जोधपुर से दो स्टेशन पहले फुलेरा से ही जोधपुर में खबर हो गई कि काँग्रेस की कोई बड़ी लीडर आ रही हैं। उन दिनों

वहाँ काँग्रेस पर प्रतिबंध था। जोधपुर में जब मैं खद्दर की चकाचक सफेद धोती पहने, चश्मा लगाए, बैग झुलाती हुई फर्स्ट-क्लास के डिब्बे से उतरी तो इस्तकबाल (स्वागत) के लिए पुलिस खड़ी थी। इत्तफाक से सब-इंस्पेक्टर मेरे खालू थे। वे काँग्रेस की लीडर की जगह मुझे देखकर चकराए और बोले—अरे, ये तो मेरी भानजी है। घर तक तो इज्जत के साथ ले आए। पर घर में घुसते ही शुरू हो गए—बेशरम, बदतमीज, यह क्या तमाशा है! मैंने नादान बनते हुए, कहा—कौन-सा तमाशा? मैंने तो खाली खद्दर की साड़ी पहनी है, और तो कुछ भी नहीं किया! अब तो मैं नौकरी भी करती थी और ज्यादा बहस में कौन पड़ता।"

"उन दिनों जोधपुर में एक हेडमिस्ट्रेस की जगह खाली थी। मैं जोधपुर में मौजूद पहली बी.ए.बी.टी. पास मुसलमान लड़की थी। लिहाजा 'हक माँगता है मुसलमान' का नारा बुलंद हुआ और यह हक मुझे मिल गया। मैं स्कूल की हेडमिस्ट्रेस हो गई। स्कूल जाने लगी तो मैंने चादर ओढ़ ली। मामू बोले—बुर्का पहनकर जाओ। मैंने सोचा मजाक कर रहे हैं, और चादर फेंककर दनदनाती हुई यह कहते-कहते बाहर निकल गई कि बुर्का पहनने को कहा तो रिजाइन कर दूँगी। मेरी जिद से सब वाकिफ थे, कोई कुछ न बोला। जब अब्बा ने मैट्रिक के बाद आगे पढ़ाने से इनकार किया था, तब भी मैंने उन्हें यह कहकर ब्लैकमेल किया था कि अगर आपने मुझे नहीं पढ़ाया तो मैं मिशन में जाकर क्रिश्चियन हो जाऊँगी। अब्बा ने पूछा था—वहाँ कैसे जाओगी? मैंने जवाब दिया था—रेल की पटरी के साथ-साथ चली जाऊँगी, रास्ता मुझे मालूम है। वे लोग फौरन मुझे क्रिश्चियन बनाकर स्कूल में भर्ती कर लेंगे। अब्बा आगे पढ़ाने के लिए मान गए थे।"

किस्सा घोड़ीवाले घर का

मैंने पूछा, "उन दिनों बी.ए.बी.टी. तो बहुत पढ़ाई होती थी, तो भी क्या आपका मन आगे पढ़ने का हुआ?" आपा झट से अपनी मस्ती-भरी हँसी हँसकर सुनाने लगीं, "अरे, बड़ा मजा हुआ! मेरे अब्बा ने जब देखा कि मैं सिर्फ पढ़ना चाहती हूँ, शादी की कोई सलाह नहीं दिखती, तो उन्होंने आगरा में एक छोटा-सा घर मेरे नाम कर दिया। उस वक्त तीन-चार हजार का रहा होगा। मैंने वह अपने

भाई की हिफाज़त में रखा हुआ था। सोचा, बेचकर विलायत हो आया जा सकता है। तब बहुत बढ़िया नौकरी मिल जाएगी। सो आगरा भाई के घर गई। उन पर अपना इरादा जाहिर किया और कहा—हमारा घर बिकवा दीजिए। मैं विलायत जाना चाहती हूँ। भाई कहने लगे—कौन-सा घर? वह घोड़ीवाला घर? वह तो तुम्हारे जाली दस्तख्त करके हम कब का बेचकर खा-पी चुके। जो थोड़े पैसे बचे थे, उनका तुम्हारी भाभी को जेवर बनवा दिया। भाभी बोलीं—अए-हए, हमें बीच में मत घसीटो। हमें क्या मालूम तुम कहाँ से लाए हो!

"मैं बड़ी खफा हुई। मैंने कहा—भाईजान, आप पर केस चल सकता है। बोले—जरूर चल सकता है। हमें जेल भी हो सकती है। पर पैसे तुम्हें तब भी न मिलेंगे। मैंने उनसे पूछा—आप वकील हैं। बताइए, केस कैसे करें? बोले—हम तुम्हारा केस लड़ सकते हैं, फीस निकालो। यह सब सुनते-सुनते मेरी भावज घबरा गई थीं। भाई ने उन्हें नजरअंदाज करते हुए मुझे बड़े प्यार से पूछा—विलायत जाने को क्या बहुत जी चाह रहा है? मैंने कहा—जी तो चाह रहा है। बोले—तैरती हुई चली जाओ। और फिर उन्होंने बंबई से आगे पूरा रास्ता समझाना शुरू कर दिया—यहाँ दो दिन रुकना, फिर तैरना। कुछ दिनों में विलायत पहुँच जाओगी। मेरी भावज जो बड़ी दिलचस्पी से गुफ्तगू सुन रही थीं, बोलीं—इनके कपड़ों का क्यो होगा? भाई कहने लगे—मोमजामे में सीकर पीठ पर बाँध लेगी, और क्या! भाभी ने दूसरा सवाल उठाया—समंदर में तो बड़ी-बड़ी मछलियाँ होंगी, इनको खा नहीं जाएँगी? भाई बोले—एक लंबा बाँस हाथ में रखना, उससे मछलियाँ हटाती रहना! वहीं बैठे हमारे भतीजे साहब भी सब बात सुन रहे थे। वे थोड़ा हकलाते थे। बोले—फू-फू-फू-फू, हम भी जाएँगे। और उनके बीच में कूद पड़ते ही विलायत की यात्रा स्थगित हो गई। अब फू-फू-फू-फू को लेकर कौन विलायत जाए?"

शाहिद से दोस्ती और शादी

आग़ा ने अपना बड़ा-सा सफेद पानदान निकाला और पान की चोंच किमाम में लपेटते हुए कहने लगीं, "मैंने बचपन में कदम-कदम पर जंजीरें तोड़ी हैं। विरोधी पार्टियाँ जोरों पर रहती थीं, तो भी जीत हमेशा अपनी ही हुई।"

मैंने सवाल किया, "शाहिद साहब से आपकी मुलाकात कब हुई ?" बताने लगीं, "शाहिद से मैं सबसे पहले अलीगढ़ में मिली। वे एम.ए. कर रहे थे। मैं बी.टी.। उसके बाद एक बार दिल्ली में सरसरी मुलाकात हुई। फिर तो वे बंबई आ गए थे। बांबे टाकिज में कहानी और डॉयलॉग लिखने के लिए नौकर हो गए थे। पौने दो सौ तनख्वाह पाते थे। जब मैं स्कूल-इंस्पेक्ट्रेस होकर बंबई आई और अपने बड़े भाई के साथ रहने लगी, तब फिर शाहिद से मुलाकात हुई। शाहिद ने हमारे घर आना-जाना शुरू कर दिया। मैं भी उनके साथ घूमने को निकल जाती थी। हम लोग पिक्चरें देखते, चौपाटी पर नंगे पाँव घूमते, दूसरे लेखक मित्रों से मिलते।

"एक बार शाहिद मेरी कहानी बिकवाने बांबे टाकिज में ले गए। भाई को किसी ने बता दिया। भाई बड़े खफा हुए। वे सोचते थे, मेरी बहन साढ़े तीन सौ तनख्वाह पाती है, किसी हजार-डेढ़ हजार पानेवाले के साथ इसकी शादी करूँगा। पौने दो सौ तनख्वाह पानेवाले डॉयलॉग-राइटर से मेरा मिलना-जुलना उन्हें कतई पसंद न था। इस बाकये के बाद जब आने-जाने पर रोक-टोक हो गई तो मैंने भाई का घर छोड़कर होस्टल में रहना शुरू कर दिया। तब भाई ने मेरे उन्हीं मामूजाद भाई को पटाया, जिन्होंने मेरी शादी रुकवाई थी, कि तुम अभी तक कुँआरे हो, इस्मत से पूछो, शायद तुमसे शादी करने के लिए हाँ कर दे। वे एक दिन घर आए। कहने लगे—चौपाटी चलोगी ? मैंने कहा—जरूर चलूँगी। थोड़ा ताज्जुब भी हुआ। चौपाटी पर काफी देर चलने के बाद वे कुछ संकोच से बोले—भाई ने ऐसा कहा है कि अगर तुम्हारी मर्जी हो तो मुझसे शादी कर लो। मैंने कहा—तौबा-तौबा ! तुमने जिंदगी में मेरे साथ इतनी भलाई की है, मैं तुम्हारे साथ यह दुश्मनी क्यों मोल लूँ? फिर मैंने संजीदगी से कहा—तुम्हारे लिए जो बीवी मेरे जेहन में है, वह मैं नहीं हूँ। एकदम हसीन भोली-भाली लड़की है वह। और हम घर वापस आ गए।"

मैंने ज़रा-सा साहस करके पूछा, "जब शाहिद साहब ने आपसे शादी के बारे में पूछा, तो आप क्या इस सवाल के लिए तैयार थीं ?" इसका उत्तर वे टाल गईं और कहने लगीं, "शाहिद से हमारी दोस्ती थी। शादी तो घपले में हो गई। अब्बास ने अपने घर के पास, एक फ्लैट ले लिया। मोहसिन एक काज़ी पकड़ लाए और शादी हो गई।" मैंने कहा, "गोया जब होश आया, शादी हो चुकी थी।"

बोलीं, "ऐसा तो नहीं है भई, मैंने शाहिद को खूब समझाया था कि मैं बड़ी गड़बड़ किस्म की औरत हूँ। बाद में पछताओगे। मैंने सारी उम्र जंजीरें काटी हैं, अब किसी जंजीर में जकड़कर न रह सकूँगी। फर्माबर्दार पतिव्रता औरत होना मुझ पर सजता ही नहीं है। पर शाहिद न माने। उन्होंने भी दोस्तों में डींग हाँक रखी थी कि मैं इस्मत से शादी करूँगा और जब सब इस मजाक पर जोर से हँस पड़े थे, तब शाहिद का इरादा और भी पुख्ता हो गया था। शादी से एक दिन पहले मैंने अंतिम चेतावनी देकर कहा था—अब भी वक्त है, मान जाओ। हम सारी उम्र दोस्त रहेंगे। एक दोस्त की तरह कह रही हूँ। जब वे न माने, तब मैंने मन-ही-मन सोचा, कभी बाद में याद करोगे कि किसी दोस्त ने अच्छी सलाह दी थी जो तुमने न मानी। शादी के बाद भी मैंने एक बार कहा कि भई, जबरदस्ती थोड़े ही है, न निभे तो तलाक दे देना।" और वे खुद हँसीं, फिर बोलीं, "शाहिद का खयाल था, अगर वे कभी मुझे तलाक दे देंगे, तो लोग यही समझेंगे, मैं ही उन्हें छोड़कर भाग गई हूँ।"

"शादी में आपके बड़े भाई तो न आए होंगे?" मैंने पूछा। बोलीं, "उन्होंने मरते दम तक हमारी शक्ल न देखी। हाँ, अम्माँ को मालूम हुआ तो उन्होंने छोटे भाई को बंबई यह देखने के लिए भेज दिया कि देख आ, कमबख्त वहाँ क्या कर रही है। छह फुट तीन इंच के मेरे छोटे भाई जब शाहिद से दुआ-सलाम कर चुके तो मुझे एक तरफ ले जाकर बोले—यह क्या कर रही हो! इतना भोला, मासूम शक्ल का लड़का है, इससे तुम शादी करोगी? दिमाग चल गया है क्या? मैंने बड़ी मासूमियत से कहा कि मैं क्या करूँ, मान ही नहीं रहा है। मैंने तो काफी समझाया, अब तुम कोशिश कर देखो।"

फिर आपा अतीत में डूबते हुए सुनाने लगीं, "शाहिद ने बड़ा सुख दिया। उन्हें किताबें खरीदने की लत थी। अच्छी-अच्छी किताबें खरीदकर लाते थे। जो भी नया कलम निकलता, खरीद लाते। अब तक मेरे पास सब उन्हीं के खरीदे हुए कलम हैं।"

मैंने मन में सोचा—शाहिद साहब मुहब्बत के अलावा अपनी इस दबंग, साफ-साफ बोलने व लिखनेवाली लेखिका बीवी की बड़ी इज्जत भी करते रहे होंगे। ऐसी स्त्री कितनी भाग्यशालिनी होती है, इस्मत आपा के बेपरवाह अंदाज से जाना जा सकता है। आपा बड़े सरगोशी के अंदाज में कर रही हैं, जैसे मेरे मन की आवाज उन तक पहुँच गई हो—पुरुष स्त्री को पूजकर देवी बनाने को

तैयार है । वह उसे मुहब्बत दे सकता है, इज्जत दे सकता है, सिर्फ बराबरी नहीं दे सकता । आहा, कितनी सुंदर बात ! पुरुष समझता है, अनपढ़ औरत से कैसी दोस्ती ? पर दोस्ती के लिए प्यार की जरूरत होती है, इल्म की नहीं ।

इतने में स्कूल से उनका नाती आ गया । आपा की सारी तवज्जोह उस पर केंद्रित हो गई । उसने आते ही अलमारी में से सेब निकाले और नानी को काटने के लिए दे दिए । सेब काटने में मसरूफ आपा अब सिर्फ एक नानी लग रही थीं । मैंने एक लेखिका से विदा लेने की जगह नानी से विदा लेना ज्यादा अच्छा समझा ।

उजली सड़क पर जब मैं अकेली जा रही थी, तब मुझे अँधेरी सड़क पर एक अकेली लड़की सुबकती हुई जाती दिखाई दी । यह लड़की सिर्फ रो रही थी, माँ को भी नहीं पुकार रही थी । उस लड़की के तसव्वुर में मैं घर पहुँची । पहुँचते ही मैंने अपनी सोती बच्ची को उठाकर कलेजे से लगा लिया । धीरे-धीरे सड़क का अँधेरा घुल गया । उसकी जगह ले ली मेरी बच्ची की तेज चमकती सुंदर आँखों के उजाले ने । मैं भगवान से प्रार्थना करने लगी—दुनिया की हर बच्ची की आँख में यही उजाला चमकता रहे ।

दिनकर जी

20 अप्रैल को सुबह-सवेरे दिनकर जी का फोन आया। 'इनके' हाथ से ज्यों ही मैंने रिसीवर लिया, तो झट-से एक प्रश्न उन्होंने कर दिया—धरमवीर कहाँ है? मैंने कहा—अपने घर में होंगे। तब बोले—वह मॉरिशस कब जा रहा है? मेरे पास उसका तार आया है। उसको मैंने कुछ लेख और कविताएँ भेजी थीं। लगता है, उन्हें देखकर घबड़ा गया है। उसको कहना, धीरे-धीरे छापे। मैंने कहा—आज ही धर्मयुग जाकर कह आऊँगी। आप बंबई कब आ रहे हैं? तब कहने लगे—अभी तो कल तिरुपति जा रहा हूँ। वहाँ से फिर पटना जाऊँगा। बच्चों को देखने को बहुत मन हो रहा है। अरविंद अब अच्छा हो गया है। उसे जाकर देखें। जब तुम जून में दिल्ली आओगी, तब बंबई आ सकते हैं। अच्छा खुश रहो।"'यह कहकर उन्होंने फोन रख दिया। फोन पर इतनी लंबी बात वे कभी नहीं करते थे। आज इतनी लंबी बात की, तो मैंने जाना—इनको घर की, बच्चों की ममता अकुला रही होगी। और अब मालचा मार्ग की सड़क पर छड़ी लिए घूमते-घूमते उन्हें ही याद कर रहे होंगे।

25 अप्रैल को सुबह की डाक से उनका रजिस्टर्ड पत्र आया। हल्के हरे रंग की स्याही से लिखा हआ मोटा-मोटा श्रीनामा। प्रख्यात संगीतकार जयदेव जी ने उर्वशी को स्वरों में बाँधा है। जो भाग दिनकर जी को पसंद था, वह उन्होंने काटकर भेजा है। अंग्रेजी का अनुवाद भी है। स्वर-सम्राज्ञी लता मंगेशकर स्वर देंगी, यह जानकर दिनकर जी खुश हुए थे। मैंने चार लाइनों का उनका पत्र सहेजकर रखा। सारा दिन उत्तर देने की सोचती रही। तब मैं कैसे जान पाती कि यह उनका अंतिम पत्र होगा।

दूसरे दिन सुबह ही किसी ने फोन पर पूछा—क्या दिनकर जी नहीं रहे? तब

मेरे पतिदेव ने श्री महावीर अधिकारी जी को फोन किया, तो इस कुसमाचार की पुष्टि हुई। तब से आज तक क्या मैं कभी उस समाचार पर विश्वास कर सकी हूँ ?

मृत्यु को हर रोज ललकारनेवाला जिंदगी से भरपूर महाकवि क्या बगैर चेतावनी के ही चला गया ?

पटना बच्चों को देखने गए तो, पर चिरनिद्रा में सोने के बाद। उनके छोटे पोते ने पूछा—बाबा, तुम तो हमेशा छड़ी लेकर चलते-चलते आते थे। आज तुम सोकर क्यों आए हो ? मैंने यह भी सुना, उस दिन सिमरिया गाँव से लोग ट्रकों में, छकड़ों में, बैलगाड़ियों में और ट्रेन के बाहर लटक-लटककर सिमरिया के सोए ताज को अंतिम बार देखने आए थे।

अपनी वृद्धा माँ के, सिमरिया गाँव के मकान तक, जिन्हें दिनकर के यश की किरणें सराबोर कर जाती थीं, श्राद्ध की चिंता करनेवाले दिनकर नहीं रहे। पोतियों के लिए जगह-जगह वर तलाश करनेवाले दिनकर नहीं रहे। अपने देश की ज़रा-ज़रा-सी समस्या पर दुखित होकर सिंह-गर्जना करनेवाले दिनकर नहीं रहे। हाँ, यह सच है। उनके बहुत-से पत्र किताबों-कापियों में से ढूँढ-ढूँढकर मैंने एक स्थान पर तह करके रख दिए हैं। तो भी आज एक कापी उठाते ही उनका एक पत्र दरख्त से झड़ती पत्ती की तरह अलग जा गिरा है। इसमें उन्होंने मुझे पत्र के ऊपर अपना पता हर बार न लिखने पर डाँटा है। यही वह कापी है, जिसमें पहली बार अपनी कविताओं पर उनके हाथ से लगे लाल-लाल निशान मौजूद हैं। कहीं-कहीं उन्होंने किसी साँझ को मेरी कविताएँ पढ़ी होंगी। यह कापी जो बेजान है, मेरे हाथ में है, जो जानदार थे, वे कहाँ चले गए ?

> या रब कहाँ गए वो, जो आदमी रविश थे
> ऊजड़ दिखाई दे हैं, शहर-ओ दहर-ओ
> नगर सब
>
> मजलिसों की मजलिसें बरहम हुई
> लोग वो पल मारते किधर गए ?

तिरुपति में पहली बार भगवान की मूर्ति के सामने उन्हीं का कविता-पाठ हुआ। यह उनकी हार्दिक इच्छा थी। कुछ दिन पहले दिल्ली में शोभा दीदी (उनकी प्रिय भतीजी) ने मुझे बताया था। तिरुपति के मंदिर में वे तीन बार

पैदल गए। पिछली बार के पक्षाघात के हमले के बाद इतना चलना उन्हें मना था। जाने से पहले जब शोभा दीदी ने पूछा था—चचा, तिरुपति क्या करने जा रहे हैं। तो बोले थे—मौत माँगने। अपनी डायरी में दिनकर जी ने लिखा है—अगर मैं मरूँ और उस समय सिर्फ शोभा मेरे पास हो, तो मैं सुख से मरूँगा। पूछ सकती तो जरूर पूछती, परदेश में जहाँ मित्र तो थे, प्रियजन भी थे, परंतु शोभा दीदी नहीं थीं, फिर आपने वहाँ मृत्यु क्यों माँगी ?

लोग कहते हैं, मृत्यु ने उन्हें हमसे दूर कर दिया। परंतु मुझे यही लगता है, मृत्यु से वे हमारे और करीब आ गए हैं। उनके बाद मैं उनके हर परिचित मित्र एवं प्रियजन से मिलने का यत्न करती रही हूँ, जैसे नैया डूब जाने पर तिनके पकड़ रही होऊँ। आज यह बताकर भी क्या होगा कि तिरुपति चलने के लिए उन्होंने मुझसे भी कहा था। और मैं हर पत्नी की तरह अपने पति के मुँह की ओर देखने लग गई थी कि ये चलें तो मैं भी चलूँ।

और बात आई-गई हो गई थी। तभी से तिरुपति के चंद्रस्वामी जी के भक्त शर्मा जी के भाग्य से मैंने कितनी-कितनी ईर्ष्या की है। मद्रास में अंतिम दिन वही उनके साथ थे। उन्होंने मुझे बताया—खाना खाने के बाद दिनकर जी ने कहा था, हे भगवान, तुमसे तो उऋण हो गया, अब बाकी की आयु जयप्रकाश को दे दो। सुनती हूँ, जयप्रकाश नारायण जी पर उन्होंने एक कविता भी लिखकर सुनाई थी।

रात साढ़े ग्यारह बजे जब सोने गए, तो शर्मा जी उनके पाँव दबाते रहे। थोड़ी देर बाद जब उनका दम घुटने लगा, तो उन्होंने ऑक्सीजन मँगवाई और खिड़कियाँ खोल देने को कहा। गाड़ी में खुद चलकर गए। सारी राह राम-राम करते रहे और अंत में सिर्फ 'हे राम' कहकर प्राण त्याग दिए। चंद्रस्वामी जी ने मुझे बताया—अक्षय तृतीया के पावन पलों में उन्होंने प्राण त्यागे। दूसरे दिन पाँच बजे पटना में उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को अग्नि ने अपने आँचल में छिपा लिया।

ज्ञानपीठ का पुरस्कार जब उन्हें मिला था, उसके थोड़े दिनों बाद वे पक्षाघात से बीमार हुए थे, तब मैं उन्हें देखने दिल्ली गई थी। मुझे देखते ही कहने लगे—बुलावा तो आ गया है, देखें अब और कितनी अवधि देता है। मैं तो एकदम तैयार बैठा हूँ। उनकी नातिन की बेटी आकर उनकी गोद में बैठ गई, तो उनकी आँखों में स्नेह का सोता उमड़ आया। पाँव के पास बिल्ली उनसे ही गिरा

दूध चाट रही थी। उसको भी उन्होंने उसी नजर से देखा। जब मैंने हँसकर उनकी तरफ देखा, तो समझकर बोले—ऊँ-ई सबकुछ नहीं। लाल रंग के कपड़े में 'दिनकर की डायरी' की बहुत-सी प्रतियाँ बंबई भिजवाईं, तो मैंने पूछा—बंबई कब आइएगा? तब मुँह फेरकर बोले थे—भविष्य के बारे में मुझसे कुछ मत पूछो। उनके निराशाजनक स्वर से व्यथित होकर मैं रोने लगी, तो बोले—पगली, तू क्यों रोती है। मेरे मरने पर कोई नहीं रोएगा। यह एक भ्रम था, जिससे उनके भव्य व्यक्तित्व पर उदासी की हल्की-सी परत चढ़ी रहती थी।

साधुओं के प्रति पिछले काफी दिनों से वे बहुत आकृष्ट हो गए थे। एक बार हँसते हुए उन्होंने मुझसे यह भी कहा था—अब तो संन्यासी हो जाने को जी चाहता है। दाढ़ी बढ़ा लें या निराला की तरह या फिर तुम्हारे सरदार की तरह। दो ठो चेला हो जावें, दोनों समय खीर खा के पड़े-पड़े चेला से पाँव दबवाते-दबवाते सो जाएँ। हथेली पर तमाखू मसल-मसलकर फाँकी जाए या फिर शाम को भाँग का गोला हो जाए! खीर और जलेबी उन्हें विशेष प्रिय थी। मद्रास में अपने अंतिम दिन उन्होंने खूब जलेबी मँगवाकर खाई थीं। एक बार मैंने कहा था—आप परहेज नहीं करते, तो डाँटकर बोले थे—खीर-जलेबी खाए बिना चार दिन ज्यादा जी लेने में क्या फायदा है।

पीले रंग से उन्हें बेहद प्यार था। तकरीबन अठारह बरस पहले मैंने उन्हें श्रीनगर के निशात बाग में पीले डहेलिया के झूमते फूलों के मध्य एक भव्य चिनार के नीचे बैठे देखा था, परंतु डर के मारे नमस्कार तक न किया था। किया था तो मन में एक संकल्प, जब कभी मेरी कविताएँ छपीं, तो किताब की भूमिका इनसे ही लिखवाऊँगी। यहीं संकल्प दस बरस बाद मुझे दिल्ली में उनके निवास-स्थान तक ले गया था। उसी दिन उनके यहाँ एक और पोती पैदा हुई, जिसका नाम उन्होंने पद्मा ही रखा। कहने लगे—तेरी तरह कवयित्री न भी हुई, तेरी तरह गोरी तो होगी ही।

दिल्ली में जब भी उनसे मिलने जाती, तो वे कुछ-न-कुछ लिख रहे होते। कभी कोई व्यक्ति विशेष मिलने आते तो मुझे कह देते—बच्चों के पास जाकर बैठो। मैं बच्चों से बातें करती या उनके कमरे में जाकर माँ और श्री अरविंद की तस्वीरों के आगे बुझी हुई अगरबत्ती की राख के कण गिना करती। सफेद कपड़ों में कुछ कागज लिपटे रखे रहते थे। इनमें क्या हो सकता है? यह

सोचती। ज़रा-ज़रा-सी आहट से भी काँप जाती। उनकी अनुपस्थिति में अक्सर उनकी डायरी पढ़ जाती। मेरी यह चोरी उन्होंने मेरे बंबई आने के बहुत बाद एक दिन पकड़ ली थी, तो मैंने बिना डरे कहा था—मैं तो हमेशा ही आपकी अनुपस्थिति में आपकी डायरी पढ़ती हूँ। तब उन्होंने हँसकर कहा था—कल रात गंगा बाबू भी यहीं सोए। सारी रात उनकी नाक बजती रही और हम सो नहीं पाए, सो आज की डायरी कुछ ज्यादा ही लिख गए।

'दस तारीख की भोर को बंबई पहुँचूँगी। श्रेयांस जी के घर रुकूँगा'—उनके बहुत-से पत्र ऐसे ही होते थे। अक्सर हम दोनों उसी रोज चले जाते थे। जब तक दिनकर जी और पतिदेव बातें करते, तब तक मैं उनके कपड़े अलमारी में सहेजकर रख देती। जैसी तरतीब से हर चीज़ उनके ट्रंक में रखी रहती, उसे देख कोई भी अचंभा कर सकता था। खद्दर के कुर्ते, पायजामे, धोतियाँ—सभी कुछ।

तिरुपति के चंद्रस्वामी जी से मिलने पर मैंने कहा था—मैं रोज ही दिनकर जी के बारे में सोचती हूँ। एक दिन भी स्वप्न में नहीं आए। तब उन्होंने कहा था—आज आएँगे। तब रात को तकरीबन जाग्रतावस्था में मैंने उन्हें एक पल के लिए देखा। पंक्ति में बैठे खाना खा रहे थे। मुझ पर एक अजनबी-सी दृष्टि डाली। वैसी ही, जैसी कभी-कभी उनकी बात न समझ पाती थी, तो मुझ पर डालते थे। उनके हिमालय-जैसे मस्तिष्क से निकली बहुत-सी बातें मैं कहाँ समझ पाती थी। टुकुर-टुकुर जब उनकी तरफ देखती तो वे कहते—तुझमें अकिल नहीं है। चलो, कविता की बात करते हैं। मेरी किताब की भूमिका में भी उन्होंने अकबर इलाहाबादी का यह शेर लिखा था :

इश्क को दिल में दे जगह अकबर,
इल्म से शायरी नहीं आती।

उनकी मृत्यु के पंद्रह दिन बाद मैं मालचा मार्ग स्थित उनके मकान पर गई। जो दरवाजे हमेशा खुले रहते थे, वहाँ घंटी बजाई, तो महीना-भर पहले की घटना याद आ गई। वे इसी दरवाजे पर, नौकर के यह बताने पर कि पद्मा जी आई हैं, आए थे। मैंने पाँव छूकर कहा—वे आ रहे हैं। इन्हें देखते ही बोले थे—नौकरी छोड़कर आ रहे हो क्या? तभी घंटी की आवाज सुनकर उनका नौकर आया। मैंने उसकी तरफ बिना देखे कहा—साहब का कमरा अभी तक नहीं खुला क्या? बाहर के कमरे में उनकी किताबों को छू-छूकर मैं रोती रही।

तब उनके नौकर ने बताया—मद्रास जाने से पहले आप ही को पत्र छोड़ने को कह गए थे। बड़ी भारी चिट्ठी थी। हमने तुरत-के-तुरत डाल दी थी। बाहर मोगरा निश्चित-सा फूल रहा था। कुछ फूल मैंने तोड़े। उनमें चंद्रमा की शीतल किरणों का जाल था, दिनकर की स्वर्णिम रश्मियों का आलोक नहीं। उन्हें लेकर मैं क्या करती ?

सुरीली आवाज जैसी सुरीली

किसी बहुत अपने के बारे में लिखना होता है तो रोशनाई की जरूरत नहीं पड़ती। लिखनेवाले को अपनी ही कोई रग काटनी पड़ती है और उसी में से बहते खून में कलम डुबो-डुबोकर लिखना होता है।

आज से छियालीस बरस पहले गोआ के मंगेश मंदिर में उस समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञ की पत्नी को चरणामृत लेते समय गोमुख से सुपारी आती देख आश्चर्य हुआ था। अपनी सोलह-सत्तरह बरस की रेखायुक्त हथेली की अंजलि में चरणामृत और सुपारी देखकर वह चरणामृत पीने से पहले कुछ देर टकटकी लगा उसे देखती रही थीं और सुपारी आँचल में बाँधे घर लौटी थीं।

उसी दिन तबीयत खराब होने पर जब डॉक्टर ने उन्हें बताया कि वह माँ बननेवाली हैं, तब भी सुपारी का राज उन पर नहीं खुला था।

परंतु आज जब वह अपने बरामदे के जँगले को थामे पान-सुपारी चबाती मुझे ये बात बता रही थी तो उनके चेहरे पर जो संतोष और आत्मविश्वास था उससे ये बात स्पष्ट होती थी कि भगवान ने उन्हें यह बता दिया था कि तुम्हारे गर्भ में जो शिशु है वह असाधारण है। पहली कन्या का तो परिवार में स्वागत होता ही है, लेकिन जब यह कन्या दो वर्ष की उम्र में अपने बाबा का गाना हू-ब-हू वैसे ही गा देती तो माँ को बाबा अक्सर कहा करते—यह लड़की बहुत नामी गायिका होगी। तुम देखोगी। हाँ, मैं नहीं देखूँगा।

उदास-सी माँ थोड़ी देर बाद बताती है—जब चार बहनों के बाद बाल (हृदयनाथ मंगेशकर) हुआ तो खुशी के मारे लता उसे गोदी में उठाकर रसोईघर में भाग गई थी। एक साथ लता मंगेशकर, आशा भौंसले, उषा मंगेशकर, मीना मंगेशकर और हृदयनाथ मंगेशकर की माँ होना कितना गौरवपूर्ण है। यह

सिर्फ उनकी बड़ी-बड़ी आँखों में तैरती ममता और उनकी बेहद हसीन मुस्कुराहट से जाना जा सकता है।

कई बार हँसी-हँसी में मैं उनसे कहा करती हूँ—माँ जी, आप इतनी सुंदर हैं, बच्चा तो एक भी आपके जैसा नहीं हुआ। ...सुनकर वे खिलखिलाकर हँस पड़ती हैं।

बड़ी दीदी को 'लता' कहते मैंने सिर्फ दो ही लोगों को सुना है। एक माँ, दूसरे बर्मन दादा। बाकी लोग 'दीदी', 'बड़ी बी', 'बाई' या बच्चे—'दीदी मौसी' कहते हैं। मेरे पति उन्हें अपनी माँ और मेरी मालकिन कहते हैं।

महारानी-सा सौंदर्य

दीदी के कमरे की ओर एक दिन मैं जा रही थी। माँ जी ने मुझे रोककर कहा—ठहरो! वह अपने कमरे से ढेर सारी तसवीरें ले आईं और मुझे दिखाने लगीं। उन्होंने कहा—ये सभी मेरे बच्चे हैं। लेकिन लता जैसा कोई नहीं है। दीदी की हर तसवीर वह मुझे चाव से दिखातीं और कहतीं—इसके जैसा सुंदर और कोई नहीं है। इसी तरह एक रोज दीदी सच्चे मोतियों की लड़ियाँ पहने किसी शादी से वापस आईं तो उनके ओझल होते ही माँ ने मुझसे कहा—मेरी लता तो महारानी है। है न?

मैं उन्हें बड़ी दीदी क्यों कहती हूँ, यह मैं आपको बताती हूँ। दीदी से मिलने के कुछ ही दिनों बाद मेरा ऑपरेशन हुआ था। बिस्तर पर लेटे-लेटे शरत्चंद्र की बड़ी दीदी मैंने फिर से पढ़ी तो मुझे दीदी की बड़ी याद आई। सुरेंद्रनाथ की तरह मैंने भी कई बार कहा—बड़ी दीदी, मैं बीमार हूँ। बड़ी दीदी आओ। पर उपन्यास की तरह मुझे भी बड़ी दीदी देखने नहीं आईं। यह मुझे बाद में मालूम हुआ था कि वे कोल्हापुर गई हुई थीं। पिछले साल जब उनका ऑपरेशन हुआ था तब मैं लंदन में थी। उनसे आकर मैंने यही कहा था—आप मेरे ऑपरेशन पर मुझे देखने नहीं आई थीं न, बदला चुक गया। और, तब से मैं उन्हें बड़ी दीदी ही कहती हूँ।

बर्मन दादा जितने स्नेह से दीदी को 'लोता' कहते हैं उतने ही स्नेह से बर्मन दादा की पत्नी भी कहती हैं। एक बार दीदी की रेकार्डिंग में बर्मन दादा आए। आकर कहने लगे—तुमसे बड़ा जरूरी काम है। घर पर आकर बताऊँगा, किसी

के सामने नहीं। और घर पर बड़े राज से उन्होंने यह पूछा–'लोता, तुम्हारा गोला ठीक है न। कल मेरी रेकार्डिंग है', तो उनके जाते ही हम सब बहुत हँसे थे।

शिशु जैसे सीधे बर्मन दादा रेकार्डिंग से पहले और बाद में हमेशा ही पूछते हैं–लोता, गाना कैसा बना है ? और, फिल्मी संगीत के दिग्गज बर्मन दादा जब दीदी के 'बहुत अच्छा' कहने पर खिल उठते हैं, तब देखते ही बनता है। पिछले दिनों जब वादकों की हड़ताल हुई थी तब संगीतकारों की मीटिंग में बर्मन दादा थोड़ी-थोड़ी देर बाद सिर्फ ये पूछा करते थे–लोता गाएगी न ? लोग कहते–हाँ, दादा !... तो दादा यह कहकर फिर चुप हो जाते–तो मैं सेफ हूँ।

पक्षाघात से पीड़ित दादा अस्पताल में थे। दीदी के साथ मैं भी उन्हें देखने गई थी। तब गुलाब के फूलों का गुलदस्ता देखकर दादा बोले–सारे कमरे में बहार आ गई है।

दीदी ने कहा–दादा, आप बहुत जल्दी एकदम ठीक हो जाएँगे। सुनकर उनके चेहरे पर ऐसा संतोष और विश्वास झलकने लगा जैसे ब्रह्मवाणी हुई हो। वैसे दीदी की कही बहुत-सी बातें सच निकलती हैं।

एक मुसोलिनी, दूसरी हिटलर

कलाकारों की हड़ताल के दिनों दीदी के घर पर कलाकार, गायक और अन्य संबंधित लोगों का जमघट रहता था। मीना दीदी अक्सर कहती–अब जब भी दीदी से पूछती हूँ कहाँ जा रही हो, तो वह कहती हैं, मीटिंग में। नहीं तो रेकार्डिंग के सिवाय कहीं जाती न थीं। हड़ताल की वजह से रेकार्डिंग भी कई दिन न हो पाई।

एक बार हम सबने मिलकर उन्हें सलाह दी–आप गेरुआ चोला पहनकर बैठ जाइए। हम आपके गले में ढेर-सी मालाएँ डाल देते हैं। और सभी से कह देते हैं, जब तक हड़ताल खत्म नहीं होती दीदी भूख हड़ताल करेंगी। और उसके पहले हम आपको देसी घी का ढेर-सा हलवा खिला देंगे, ताकि आपको भूख न लगे। कोई कहता–हाथ में एक तारा भी थाम लीजिएगा। और इस पर खूब कहकहे लगा करते। आशा दीदी और बड़ी दीदी मीटिंगों में जातीं, सलाह-मशविरे होते। तब आशा दीदी की बेटी वर्षा कहती–एक मुसोलिनी है

और दूसरी हिटलर ! लेकिन उनके सामने नहीं ।

तभी मुझे दीदी ने बताया था—बचपन में आशा गोल-मोल भोली-भाली-सी होती थी । मुझे इससे बहुत प्यार था । एक बार स्कूल ले गई तो टीचर ने डाँटकर कहा, छोटी बहन को क्यों लाई हो ? मैंने आशा को गले लगाकर टीचर से कहा, आज के बाद मैं यहाँ नहीं आऊँगी । दीनानाथ मंगेशकर की लड़की अपमान नहीं सह सकती । उसके बाद दीदी की घर में ही शिक्षा हुई । उससे भी अधिक संगीत की ।

कहते हैं, लड़कियों की दो चोटियों में से एक में बाल कम होते हैं दूसरी में ज्यादा । कम बाल सास के, ज्यादा माँ के । माँ बाल गूँथते-गूँथते सोचती है, मेरी बेटी के और बाल हों और सास कहती है, कम होते तो मुझे जल्दी छुट्टी मिलती (ये बात तब की है जब सास माँ बहू-बेटी की माँग सवाँरती थीं), लेकिन मेरी दीदी की दोनों चोटियों में एक-से बाल हैं । और यह मैं यकीन के साथ कह सकती हूँ कि अगर कभी उनकी कोई सास होती तो वो भी उन्हें माँ-जैसा ही प्यार करती । मैं यह अपनी ओर से नहीं कह रही ।

एक बार मेरे यह पूछने पर कि अगर आप शादी करतीं और लोगों को आपका फिल्मों में गाना अच्छा नहीं लगता, तो ? दीदी ने उत्तर दिया था—मैं फिर कभी न गाती । घर पर बैठकर घर का काम करती ।

गाने से भी ज्यादा मैं उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हूँ, वह भी उनके गाने जैसा ही पाक है । एकदम सीधा, छल-कपट रहित और सादा । बहुत लोग पूछते हैं, उन्होंने ब्याह क्यों नहीं किया ? कहने को तो मैं यह कह देती हूँ कि दूल्हा तो इनके नाम के बोझ तले ही दबकर मर जाता । परंतु सच यह है कि बारह बरस की उम्र से जिसके मासूम कंधों पर छोटे-छोटे भाई-बहनों के भविष्य का बोझ हो, उस लड़की के पास ब्याह के बारे में सोचने का मौका कब रहा होगा ? और, फिर वो खट-मे लता मंगेशकर हो गई । तब किसी भी व्यक्ति से ब्याह हो सकता था क्या ? और, फिर कौन कह सकता है कि उस हालत में हम और आप घाटे में नहीं रहते ।

दाने तो बेशुमार हैं तसबीह में मगर
जिसमें लगन है यार की वो दाना एक है ।

बड़ी दीदी को किशमिश और कुरमुरे बहुत अच्छे लगते हैं । माँ बचपन में जब उनके लंबे बालों में कंघी किया करती थीं तो किशमिश से भरी कटोरी पास

में रख लेतीं और एक-एक दाना दीदी की गोद में गिराती रहतीं। आज भी दीदी के कमरे में किशमिश के रंग-बिरंगे डिब्बे खाली होते रहते हैं।

चार-पाँच बरस की उम्र में दीदी को भयंकर शीतला निकली थी, जिसके बड़े-बड़े दाग अब भी उनके पाँव पर हैं। एक कमरे में अकेली लता के पास माँ, मौसी और घर का एक पुराना नौकर बारी-बारी से बैठा करते। बारह दिन बाद जब उनके सिर पर पानी डाला गया था तो बालों का एक बड़ा-सा पट्टा खट्ट-से नीचे आ गिरा था। कानों में से फोड़ों के छिलके कितने देर गिरते रहे। तब भी किशमिश का एक दाना उनके मुँह में घुलता रहता था।

मौसी ने शीतला माँ के मंदिर में मन्नत मानी थी। हाथ में लकड़ी का हथकड़ी-जैसा खोड़ा बाँधे हाथ जोड़े, सिर पर आग का बरतन रखे वो मंदिर तक नंगे पाँव गईं। दीदी और बाकी लोग गाड़ी में थे।

कुछ हसीन वाकए

शीतला माँ ने लड़की के गले में किशमिश-सा मीठा और सरस्वती की वीणा-सा सुरीला सुर भर दिया। इसकी बदौलत बड़े-बड़े हसीन वाकयात पेश आते हैं। आइए, एक हम और आप मिलकर सुनें।

दीदी अक्सर कोल्हापुर आराम करने जाती हैं। वहाँ पन्हाला में उनका बँगला है। एक बार दीदी कोल्हापुर से बेलगाम जा रही थीं। गाड़ी जयसिंह चला रहे थे। ड्राइवर तो वह हैं ही, दीदी के बहुत बड़े भक्त भी हैं। उम्र में बहुत बड़े होने पर भी दीदी को दीदी ही कहते हैं।

जंगल का सुनसान रास्ता था। काले रंग की एक गाड़ी उनका पीछा कर रही थी। गाड़ी में चार-पाँच हृष्ट-पुष्ट काले रंग के लड़के, तहमदों के ऊपर चैक की खुली बुश्शर्ट पहने, चमड़े के पट्टे लगाए गाड़ी दौड़ा रहे थे। बीच-बीच में टा-टा, बाई-बाई भी करते। एक जगह आगे बढ़कर सड़क के बीचोंबीच गाड़ी कर दी। जयसिंह ज़रा-से रास्ते से अपनी गाड़ी भगा ले गए। काली गाड़ी और तेजी से पीछा करने लगी। राम-राम करते एक छोटा-सा गाँव आया। जयसिंह ने पुलिस चौकी के आगे गाड़ी रोकी। तभी दीदी की बगल में आकर काली गाड़ी रुकी। चारों-पाँचों जवान दीदी के पास आए और बोले—अम्माँ, ऑटोग्राफ, हम शिवाजी फैन! अम्माँ, ऑटोग्राफ!

इसी तरह दीदी के प्रशंसा-पत्रों में बड़े मजेदार पत्र भी रहते हैं। एक बार एक अठारह-उन्नीस बरस के लड़के के पत्र पर मेरी नज़र पड़ी। उसने लिखा था—आप अभी शादी तो नहीं करेंगी न! मैं अगले वर्ष डॉक्टर हो जाऊँगा।

उनसे कहिएगा किस्सा-ए-मजनूँ
यानी परदे में ग़म सुनाइएगा।

ज्यादातर ऐसे प्रस्ताव कमउम्र लड़कों की तरफ से आते हैं, जैसे बचपन में माँ, दीदी या भाभी से शादी करने के प्रस्ताव। बहुत-से लड़के-लड़कियाँ सिर्फ उनका आशीर्वाद पाने के लिए पत्र लिखते हैं। किसी पत्र में लिखा होता है—मैं गीत लिखता हूँ या गीत गाता हूँ। फलाँ तारीख को बंबई आ रहा हूँ। मेरा इंतजार कीजिए।

उनके रेकार्ड सुन-सुनकर हम में से कई जवान हुए हैं, परंतु उनके इंटरव्यू सुनने के लिए श्रोता बड़े लालायित रहते हैं। एक बार वे रेडियो में रेकार्डिंग करने आईं। बाल धुले हुए थे। आते ही उन्होंने बाल खोले और साथ में हीरों के कर्णफूल व अँगूठियाँ भी। जाते समय भूल आईं। भागकर उद्घोषक लिफ्ट पर उन्हें चीज़ें देने गया तो लाखों का माल वापस आ जाने पर भी कोई हैरानी नहीं हुई। उद्घोषक रामसिंह पवार ये किस्सा बड़े चाव से सुनाते हुए कहते हैं—वो तो प्रकृति की एकदम साधु हैं। क्या हीरा, क्या पत्थर उनके लिए सब एक है।

हमारे घर में एक दिन ताश चल रही थी। दीदी को हमारे इन्होंने जबरदस्ती बिठा लिया। तीन-तीन सरदारों को हराकर दीदी पौने दो सौ रुपए जीतकर चलती बनीं! उस दिन उन्होंने बताया कि एक बार ऐसे ही स्वर्गीय मोतीलाल ने उन्हें जबरदस्ती ताश खेलने बिठा लिया था। कहने लगे, इसके पर्स में जो माल है, वो हमें चाहिए। जब दीदी पाँच सौ रुपए जीत चुकीं, तब कहने लगे—निकालो इसे बाहर, हम इसके साथ नहीं खेलेंगे। एक बार दीदी ने अपना पर्स मुझे दिया। थोड़ी देर बाद मैंने कहा—लेकर गोल हो जाऊँ। तब गले पर उँगली रखकर बोलीं—माल तो इधर है!

बड़ी दीदी को बच्चों के खिलौने और कपड़े खरीदने का बड़ा शौक है। मीना दीदी, आशा दीदी व हृदयनाथ भाई साहब के बच्चों के अलावा दाएँ-बाएँ इधर-उधर के बच्चे भी उनकी कृपा-दृष्टि से रीते नहीं रहते। खिलौने देखते-देखते वो कहतीं हैं—पता हमारे समय में लकड़ी की एक गुड़िया होती थी, जिसका नाक-मुँह, कोयले से बना लेते थे। उसी से खेला करते थे। आजकल

बच्चों के लिए कितने बढ़िया खिलौने हैं। लेकिन दीदी के खिलौने तो उनके भाई-बहन हैं, जिन सबको उन्होंने पिता की छत्रछाया भी दी और बड़ी बहन का अथाह प्यार भी।

सुर से प्यार

किसी एक खुले शांत तालाब में जैसे जूही की एक पतली शाखा पानी में डूबती-उतराती है, वैसे ही फेमस लैब के अंदर पड़े छोटे-से हल्के सब्ज़ कालीन पर दीदी का छोटा-सा पाँव लकड़ी के स्टैंड से बार-बार एकदम ताल पर डूबता-उतराता है। कहीं भी कोई वाद्य बेसुरा बजा नहीं कि दीदी के माथे पर बल पड़ा। वह कहती हैं—मुझे अगर बहुत बड़ी सज़ा देनी हो तो बंद कमरे में किसी बेसुरे गायक का गाना सुना देना काफ़ी है। बंद कमरा इसलिए कि नहीं तो मैं पहले ही सुर पर भाग जाऊँगी।

लेकिन वो कभी किसी को यह नहीं कहतीं कि तुम्हारा सुर ठीक नहीं लग रहा। उन दिनों वे फिल्मों में नई-नई आई थीं। कव्वाली के एक प्रोग्राम में उन्होंने एक जाने-माने गायक से कहा था—आपका सुर ठीक नहीं जम रहा, तो वे बड़े खफा हुए थे। तब से—दीदी ने कहा—मैं किसी को कहती ही नहीं हूँ।

जिस रोज दीदी पहली बार हमारे घर आई थीं, उसी दिन इत्तफाक से मेरे साहब के उस्ताद अमीर खाँ साहब भी थोड़ी देर बाद आए थे। दीदी ने उठकर खाँ साहब के चरण-स्पर्श किए। दीदी की लंबी-लंबी चोटियाँ फर्श पर लोटने लगीं। खाँ साहब ने आशीर्वाद दिया। खुशी से उनका गला भरा हुआ था और आँखों में आँसू थे।

दीदी उस्तादों की बहुत कद्र करती हैं। बड़े गुलाम अली खाँ साहब की बरसी हर बरस उनकी तसवीर रखकर मनाई जाती है। स्वर्गीय उस्ताद कहा करते थे—श्रोताओं पर जो असर हम घंटों गाने के बाद डाल पाते हैं, वो यह लड़की तीन ही मिनट में कर दिखाती है।

ऐसी लता मंगेशकर के बारे में जब कुछ नौसिखिए कहते हैं कि अब इन्हें सिर्फ मीरा के भजन गाने चाहिए या गाने से रिटायर हो जाना चाहिए, तब उनकी हालत पर मुझे गुस्से के साथ-साथ रहम भी आता है। जब दीदी फिल्मों में आई थीं, तब एक-से-एक बढ़कर गानेवालियाँ थीं। दीदी ने किसी को

रिटायर होने के लिए नहीं कहा, न ही उनमें से किसी ने इस दुबली-पतली लड़की पर रहम खाकर गाना गाना ही छोड़ा। मैं मलिका-ए-तरन्नुम नूरजहाँ की बात नहीं कर रही। दीदी आज भी उनका नाम श्रद्धा से लेती हैं।

मेरी आँखों में आजकल की नई गानेवाली उन लड़कियों के चेहरे घूम जाते हैं जो बाहर जाकर कहती हैं—लता के गले से हमारी हरकत नहीं निकलती और बंद कमरे में दीदी के पाँव चूमकर कहती हैं—आज का गीत अगर आप न गाएँ तो संगीतकार मुझसे गवा लेगा। और; कई बार ऐन रिकार्डिंग के मौके पर फिल्म-निर्माताओं से अगर पहचान हुई तो लड़कर कहती हैं, यह गीत हमसे क्यों नहीं लिया।

इन्हीं लड़कियों के लिए मैंने दीदी को नामी संगीतकारों के पास सिफारिश करते देखा है। कल्याण जी भाई के पास एक बार एक लड़की की माँ आकर कहने लगी—मेरी लड़की बिलकुल लता की तरह गाती है, उससे गवा लीजिए। कल्याण जी भाई ने कहा था—जब लता की तरह ही गाती है फिर उन्हीं से क्यों न गवाएँ?

न हुआ पर न हुआ मीर का अंदाज नसीब
जौक़ यारों ने बहुत जोर ग़ज़ल पै मारा।

संगीतकार जयदेव जी को मैं पंडित जी कहती हूँ। एक तो वे संगीत के पंडित हैं, दूसरे मेरे पिता जी का नाम जयदेव ही था। बर्मन दादा की तरह जयदेव जी भी यही कहते हैं कि मैं हर गीत लता जी को मद्दे नजर रखकर बनाता हूँ। जयदेव जी ने बहुत-सी नई आवाजों को भी गवाया है और कहा है कि महीना-महीना-भर रियाज के बाद भी बात नहीं बनती।

गीत की रिहर्सल तो होती ही है। पर वो उसी दिन, वहीं स्टुडियो में। एक बार कल्याण जी-आनंद जी की रेकार्डिंग में दीदी ज़रा देर से पहुँचीं तो कल्याण जी भाई ने कहा—आप देर से आई हैं। दीदी ने कहा—रिहर्सल नहीं लूँगी। आप साज़ों के साथ एक बार गाना सुनवा दीजिए। गाना सुनने के बाद पहले ही टेक में गाना हो गया। वह गाना था—

गंगा मैया में जब तक ये पानी रहे
मेरे सजना तेरी ज़िंदगानी रहे...

बहुत-से संगीतकारों को अक्सर यह कहते सुना गया है कि लता को तो हम ही इंडस्ट्री में लाए हैं और हमने ही लाता को बनाया। हाँ, यह बात और है कि

लाख सिर पटकने पर भी वो एक और लता नहीं बना पाए। खैर, दीदी यह कहती हैं कि अगर गुलाम हैदर जिन्हें सब मास्टर जी कहते थे, दीदी के लिए नहीं लड़ते तो शायद वे इंडस्ट्री में आ ही नहीं पातीं। उनके गाने सुनने के बाद ही और संगीतकार भी दीदी से गवाने लगे।

आज का युग लता मंगेशकर का युग है। भारत में या भारत के बाहर जहाँ कहीं भी कोई हमारा संगीत समझता है, दीदी को प्यार करता है। काश, आपने लंदन के अलबर्ट हॉल में हजारों श्रोताओं की तालियों का तुमुलनाद सुना होता। विदेशों में भारतीय बड़े गर्व से उनकी सादा हस्ती की बातें करते हैं। प्रसिद्ध फिल्म निर्माता रामानंद सागर ने दीदी को बधाई देते हुए कहा था--तुमने लंदन में हम सबका नाम ऊँचा कर दिया। अब हम सीना तानकर लंदन जाएँगे। वो दीदी को रुस्तमे-मौसीक़ी कहा करते हैं। मैं सोचती हूँ, आनेवाली पीढ़ियाँ दीदी के बारे में क्या-क्या सोचा करेंगी। बकौल फिराक़–

आनेवाली नस्लें तुम पै रश्क करेंगी हमअसरो
जब उनको ये ध्यान आएगा, हमने फिराक़ को देखा है!

अमृता प्रीतम : एक खुशगवार झोंका

राजधानी की, ढलती गर्मियों की शाम थी। खट्टी-मिट्ठी हवा कभी-कभी चल जाती थी। लू के झोंके कम हो गए थे। बीच-बीच में ठंडा झोंका मुँह पर शबनम की तरह चुहचुहा आए पसीने की बूँदों को एक-एक करके लिटा जाता था। छतों पर बैठना खुशगवार लगता था। ऐसी ही एक शाम, एक अदीब के घर की छत पर पंजाबी के कुछ लेखक इकट्ठे हुए थे। खुसर-पुसर के बीच उनके चेहरों पर मुस्कराहट भी खेल रही थी। न उनको इल्म था—मैं वहाँ हूँ, न मुझे अहसास था—वे क्या बातें कर रहे हैं। मैं तो उस अदबी माहौल में सिर्फ अमृता प्रीतम को देखने आई थी।

खुसर-पुसर के बीच लोग थोड़े चौकन्ने हुए। सीढ़ियों पर हल्के-हल्के कदमों की आहटें आ रही थीं। हवा का एक खुशगवार झोंका आया। सभी ने देखा, सीढ़ियों में कदमों की आहट के साथ उड़ती हुई शिफान की नीले रंग की साड़ी की सरसराहट भी शामिल थी। यह साड़ी अमृता जी ने पहन रखी थी। उसे ज़रा-सा सँभाले हुए, सधे-से कदमों के साथ होंठों पर हल्की-सी मुस्कराहट का पुट दिए, वे सीढ़ियाँ चढ़ रही थीं। पीछे-पीछे अपनी बारीक मूँछों में मुस्कराते इमरोज़ थे। उनके आते ही खुसर-पुसर बंद हो गई। सभी अदवाइन की चारपाइयों की चिल्लाहट को नजरअंदाज करते हुए एक साथ उठ खड़े हुए। उन्होंने अब मुखौटे चढ़ा लिए थे, यह कोई न जान पाया। हँसते हुए, हाथ मिलाते हुए, अपने पास बिठाते हुए। फिर कहकहे, चुटकियाँ, हँसी-मजाक होता रहा। किसी ने शायद यह भी कहा था—यह पद्मा है, डोगरी की कवयित्री। और उन्होंने दिलचस्पी के साथ एक नज़र भी मारी थी। पर मैं, जो इतने बरसों से उनके बारे में सुनती आ रही थी, चाहती रही, वे मुझे अपने पास बुलाकर प्यार

से बात करें। यह मेरा हक़ था, जो मुझे उस दिन तो न मिला पर कई बरसों बाद जब मिला, तो कोई गिला न रहा।

मुझे अच्छी तरह से याद है, उन्होंने जब अपनी कविता पढ़नी शुरू की थी, तो मैं डर गई थी। इस कविता के शुरू में 'ब' से आरंभ होनेवाली हर गाली मौजूद थी। जैसे बदतमीज़, बेवफा, बेगैरत, बेशऊर, बेमुरब्वत आदि-आदि। और चूँकि मुझे यह लग रहा था कि अमृता जी सिर्फ मेरे लिए यहाँ आई हैं, इसलिए इन गालियों का हर हथौड़ा मैंने अपने ऊपर झेला और जब उनकी कविता खत्म हुई, तो राहत की साँस ली। वैसे 'ब' से शुरू होनेवाली गालियाँ, उनकी कविता में उतनी नहीं थीं, जितनी मैंने गिनाई हैं। उस दिन अमृता जी, शाम जितनी देर ठहरती हैं, उतनी ही देर ठहरीं और चली गईं।

घर उर्फ साहित्य मंदिर

फिर साहित्य अकादमी के समारोहों में उनसे भेंट हुई। सरापा स्नेह बरसाती अमृता जी ने एक रोज मुस्कराकर कह ही दिया—कभी घर पर आओ न! यह निमंत्रण इतना अपनापन लिए था कि तब से अब तक जब भी दिल्ली जाना हुआ, वहाँ जरूर ही गई हूँ। उनके घर को घर न कहकर, अगर साहित्य का मंदिर कहा जाए, तो ज्यादती न होगी। जिस रसोईघर को लेकर हम औरतें सारा दिन जूझती हैं, वहीं का काम कब इस घर में निपट जाता है, पता नहीं चलता। जैसे जिसे समंदर के पास जल्दी पहुँचना होता है, वह नदी, पत्थर, पहाड़, जंगल, खोह, मिनटों में पार करके वहीं पहुँचती है, इसी तरह अमृता जी भी झट- से काम निपटाकर किताबों के गिरोह में शामिल हो जाती हैं।

साहित्य के इस मंदिर में चिड़ियों के लिए दीवारों पर कलात्मक घर बने हैं। इमरोज़ हँसकर कहते हैं—ये इनका डायनिंग टेबुल है, यह झूलाघर और एक बड़ा-सा थाल, जिसे रस्सियों से दरख्त पर बाँधकर लटकाया गया है। यह है चिड़ियों की चौपाल, जहाँ ये लड़ती हैं, झगड़ती हैं और अपने-अपने मुकद्दमे निपटाती हैं। देखो, ये चिड़ा इस चिड़िया को मना रहा है। अपने नवजात शिशुओं को छोड़कर यह पट्ठा तफरीह करने गया, तो दो दिन नहीं लौटा। अब चिड़िया चूँ-चूँ करके उसे ऐसे डाँट-डपट रही है कि कोई सगी पत्नी भी क्या डाँटेगी। यह बात सुनकर टेबुल पर बैठी अमृता जी खिलखिलाकर हँस पड़ती हैं।

खाने की इस टेबुल को भी इमरोज़ ने नहीं बख्शा। इस पर भी कई रंग पुते हैं। जगह-जगह उनकी कला के नमूने लटके हैं। एक बोर्ड है, जो टेलिफोन के ऊपर ही लगा है। उस पर दर्ज है, उस दिन लोगों से मिलने-मिलाने की फेहरिस्त। कुछ टेलिफोनों के नंबर, कुछ तीर और कुछ तुक्के।

मैं इमरोज़ को पेंटर साहेब कहती हूँ। दीवारों पर कहीं उर्दू के शेर लिखे हैं, तो कहीं अमृता जी की पंजाबी कविताओं की पंक्तियाँ खूबसूरत झालरों की तरह लटकी हैं। कहीं उनकी किताबों के मुखपृष्ठ वंदनवार की तरह किसी दीवार पर सजे हैं। अमृता जी की चारपाई भी कम कलात्मक नहीं है। एकाध डिब्बा-सा खोलिए, तो हैरान रह जाइए। तहाकर रखे कंबल या रजाई या छोटा तकिया उसमें बंद हैं। वंदनवारों पर—अमृता जी की किताबों के मुखपृष्ठ पर—एक ही औरत के नैन-नक्श हैं—तीखे-तीखे, पतले-पतले, और लाजवाब आँखें। ये सब औरतें इमरोज़ ने बनाई हैं, जो एक ही औरत की हैं—अमृता जी के सोने के कमरे की खिड़कियों पर कुछ बेलें लटक आई हैं—जैसे चोरी-चोरी बातें सुननेवाली अल्हड़ युवतियाँ हों। सोने का यह कमरा, जहाँ बेशुमार मोटी-ताजी किताबें हैं, पंजाबी साहित्य के सृजन का द्वार लगता है। नागमणि का मैटर, किताबें, कलमें, प्रेस में भेजने की उतावली; जल्दी-जल्दी चेक करने की अकुलाहट। उनके हाथ में कभी जलती, कभी बुझती सिगरेट किसी आशिक के हाथ में माशूक को बुलाने का इशारा-सी लगती हैं।

एक बार उनके यहाँ पंजाबी कें बहुत-से शायर इकट्ठे हुए थे। उनमें शिव बटालवी भी थे। किसी साहित्यिक गाँठ को सुलझाने-उलझाने का यत्न हो रहा था। अपनी सिगरेट जलाते, बुझाते हुए अमृता जी सारी बातचीत उतारती जा रही थीं। नागमणि जैसे चिड़िया का बच्चा हो। जहाँ से भी चुग्गा मिला वहीं उसे चोंच में दबाकर खिलाने दौड़ पड़ती हैं अमृता जी। वह गोष्ठी जैसी किसी औघड़ बाबा की धूनी की लकड़ियों के इर्द-गिर्द थी। बेहद धुआँ। सभी की सिगरेटें जल रही थीं। धुएँ को और बरदाश्त न कर पाने पर मैं यह बहाना बनाकर बाहर निकल गई थी कि मैं आप सबके लिए चाय बनाती हूँ। शिव बटालवी कहने लगे—पहाड़ी, मीठी चाय बनाएँगी। मैंने कहा—पहाड़ी चाय मीठी ही होती है। आप भी तो हिमाचली भाई हैं, तभी आपके गीतों में चाशनी और सुरों में शहद है।

चाय जब बना के मैं ले आई, तो अमृता जी ने संतोष के साथ कहा था— यह

शरीफ कुड़ी है, सिगरेट का धुआँ तक बरदाश्त नहीं कर सकती। फिर अमृता जी की नागमणि में यह सब छप गया था। और अब उनका हौज खास का घर बहुत-से अदीबों की तरह मेरा भी अपना घर है। इस घर में आज तक कभी भी सीधी नहीं पहुँच पाई, हर बार भूल जाती हूँ। खाने के वक्त अमृता जी एकदम गोल-गोल फुल्के बना सकती हैं। सब्जियों में, जो काफी देर से खुद-ब-खुद बन रही होती हैं, एक छौंक लगाकर स्वाद भर सकती हैं। मौके पर आ जानेवाला अमृता के हाथ का अमृत-सा भोजन खा सकता है। और फिर खाते ही इलायचीवाली चाय के बीच शुरू हो जाती है, अदबी गुफ्तगू। हर भाषा की उत्कृष्ट रचनाओं का वे पंजाबी में अनुवाद करके अपनी नागमणि को सजाती हैं। ऐसा संपूर्ण साहित्य को समर्पित व्यक्तित्व एक स्त्री का है, यह जानकर कितना भला लगता है।

तोहमतें, पर नफरत नहीं

मैंने उनसे पूछा था, बरसों पहले की उस बच्ची के बारे में बताएँगी, जो माँ के न होने पर पिता की एक नज़रे-इनायत के लिए रात-रात-भर जपजी साहेब का पाठ याद करती थी, ताकि सुबह गुरुद्वारे में बगैर गलती के पढ़ सके। तब उनकी आँखें में एक अजीब तरह का भाव आया था, जैसे किसी गैर-अजनबी के बारे में कुछ याद करने की कोशिश कर रही हों। वक्त के अंतराल का एक लंबा घूँट भरकर जैसे उन्होंने कोई जुल्म किया हो। हाँ, जुल्म ही तो है, उस बच्ची के बारे में सोचना, जो भरे घड़े के सामने मुहब्बत की एक-एक बूँद को तरसती रही। आज उस बच्ची के मुटयार रूप पर यही तो एक तोहमत है कि उसने मुहब्बतें कीं, मुहब्बतें पाईं।

जो लोग नफरत करते हैं, नफरत बाँटते हैं, उन पर कोई तोहमत नहीं लगाती। उनके कोई किस्से नहीं कहता। आसमान में उड़नेवाले खयालों को घी की मटकी में बंद नहीं किया जा सकता। वे तो बादलों में छुपी बिजली को ढूँढ़कर ही रहते हैं। भले बिजली से जल मरें, पर चमक में रोशनी होती है, जिसके उजाले में उनका व्यक्तित्व और निखर आता है। काश, वह छोटी बच्ची मैं देख पाती। मैं उसे कलेजे से लगाकर रखती। पंजाब की पहली कवयित्री अमृता का बचपन अगर तरसा हुआ था, तो जवानी बादलों की नन्हीं-नन्हीं बूँदों से सराबोर। अब जवानी के बाद की उम्र तो साहित्य के

खजाने से मुँह तक भर गई है। जब यह खजाना छलकता है, तो सबके हिस्से में आता है।

अमृता जी का बेटा, जिसे वे प्यार से सैल्ली कहती हैं, बिलकुल माँ-जैसा है। वही नैन-नक्श, वही सादापन। बरसों पहले उनकी विदेशी बहू ज्योति से मिलना होता था। उसके माँ-बाप उसकी पैदाइश के बहुत पहले से विदेश में बस गए थे। मैं जब भी जाती, उसे कहती—चलो, मेरे पाँव छुओ, मैं तुम्हारी मौसी सास हूँ। और फिर, तुरंत अच्छी-सी चाय बनाकर लाना। चलो, जल्दी करो, पहले पाँव छुओ। यह कहकर मैं अपने दोनों पाँव आगे कर देती। यह सब इतनी उतावली में होता कि उसे कुछ समझ न आता। शायद जान छुड़ाने के लिए वह पाँव छूकर रसोई में चली जाती। तब अमृता जी के कमरे में इस नाटक पर हम खूब हँसते। वे कहतीं—तुम्हीं इसकी सास हो भई, हमारे तो इसने कभी पाँव नहीं छुए। मैं उत्तर में कहती—आप क्या खाकर सास बनेंगी। आपको यह सब आता ही नहीं है। बहू को दबाकर रखना चाहिए। आपमें कोई दम नहीं है। और हम तीनों, यानी हमारे साथ पेंटर साहेब भी खूब, खूब हँसते। फिर मैं अमृता जी को दुष्ट सासों के सुने-सुनाए कई हथकंडे सुझाती। पर वे कुछ काम के न निकले। विदेश से बहू के लिए कमख्वाब की कमीज लाई थीं, वह भी उसने पहनकर न दिखाई। मैंने कहा—यही चोंचले तो बहुओं को मारे डालते हैं। और हमारा सारा आस-पास हँसी से आलोकित हो उठता।

कोई अगला वरका खोल

उनकी बेटी कंदला एकदम सादा घरेलू औरत है, यानी अमृता जी की खामोश कलम। अमृता जी कहती हैं—मेरे तीन बच्चे हैं। बेटा, बेटी व कलम। इन तीनों में मुखर उनकी लेखनी ही है। कभी उदास, कभी मुहब्बत से भरपूर। मुहब्बत के वादे करती, मुहब्बत के पुल लाँघती, मुहब्बत के संदेसे लाती। कभी सोए दिलों में जान भरती, तो कभी सोई रूहों को जगाती। और जब 1947 में देश का बँटवारा हुआ था, तब, जब शरीफ घरों की औरतें दालानों में संदूकों की तरह लूटी जा रही थीं, इन महिलाओं का दर्द इस मुखर लेखनी से लहू की तरह टप-टप गिरा था। कहते हैं जब वे काफिले के साथ बैलगाड़ी में हिंदुस्तान आ रही थीं, तब रास्ते में घुप्प अँधेरे में ही यह रचना हुई थी, अमृता जी का कहना है। बँटवारे के बाद अमृता की कलम से चुए इस लहू ने हिंदुस्तान व पाकिस्तान

दोनों को खून के आँसू रुलाया था। फ़ैज़ ने जेल के सींखचों में यह नज़्म पढ़कर कहा था—ये हूक सिर्फ एक औरत के दिल से ही उठ सकती थी। आदमी कभी इस तरह सोच भी नहीं सकता। और क्यों न हो। दुनिया में कहीं भी जब बँटवारे हुए, जंगें छिड़ीं, क्रांतियाँ हुईं या माभूली लड़ाइयाँ, सबसे पहले जो चीज लुटी, वह औरत की अस्मत थी। तभी तो औरत की कलम ने ही पंजाबी के बुजुर्ग शायर को ललकारा था—

अज्ज आक्खाँ वारस शाह नूँ
किते कबराँ बिच्चों बोल
ते अज्ज किताबे-इश्क दा
कोई अगला वरका फोल
इक रोई-सी धी पंजाब दी
तू लिख-लिख मारे वैण
अज्ज लक्खाँ धीयाँ रोंदियाँ
तैन्नूँ वारस शाह नूँ कैहण
उट्ठ दरदमंदा देया दरदिया
ते तक्क अपना पंजाब
अज्ज बेल्ले लाशी विच्छियाँ
ते लहू नाल भरी चनाब।

चनाब, जो मुहब्बत का दरिया है, उसमें खून बहने लगा। उस वक्त लिखी गई यह नज़्म आज भी जिंदा है और अमृता प्रीतम भी इसके साथ हमेशा जिंदा रहेंगी। महाकवि दिनकर ने कहा था—अमृता तुम मरना नहीं। नहीं तो पंजाब की हरियाली सूख जाएगी। अमृता जी उनका कहना मानेंगी, यह मेरा निश्वास है।

जलंधर-ऑन-टेम्स

'दिल में यादों के ले के नज़राने। ऐ वतन आए तेरे दीवाने।'

भारत-पाक मुशायरे में पाकिस्तान की शायरा ने जब अपनी जादू-भरी आवाज़ में यह गज़ल पढ़ी थी, तब दोनों मुल्कों की आँखें गीली हो गई थीं। सन् सैंतालीस में बेघर हुई ये शायरा सहाब कजलबाश जैसे आज भी बेघर हैं। लंदन की भूमिगत रेल में से उतरकर उसी के घर जा रही हूँ। ट्यूब के बाद जिस बस पर बैठी हूँ, उसका ड्राइवर व कंडक्टर दोनों अपने हैं, यानी पाकिस्तान के या भारत के। कंडक्टर पूछता है—भैन जी, कहाँ जाना है?

"गैरेजिज़ के पास।"

"किसके घर?"

मैं हैरान-सी होकर कुछ झुँझलाहट में कहती हूँ, "मेरी एक दोस्त हैं।"

मेरे हाथों की किताबों पर नजर जमाकर वह पूछता है, "वह मोटी-सी शायरा तो नहीं, जिनके घर नूरजहाँ ठहरती हैं। फ़ैज़ आते हैं। फराज़ आते हैं।"

मैं हँसकर कहती हूँ, "हाँ, वही हैं।" वह फिर पूछता है, "आप कहाँ की हैं?

मैं कहती हूँ, "जम्मू की।"

"ओह अच्छा, मैं जेहलम का हूँ। हमवतनी हैं। जेहलम दरिया में पानी तो कश्मीर से ही आता है।"

हाँ, बचपन में एक बार जेहलम दरिया में मैं डूब ही तो गई थी। बस रुकती है। ड्राइवर अपनी कार निकालकर लाता है। और मुझे सहाब के दरवाजे तक छोड़ आता है। मैं अंदर घुसते ही कहती हूँ, "तुझे तो ड्राइवर तक जानते हैं!"

"चल झूठी, बेईमान कहीं की। ले, पहले कबाब चख, कैसा है?"

पाँच साल पहले जब मैं सहाब से मिली थी, तब से अब तक वह ज़रा भी नहीं बदली। वही अपनापन, वही बेबाकी, वही मीठी पुरसोज़ आवाज, जिसे एक शाम फोन पर सुनकर मैंने फौरन उसके घर जाना मान लिया था।

उसका पहला सवाल था—मेरी दिल्ली कैसी है ? रेडियो पर लोग कैसे हैं ? आहा ! कितनी सुंदर बिल्डिंग है दिल्ली रेडियो की। फलाँ को जानती हो ? कितने अच्छे थे वे !···मेरे पतिदेव को देखकर अपनी आँखों पर थोड़ा गुस्सा लाकर वह कहती है—अगर सरदारों के मुहल्ले में हमारा अकेला मकान न होता, तो मैं कभी भागकर न आती। हिंदुस्तान ही में रहती। उन लोगों ने तो यह भी सोच रखा था कि मुझे किसके घर रखेंगे। किससे शादी करवाएँगे।

इन्होंने हँसकर कहा था—सरदार से शादी की होती, तो सुख से रहतीं। अब इस लंबे-चौड़े पठान को न आपके नाजुक खयाल समझ में आते हैं, न ही आपको उनके। तब वह रोने-रोने को हो आई थीं।

यादें अपने बिछुड़े वतन की

सहाब ही के घर मुझे पहली बार ऐज़ाज बटालवी मिले थे। मिलते ही कहने लगे—बस, अब बहुत हो चुका। अब भई, बंद हो जाना चाहिए। हम अपने वतन वापस आना चाहते हैं। मैंने कहा—सिर-आँखों पर। आप जब चाहें, आइए। तब उन्होंने उदास होकर कहा था, क्या हिंदुस्तान अब भी वैसा ही है। क्या वैसा ही, जैसा सपनों में दिखाई देता है। कितना प्यार हम एक-दूसरे को करते हैं। फिर भी, जिनको गले लगाने को तरसते रहे हैं, मैदाने-जंग में उन्हीं पर वार करना पड़ता है।

उन्हीं दिनों हमारे राजिंद्रसिंह बेदी भी वहाँ थे। परदेस में बेदी साहब को करीब से देखती हूँ, तो पाती हूँ, जो किस्से उनके बारे में सुन रखे हैं, उनमें से एक भी उन पर फिट नहीं बैठता।

अहमद फराज़ भी मुझे सहाब आपा के घर ही मिले थे। अपनी उदास आवाज में उन्होंने कितनी ही ग़ज़लें सुनाई थीं। इस बार वहाँ पाकिस्तान अधिकृत इलाके के मीरपुर के बुजुर्ग शायर सैयद जमीर जाफरी से भी भेंट हुई। इनके अलावा ऑक्सफोर्ड के खासतौर से तशरीफ लाए जनाब अकबर हैदराबादी, जनाब अतहर राज़। और कितने ही शोअरा से मिलने का शर्फ

हासिल हुआ। मीरपुर के शायर डोगरी की कविताएँ सुन के जैसे सन् सैंतालीस के पर्दे के पीछे जा रहे। उनके एक बुजुर्ग पीर मुहम्मदशाह डोगरी में भी कहते थे। मैंने पूछा– मीरपुर कैसा है ? उन्होंने हँसकर कहा—वहाँ तो हमने बाँध बना लिया है। मैंने उनसे कहा—मीरपुर से जो शरणार्थी जम्मू आकर बसे हैं, वे अब भी अपनी वे जगहें याद करते हैं, जहाँ वे अपनी जमा पूँजी दबाकर आए थे। वे कहते हैं—वह सब जलमग्न हो गया है। मेरी आँखों के सामने ढक्की पर बना राधाकृष्ण का भव्य मंदिर, मूर्तियों के सुंदर कपड़े, जो मैं बचपन में आँखें फाड़-फाड़कर देखती थी, राधा की असली सोने की नथ, कृष्ण की चाँदी की बाँसुरी से लटकता घुँघरू, सौंफ के बाग, लाल ईंटों से बना सुंदर मकान, जहाँ मेरी गोरी मास्टरनी रहती थीं, घूम-घूम जाते हैं। अतहर राज़ ··· अपनी संजीदा आँखों से उन्हीं को घूरने लगती हूँ।

सहाब कजलबाश लंदन में अदबी पाकिस्तानी हैं। दूसरे दिन उनका फोन आता है, जम्मू के शहाब साहब आए हैं। तुमसे मिलना चाहते हैं। और हाँ, इब्न इंशा भी यहाँ पाकिस्तान एजेंसी में हैं, वही जिन्होंने बी.बी.सी. पर तुम्हारी नज़्म सुनकर आले हसन को वह खत लिखा था। हा-हा-हा ! ··· कश्मीर हमें दे दो, ताकि डोगरी की यह शायरा भी पाकिस्तानी हो जाए !

मैंने कहा, मुँह धोकर रखो। उसने मेरी बात सुने बगैर कहा, इंशा बीमार थे। मैं अस्पताल में उनसे मिलने जाती थी। तो कब आओगी, शहाब साहब पाकिस्तान जा रहे हैं। तुमसे मिलना चाहते हैं।

शहाब साहब से फोन पर बात होती है। डोगरी बोलते उनकी आवाज काँप-सी रही है। वे मुझे घर लेने आते हैं। ट्यूब में बैठते ही फौलाद-सा दाना राजनीतिज्ञ पिघलकर एक बौना शिशु बन जाता है। और मेरी आँखों के सामने उस राजपूत चंद्रावती का धुँधला-धुँधला चेहरा डूबने-उतरने लगता है, जिसे मुसलमान कुदरतउल्ला शहाब से इश्क हुआ था। जब शहाब को अंतर्राष्ट्रीय प्रस्ताव प्रतियोगिता में साढ़े सात सौ पौंड का इनाम मिला था, तब वह तीन महीने तक उसके साथ, उसे मिले टिकट पर हिंदुस्तान में घूमती रही, पर धर्म की बेड़ियाँ तोड़ के कभी भी उसके सीने के साथ न लग सकी। उसके दिल की धड़कनें सुनती रही, उन्हें छू न सकी। फिर बाईस बरस की उम्र में टी.बी. से मर गई। मरने से पहले उसने उस लड़के से कहा था—शहाब, मुझे प्यार करो। लड़के ने उत्तर दिया था—नहीं चंद्रावती मैं कानून नहीं तोड़ूँगा। उस लड़के ने

कानून नहीं ही तोड़ा। वही लड़का जो रोज 30 कि.मी. साइकिल चलाकर उससे ऐमनाबाद मिलने आता था, पूरा एक महीना आता ही रहा था। फिर एक दिन चंद्रावती मर गई। कोई हिंदू उसकी अर्थी उठाने को तैयार न था। तब शहाब ने चार लोगों को बुलाकर अपनी चंद्रावती का दाह-संस्कार किया था। यह लड़का जम्मू रेजिडेंसी रोड पर रहता था। आज इस उम्र में अपना घर देखने के हजारों जलवे अपनी आँखों में समेटे मेरी ओर देखे जा रहा है। नहीं, मैं उसकी निगाहों की ताब नहीं ला सकती। वह मेरी मिन्नत कर रहा है। जम्मू में मेरे घर जरूर जाना। हाँ, जरूर जाऊँगी। हो सकता है, वहाँ मुझे वह लड़का भी दिखाई दे जाए, जो एक राजपूत लड़की की मुहब्बत अब तक दिल में सँजोए हुए है। वही लड़की, जो मेरे पैदा होने के दो साल पहले ही मर गई थी। वही लड़का, जो जम्मू के रामनगर में पंजपीर की दरगाह से अपने दोस्त के साथ मिलकर पैसे उठाया करता था और फिर वह रकम तीन हिस्सों में बँटती थी। एक हिस्सा बड़ी दयानतदारी के साथ पंजपीर को भी दे दिया जाता था।

हाइड पार्क के एक कोने में मेरी कविताएँ सुनकर उस लड़के की आँखें नई तरह के आँसुओं से भर जाती हैं। उसने मुझे एक पेनी देकर कहा है—यह पंजपीर जाकर चढ़ाना। मेरी ओर से कह भी देना।

फिर वे मुझे घर तक छोड़ भी गए थे। उसके बाद तीन दिन तक उनकी चंद्रावती मेरे सिरहाने खड़ी रही। शहाब साहब पाकिस्तान चले गए। मैं उन्हें बता भी न सकी कि जिस चंद्रावती को वे बरसों से खोज रहे हैं, वह मेरा पीछा नहीं छोड़ रही। क्या चाहती हो बहन ? यों खड़े ही होना है, तो शहाब साहब के पास जाओ। मैं तो तुम्हारे उस वक्त से भी बहुत पिछड़ी हुई हूँ, जिसने तुम दोनों को एक कर दिया था। शहाब साहब ने बड़ी आतुरता के साथ हाइड पार्क में पूछा था—क्या जम्मू के साइंस कालेज में अब भी मेरी तसवीर लगी हुई है। उन्होंने कहा—उसी तसवीर को छुट्टी के बाद खाली हॉल में जब चंद्रावती एकटक देखे जा रही थी, तब मैंने उससे पूछा था, तुम यह तसवीर क्यों देख रही हो ? उसने कहा था—मुझे अच्छी लगती है। पर तुम भी चोरी-चोरी आकर अपनी ही तसवीर क्यों देखा करते हो ? मैंने कहा था—मुझे भी वह हर चीज़ अच्छी लगती है, जो तुम्हें अच्छी लगती है।

लंदन : कोहरीला आसमान, सुनसान सड़कें

कनकाँ दियाँ फसलाँ पक्कियाँ ने
इंग्लैंड बिच्चो मेमाँ नस्सियाँ ने।

याद आता है, बचपन में यह पंजाबी गीत कहीं सुना था—गेहूँ की फसल पक गई है। इंग्लैंड में मेमें भाग रही हैं। तब यह भी सुना था, इंग्लैंड में सभी सड़कें शीशे की बनी होती हैं। हर औरत मेम होती है। हर साहब लाल होता है। फूल भी बहुत सुंदर होते हैं। और जब मैं पहली बार लंदन आई थी, तो हवाई अड्डे पर ही मैंने एक भारतीय बुजुर्ग व दर्जनों सोने की चूड़ियाँ पहने कुछ भारतीय स्त्रियों को झाड़ू लगाते देखा था। कलेजे में जैसे कोई छुरी घुसा गया था। और मेरी आँखों के आगे वे चंद चेहरे घूम गए थे, जो भारत आने पर हमें यह अहसास दिलाते हैं कि वे चंदन के झूले में बैठे रहते हैं, जिसकी रस्सी मल्का विक्टोरिया झुलाती रहती हैं। लंदन की कंक्रीट की सड़क पर भागती अपने देवर की सुंदर व आरामदेह कार इसीलिए ही तो मुझे ज्यादा प्रभावित न कर पाई थी। कोहरे से ढका आसमान मानो दम घोटने को तैयार खड़ा था। सड़कें भी सुनसान थीं। तो याद है लंदन!...जिसके किस्से बचपन में परियों की कहानी जैसे सुंदर लगते थे। फिर घर, कालीन, हूवर और बच्चे। कैसे बच्चे। जिन्होंने कभी मैदान में गिल्ली-डंडा नहीं खेला। छत पर चढ़कर पतंग नहीं उड़ाई। पास के किसी मटियाले दरिया में सरसों का तेल मलकर घंटों तैरे नहीं, बैसाख की चिलकती धूप में कच्ची अमियाँ नहीं खाईं और रात को माँ के मैले आँचल में घुसकर उसका अमृत दूध नहीं पिया। यह कैसा बचपन है, जहाँ आया लोग बारह-तेरह बच्चों को एक कानून के शिकंजे में कसकर पालती हैं।

तभी बी.बी.सी. के आले हसन जी ने बुलवाया था, और कुछ बेगानगी कम हुई थी। बी.बी.सी. में भारत या पाकिस्तान से आनेवाले साहित्यकारों की खबर रहती है। पाकिस्तान की मशहूर शायरा ज़हरा निगाह भी उन दिनों वहीं थीं। उर्दू के जनाब वसीम सिद्धी की भी पाकिस्तान के लिए, उनके लफ्जों में मीठी जुबान डोगरी का रेकार्डिंग करते हैं। आले हसन की स्वीट्ज़रलैंड की लंबी-ऊँची जनानी खाने पर बुलाती है, तो पहली बार उनके घर में पड़ोस से माँगकर तवा लाया जाता है। रोटियाँ, जाहिर है मैंने पकाईं। आटा चूँकि आले साहब का मला हुआ था, इसलिए जब चौथी रोटी रो-पीटकर फूल गई तब बेदी

साहब भी सबके साथ चिल्लाने लगे थे—फूल गई, फूल गई। मैंने आले साहब से कहा, जिस घर में जिंदगी में एक बार ही तवा आया हो, वहाँ डबलरोटी खाकर कब तक निबाहोगे भाई ?

इस उदास बैंगनी-से शहर में बरसों से भारत व पाकिस्तान के बिछड़े हुए लोग मिलते रहे हैं। कतार-दर-कतार बने खूबसूरत मकानों में कोई-कोई घर ऐसा भी है, जहाँ फ़ैज़ के नगमें गूँजते हैं, लता मंगेशकर व नूरजहाँ की बातें होती हैं। जहाँ उम्र, रुतबे, धर्म या मुल्क का खयाल किए बगैर लोग चंद लम्हों के लिए अपने भूतकाल में जाते हैं। ऐसे ही एक बँगले में उर्दू अंजुमन के सेक्रेटरी श्री सोहन राही ने आने का कहा है। इब्न इंशा सेहत ठीक न होने पर भी आए हैं। भारत की सिर्फ मैं हूँ। बाकी सब भूतकाल के नखनऊ, अलीगढ़ व यू.पी. के और शहरों के लोग हैं। उनकी नज़्मों का हिंदुस्तान बदला नहीं है। ज़हनी तौर पर वे सभी रहते भी वहीं हैं। हसन यूसुफ शायर कमरे में आते हैं, बैठते हैं, आँखें पोंछते हैं। नशिस्त खत्म होने के बाद जब चाय पर सब बैठते हैं, तो साठ बरस के बुजुर्ग हाथ बाँधे मुझसे पूछते हैं—एक़ बात कहूँ, बुरा तो न मानेंगी ?

"नहीं, कहिए न !"...मैं कहती हूँ।

"मैं जब अंदर आया, तो आपको देखकर यकीन न हुआ। मेरी वालिदा बिलकुल आप जैसी थीं। ऐसे ही नाक में लौंग पहनती थीं। ऐसे ही सिर ढकती थीं !"...उनकी आँखें भरी हुई थीं।

मैं हड़बड़ाकर उनके कंधे पर स्नेह से हाथ रख देती हूँ। वे मुझे माँ साहब कहते हैं। घर आते समय ट्यूब में इंशा जी कहते हैं—वाह, इतना पला हुआ बेटा देखकर तुम्हारे सरदार भी खुश हो जाएँगे।

मुलाकात इंशा जी से

इंशा जी उठो, अब कूच करो,
इस शहर में जी को लगाना क्या।

यह मशहूर ग़ज़ल इंशा ने लंदन ही में कही थी। जलंधर में पैदा हुए इंशा सन् सैंतालिस में भारत से बिछड़ गए थे। ऑक्सफोर्ड सर्कस में स्थित इंडिया टी हाउस में आलू-बोंडे खाते हुए इंशा बता रहे हैं—

किसी को पा जाने की उम्मीद न थी। दोस्त-अहबाब भी छूट चुके थे।

घरवालों को जलंधर से ढूँढ़ते-ढूँढ़ते लाहौर पहुँचे । एक अखबार में साठ रुपए मिलने शुरू हो गए, तो एक कमरा भी कहीं से जुटा लिया था । पर अपनी कमाई की एक चारपाई जब वे खरीदकर कंधे पर लादे ला रहे थे, तो लोगों ने कहा—किसी हिंदू के घर से उठाकर ला रहे हैं । तब से घर बसाने की हसरत जो न हुई, तो कई बरस न हुई । बरसों घूम-घूमकर पूरी दुनिया घूम ली । पर गैरों की गलियाँ क्या खाकर जलंधर की गलियों का मुकाबला करतीं । मन वृंदावन की कुंज गलियों में भटकता है ।

इंशा जी लंदन में हैं । ठेठ पंजाबी लहजे में नज़्म पढ़ते इंशा जी कोई अलग इंसान लगते हैं । इंशा शायर के सामने अपनी नज़्म पढ़ते भी डर लगता है । पिछले कुछ महीनों से बीमार इंशा को सुनने को सभी बेकरार रहते हैं । वे अपनी बीमारी से बेखबर सबसे शरारतन बातें कर रहे हैं । मुझसे कह रहे हैं—क्या रखा है डोगरी में, उर्दू में लिखो । हमारे लिए लिखो मैंने कहा—बचपन में तो लोरी डोगरी ही में सुनी थी । उर्दू में सुनी होती तो उसी में लिखती । इंशा जी ने अपना पूरा एक दीवान रात-रात-भर बैठकर मुझे हिंदी में करके दिया है । उनकी पत्नी कहती हैं—हमारे घर में आजकल उल्लुओं का राज है । सोना दिन में, रात को जागना । मैंने कहा—जलंधर में तो तभी दिन होता है, जब यहाँ रात होती है । वे हँस पड़ती हैं । उन्हें हिंदी नहीं आती, पर इंशा जी के कलाम में सब जगहा हिंदी समाई हुई है ।

कल मुझे भारत लौट जाना है । सोहन राही एक अखबार के लिए इंटरव्यू लेने आए हैं । बांड स्ट्रीट में सब लोग जमा हैं । इंशा भी आए हैं । मुझे माँ कहनेवाले साहबजादे भी । इंशा मेरे साथ वैसे ही बातें कर रहे हैं, जैसे जलंधर बस स्टाप पे मैं बस में बैठी हूँ । साहिर लुधियानवी, प्रकाश पंडित, रामानंद सागर, राजेंद्रसिंह बेदी—सबकी बातें । उसे यह कहना, उसे यह कहना । मैं कहती हूँ—जितनी बार लंदन आई हूँ फ़ैज़ साहब से भेंट नहीं होती । या तो वे चले गए होते हैं, या आने वाले होते हैं । आप उनसे कहेंगे न, मैं उनकी सबसे बड़ी प्रशंसक हूँ । बरसों पहले अस्पताल में उनकी किताबें पढ़-पढ़कर मैंने अपनी बीमारी के लंबे दिन छोटे कर लिए थे । इंशा जी अपनी बोझिल आँखों से कह रहे हैं—कौन जाने हम भी कभी मिले सकेंगे या नहीं । मुझसे कहते हैं, अपनी नज़्में भेजती रहना । मैं भी भेजूँगा । शायद अब ज्यादा बातें करने को नहीं हैं । राही मोंगरा चुनकर लाए हैं, मेरे लिए । बरतानिया के उबले हुए आलुओं में

कच्चे मोंगरा छिपाकर खाते हुए मैं अपनी उदासी ऊँची-ऊँची आवाज में लपेट रही हूँ। मन इधर-उधर उड़ रहा है।

लंदन आने से पहले मैं जम्मू गई थी, तो बलराज पुरी ने कहा था—महमूद हाशमी से जरूर मिलना। महमूद विर्रामिघम में थे। मेरा फोन पाकर लंदन मिलने आए थे। मिलते ही कहने लगे—सन् सैंतालिस में हम लड़के चिनाब के पार के हालात देखने जा रहे थे। मैंने कहा था, वहाँ मुसलमानों का जोर है, मैं जानता हूँ। मैं ही गया। जाते ही गिरफ्तार हो गया। पार खड़े मेरे दोस्त कुछ भी न जान पाए, क्या हुआ है। मैंने कहा—वे अब भी चिनाब के उस पार खड़े इंतजार कर रहे हैं। महमूद कहने लगे—एक बार मरने से पहले जम्मू जरूर जाऊँगा। तुम्हारी भाभी मेम हैं, तो वतन जाना उनके लिए जरूरी नहीं है। कोई रास्ता दिखाई नहीं देता। अपनी दीवारों के गले लगकर रोने को कितना ही जी चाहता है। तुमसे एक बार फिर जरूर मिलूँगा।...

वे जाने लगते हैं, जैसे कोई दीवार टूटती है। उनको जाते देखते तक नज़्म उभरती है, जो कभी पूरी नहीं होती—

कौन कहता है
दीवारों के सिर्फ कान होते हैं
दीवारों का मन भी होता है
तभी सब अपनी-अपनी दीवारों से
मोहब्बत करते हैं।

नौजवान बुज़ुर्ग लफ्ज़ों के सराफ़

चारों ओर से झुकी बर्फीली पहाड़ियों के बदन से बूँद-बूँद गिरते पानी का झरना सिरीनगर में चश्माशाही के नाम से जाना जाता है। कई बरस पहले की ढलती सुबह उगती दोपहर की पीली-पीली धूप में उतर रही थी। ओक भर-भरकर जल पी लेने के बाद भी जब प्यास न बुझी तो मैंने आँखों पर ठंडी उँगलियाँ फिराकर पीछे मुड़-मुड़कर देखते-देखते चश्माशाही की सीढ़ियाँ उतरनी शुरू कर दी थीं। ठंडे पानी से तृप्त और अतृप्त आत्मा को घसीटती मैं सीढ़ियाँ उतरने लगी थी। ठक-ठक की आवाज़ से चौंककर मैंने देखा गाँधी टोपी, शेरवानी और डोगरे दोहरे पायजामे में एक बुजुर्ग, नौजवानों की तरह सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आ रहे थे। मैंने पहचानकर हाथ जोड़ दिए और पूछा—यहाँ कैसे? वो बोले—सुबह घूमने निकला था। जब चश्माशाही के पास आ गया तो सोचा, क्यों न पानी पीकर ही जाऊँ। चश्माशाही सिरिनगर से सात-आठ मील दूर है। मैं हैरान होकर उन्हें देखने लगी। उन्होंने हँसकर कहा—इतना तो मैं रोज़ ही घूम लेता हूँ। मैं सीढ़ियाँ उतरने लगी, वो सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। ये हमारे जम्मू के बुजुर्ग पत्रकार श्री मुल्ख़राज सराफ़ थे। जम्मू की गलियों और सड़कों पर मैंने इन्हें इसी लिबास में लोगों के अभिवादन का उत्तर देते, आते-जाते कई बार देखा है।

सराफ़ साहब को मैं डोगरी के प्रसिद्ध लेखक श्री वेदराही के पिता के नाते अधिक और पत्रकार के नाते कम जानती थी। 1974 में जब इन्हें पद्मश्री की उपाधि मिली और बंबई में डोगरा कल्चरल अकादमी की तरफ से जब हमने इनका स्वागत किया, तब इनके व्यक्तित्व की कई गिरहें खुलीं। उस समय बोलते हुए लेखक स्व. किशनचंदर जी ने कहा था, "सराफ़ साहब ने सराफ़

होकर भी कभी सोने-चाँदी का भाव नहीं किया और हमेशा उस सोने के कायल रहे जो लफ़्ज़ों में छिपा रहता है।" और जम्मू के पत्रकार डॉ. निशात ने कहा था, "हम सबने पत्रकारिता सराफ़ साहब के कदमों में बैठकर सीखी है। अगर ये कहा जाए कि जम्मू-कश्मीर में पत्रकारिता का युग सराफ़ साहब के प्रयत्नों से आरंभ हुआ तो कोई ज़्यादती न होगी।" स्वभाव से नम्र सराफ़ साहब सिर्फ मुस्कुरा-भर दिए थे। उसके बाद साल-भर पहले जम्मू में जब ये घर पर मुझसे मिलने आए तो मैं हस्बेमामूल घर पर न थी। तब मैं जिनके घर गई थी उनकी खड़ी और सीधी तीन छत की सीढ़ियाँ दनादन चढ़कर सराफ़ साहब एक ही साँस में ऊपर आ गए थे। मैंने शर्मसार होकर उनसे माफ़ी माँगी थी और वो आराम से कुर्सी पर बैठकर उस घर की बहू को चाय न बनाने के लिए कहते रहे थे। मुझे बहुत शर्मिंदा होते देखकर उन्होंने कहा था—तुम्हें एक लतीफ़ा सुनाते हैं, एक शख्स ने मुझसे पूछा आपकी उम्र कितनी होगी? मैंने कहा, यही चालीस-पैंतालीस के लगभग होगी। वो थोड़ा नाराज़ होकर बोला, साठ के करीब तो आपके बड़े पुत्र हैं। आप चालीस-पैंतालीस के कैसे हुए। मैंने कहा, गुस्सा क्यों करते हो। गिनती तो तुमने सीखी होगी, जोड़कर देख लो—चालीस और पैंतालीस कितने होते हैं। तब कमरे में बैठे सब लोग देर तक हँसते रहे थे।

उन्हीं दिनों सराफ़ साहब की धर्मपत्नी बीमार थीं। मैं उन्हें देखने गई। मैंने सुन रखा था वो बड़ी दबंग औरत हैं। मैं डर-डरकर उनका हाल पूछ रही थी। उनकी आँख के कौन-से इशारे से एक स्त्री मेरे आगे देसी चाय का प्याला रख गई, ये मैं न जान पाई। उन्होंने चाय पर तैरती इलायचियों को संतोष से देखा और अपने पलँग के पीछे की अलमारी में से एक डिब्बा निकाला। उसमें से बादाम की कुछ गिरियाँ मेरी प्लेट में डाल दीं और अपनी रौबदार, पर ममत्व से भरी आवाज़ में कहने लगीं—ये गिरियाँ मैं सराफ़ साहब के लिए निकालकर रखती हूँ। बादाम की एक-एक गिरी मुँह में रखते समय उनके महत्त्वपूर्ण होने के आभास के साथ-साथ मुझे ये भी लग रहा था कि मैं सराफ़ साहब का हिस्सा खा रही हूँ। प्लेट पर रखी गिरियों पर उनकी नज़र भी थी इसलिए बिना खाए भी छोड़ न सकती थी। जितनी देर मैं बैठी रही उन्होंने जो भी दो-चार बातें कीं, वो सराफ़ साहब के बारे में ही थीं। उन दिनों वेद राही भी अपनी माँ को देखने आए हुए थे। दरवाज़े तक मुझे छोड़ने आए तो कहने लगे—डॉक्टर ने इन्हें हिलने-डुलने से मना किया है पर ये सुबह उठकर नहा-धोकर ही चारपाई पर

लेटती हैं। इस बारे में सराफ़ साहब का आग्रह भी दम तोड़ देता है। हृदय रोग में हिलना-डुलना मना है पर इनकी दिनचर्या से इन्हें कोई नहीं रोक सकता।

उसके बाद जब सराफ़ साहब से भेंट हुई तब वो पाकिस्तान से होकर आए थे और वहाँ गुज़ारे चंद दिनों की यादों से भरे हुए थे। उनसे मिलकर गुज़िश्ता दिनों का जो खजाना मैंने उलटकर देखा तो मुझे यूँ लगा जैसे वक्त पर कुंडली मारे साँप को भगाकर मैंने धरती में दबे सुंदर क्षण देख लिए हों। मेरी उत्सुकता बढ़ती गई। मेरे आग्रह पर सराफ़ साहब ने पचहत्तर बरस पहले के ग्यारह साल की उम्र के लड़के के बारे में मुझे बताना शुरू किया जिसे प्यार से घर के लोग मुल्खो कहते थे। उन दिनों भारत में प्रिंस ऑफ वेल्स आनेवाले थे। इसी खुशी में स्कूलों में मिठाई बँटनेवाली थी। मिठाई के लालच में सराफ़ों का ये लड़का ग्यारह साल की उम्र में स्कूल में भरती हो गया। फिर लफ्ज़ों की गुलकारी में ऐसी सुंदर बस्तियाँ दिखाई दीं जिनके आगे माँ-बाप द्वारा नियत भविष्य एकदम फीका लगने लगा। दिन और रात लफ्ज़ों और पन्नों में डूब गए। उस लड़के के दोस्त का बाप पोस्टमैन था। लाहौर से अखबार आते थे। धीरे-धीरे मिठाई से ज़्यादा लालच अखबार का हो गया। जब तक पूरी अखबार न पढ़ता मन छटपटाता रहता। अखबारों की सुर्खियाँ आँखों में छातीं और अखबार के बारे में महबूबा की तरह सैकड़ों ख़याल दिमाग में तैरते रहते। और-और किताबें पढ़ने का लालच होने लगा। सांबा से आठ मील दूर पुरमंडल गाँव में लगनेवाले चैत्र चतुर्थी के मेले आँखों से ओझल होते गए और उनकी जगह आनेवाले दिनों के ख्वाबों की ताबीर ने ले ली। पढ़ने का जोश अपने तक ही सीमित न रहा। एक हलवाई के बच्चों को खाली समय में पढ़ाने लगे। उनके बदले में हलवाई की दूध-भरी कढ़ाई में से मोटी भैंसिया मलाई खाने को मिलती।

सांबा कस्बे के पास बहनेवाली बसंतर नदी में बचपन में लकड़ियाँ पकड़ने जाया करते थे। अब उसे पार करके जम्मू जाने लगे। मैट्रिक करने के बाद जम्मू के प्रिंस ऑफ वेल्स कालेज में दाखिल हो गए। मिठाई के लालच में स्कूल में दाखिला लेनेवाला लड़का हर साल स्कॉलरशिप लेकर पढ़ने लगा। जम्मू में बोर्डिंग में रहते। हर शनिवार को पैदल सांबा आते। रविवार वहाँ काटते और सोमवार को सुबह पाँच बजे फिर पैदल जम्मू की तरफ़ चल देते। पाँच घंटों में चालीस किलोमीटर का सफ़र बड़ा अच्छा लगता। दस बजे तक कालेज पहुँच जाते। रास्ते में तीन-तीन गगरियाँ उठाए अँधेरे में भी घूँघट निकाले औरतें पानी

भरने जा रही होतीं। कोई-कोई बसंतर में नहाने भी आती थी। पर ये भी डर रहता था कि कहीं राजा के आदमी किसी को उठाकर न ले जाएँ। सड़क पर अँधेरा रहता। साथ में दोस्त रहता काकासिंह समेयाल। वो इनका लँगोटिया यार था। उसकी संगति में पढ़ने की ललक बढ़ गई थी। जैसे-जैसे पौ फटती, चहकती चिड़ियों के काफ़िले संग हो लेते। रास्ते में किसी-किसी दुकान पर धुआँ उठता और ये सोचकर कदम तेज़ हो जाते कि अगली दुकान पर जरूर पकौड़ियाँ निकल रही होंगी। रास्ते में बामणें दी बड़ी पड़ाव आता था। वहाँ रुककर थोड़ा विश्राम करते। कुछ खाते-पीते और चल निकलते। तब जम्मू में तवी नदी पर बना पुल पार करने का एक पैसा लगता था। सैर करनेवालों पर ये टैक्स न था। आप दोनों ऐसे ही जाते जैसे सैर से लौट रहे हों। पैसा बचाकर लगता जैसे बड़ी भारी जंग जीत ली हो। पर काकासिंह ने साथ न दिया। अभी फर्स्ट इयर ही में थे, जब एक दिन जम्मू से सांबा जाते रास्ते में उसके पेट में शूल उठा और सांबा तक उसे पहुँचाना कठिन हो गया। घर पहुँचते ही उसने दम तोड़ दिया। तब ये सफर उतना सुंदर न रहा।

कालेज में लायब्रेरी में किताबें, रसाले और पत्रिकाएँ नए दोस्तों के रूप में मिलतीं। पढ़ने-लिखनेवालों से विचारों का आदान-प्रदान भी होता। वहीं धीरे-धीरे लिखने का भी शौक हो गया। 1916 में कालेज मैगज़ीन में आपने पहला लेख लिखा। उसके बाद लाहौर में छपनेवाली पत्रिकाओं में भी लिखना शुरू कर दिया। तब जम्मू-कश्मीर से कोई अखबार या पत्रिका न निकलती थी। इस बात का सराफ़ साहब को बड़ा दुख था। एक बार कालेज में प्रोफेसर ने इनसे पूछा—बड़े होकर तुम क्या करना चाहते हो? आपने झट-से उत्तर दिया—मैं रियासत में चार काम करना चाहूँगा :

1. अखबार निकालना
2. यूनिवर्सिटी कायम करना
3. लैजिस्लेटिव कौंसिल कायम करना
4. बैंक खोलना।

तब प्रोफेसर साहब ने व दूसरे विद्यार्थियों ने इसे डींग हाँकना ही समझा होगा। पर सराफ़ साहब ने पहला अखबार भी निकाला और बाकी कामों में भी सक्रिय भाग लिया।

बी. ए. करने के बाद आपने लाहौर के लॉ कॉलेज में दाखिला लिया। लाहौर

तब राजनीतिक गहमागहमी का गढ़ था। बड़े-बड़े नेताओं के भाषण होते थे। हर भाषण सुनने के बाद जब सराफ़ साहब घर आते तब बैठकर सोचते कि जब जम्मू में अखबार निकालकर वो ये सब छापेंगे तब उन सब लोगों को पता चलगा—दुनिया में क्या हो रहा है। वो लोग जो बर्फ में जमी डल लेक के नीचे दौड़ती मछलियों की तरह ऊपरी सतह पर होनेवाली हलचल से बेखबर हैं। अखबार निकालने का भूत तलब की तरह बढ़ता गया। उन्हीं दिनों अपनी मेल-मुलाकात व प्रतिभा की बदौलत लाला लाजपतराय ने इन्हें अपने अखबार वंदेमातरम् में उप-संपादक रख लिया। आज़ादी के लिए जद्दोजहद हो रही थी। इस वातावरण में आपके मन में रियासत में अखबार निकालने की कसक ने और ज़ोर पकड़ा। लाहौर में छपनेवाले सभी अखबार जम्मू जाते थे। उनमें लगातार छपते रहने से सराफ़ साहब को रियासत के सभीं पढ़े-लिखे लोग जानते थे। पर आप तो उन लोगों के लिए अखबार निकालना चाहते थे जिनकी दुकानों से बहुत सुबह धुआँ उठता था। जिनकी बहू-बेटियाँ पानी की कमी की वजह से मुँह अँधेरे तीन-तीन गगरियाँ उठाए मीलों दूर पानी भरने जाती थीं। जो मेहनतकश थे। जो अपने खेत में उगी गेहूँ की बालियों का हिसाब न रख पाते थे।

इन दिनों रियासत में महाराजा प्रतापसिंह का राज्य था। उनके दरबार में सराफ़ साहब ने अर्ज़ी देकर अखबार निकालने की इजाज़त चाही। इस अर्ज़ी का एक साल बाद जवाब आया—दरबार आपकी इस दरख्वास्त पर गौर करने को भी तैयार नहीं। इस कागज़ पर सरकारी मुहर थी। तीन साल लगातार दरख्वास्तें देते रहने के बाद चौथे साल आपको अखबार निकालने की इजाज़त मिल गई। अखबार की इजाज़त मिलने से पहले खुफिया तौर पर सराफ़ साहब की छानबीन भी हुई। इस समय आप तीस बरस के थे।

अखबार का नाम 'रणवीर' रखा गया। महाराजा प्रतापसिंह जी के पिता जी का नाम रणवीरसिंह था और इसका अर्थ रण का वीर भी था। ये रियासत का पहला अखबार था। जिसके लिए सराफ़ साहब ने बरसों ख्वाब देखे थे। इजाज़त मिलते ही वो मंसूबे जो रात को सोने के पहले, सड़क पर चलते-फिरते व लोगों से बातचीत करते समय बाँधे जाते थे, उन्हें पूरा करने का वक्त आ गया था। झट-से एक कच्चा मकान किराए पर ले लिया गया। अब पैसों की समस्या दरपेश हुई। पत्नी ने अपने सारे गहने सराफ़ साहब के आगे लाकर रख दिए,

रूमाल में गहने बाँधकर सराफ़ साहब अपने दोस्त श्री विश्वनाथ वढ़ैरा को साथ लेकर वजीर तेजराम के पास गए । श्री वढ़ैरा वजीर तेजराम के मोहतबिर थे। सराफ़ साहब ने रूमाल में बँधे गहनों की ढेरी वज़ीर साहब के आगे लगा दी। उन्होंने गहने लिए। हुंडी लिखवाकर दो हज़ार रुपए सराफ़ साहब को दे दिए। वढ़ैरा साहब अखबार के जर्नल मैनेजर हुए और दोनों अखबार का सामान खरीदने सियालकोट निकल गए।

उन दिनों अखबार की पहली प्रति क़ातिब लिखते थे। इसके बाद उस प्रति को पत्थर पर जमाया जाता था। ये पत्थर लाहौर से आता था और बड़ा कीमती होता था। इस पर क़ातिबी कागज़ जमाया जाता था और फिर तीन-तीन पहलवान रोलर फिराकर उसकी हज़ार-हज़ार कापी निकालते थे। इस काम में बड़ा ज़ोर लगता था। ये पहलवान सरकारी छापाखाने में नौकरी करते थे। वहाँ से छुट्टी मिलने पर रात के बारह बजे तक अखबार का काम करते थे।

इस अखबार की कीमत एक आना रखी गई। सालाना चंदा चार रुपए था। अख़बार की जब पहली प्रति निकली तो लोगों ने उसे ऐसे चाव से देखा जैसे भूखों को रोटी मिल गई हो। पाँच-पाँच, छह-छह गाँवों में एक अखबार जाता जिसे सुनने सब लोग इकट्ठे होते। एक आदमी खबरें सुनाता और लोग कंबल में लिपटे, नीम की दातुन चबाते सतर्क कानों से खबरें सुनते और उस पर बहस करते। अखबार हाथों-हाथ बिकने लगा। पहले दो महीनों में ही वज़ीर तेजराम जी के दो हज़ार रुपए चुकता कर दिए गए।

इस अखबार का पता पहाड़ियों के उस पार भी लगा। मशहूर लेखक मुंशी प्रेमचंद जी ने कहा—जम्मू जैसे पहाड़ी इलाके में ऐसा अखबार निकालना ग़नीमत है।

रियासत में निकलनेवाले इस पहले अखबार को दरबार भी नज़रअंदाज न कर सका। रोज़ अखबार 'रणवीर' दरबार में पढ़कर सुनाया जाता। लोगों की रुचि बनाए रखने के लिए इसमें कुछ मसालेदार खबरें भी रहती थीं। दरबार में खबरें बड़ी दिलचस्पी से सुनी जाती थीं :

उन दिनों महाराज के रसोईघर में जो पोइए खाना पकाते थे वो अपने साथ हुक्का भी ले जाते थे। हुक्के के पेंदे में जहाँ पानी भरा जाता है, आते समय वो पानी फेंककर उसमें घी भरकर लाया करते। 'रणवीर' में ये खबर छप गई। सरकार ने ये खबर पढ़कर सराफ़ साहब को बुला भेजा। सरकार याद कर रहे

हैं, ये जानकर आप दरबार में हाज़िर हुए। थोड़ी दूर जाकर बैठ गए। महाराज ने थोड़ा करीब आने को कहा। ये थोड़ा खिसके। उन्होंने और करीब बुलाया और पास बिठाकर सरगोशी में कहा, "पता थो मिगी बी हा, पर लिखेया तूँ…" याने पता तो मुझे भी था, पर लिखा तुमने। फिर दीवान से मुख़ातिब होकर कहा—इसे खिलअत दो। चूँकि ख़िलअत तैयार न थी, उसके एवज में इन्हें सौ रुपए दिए गए। दरबारियों पर रौब गालिब हो गया। मैंने महाराजा प्रतापसिंह जी के बारे में सुन रखा था कि वो बहुत बड़ी पगड़ी पहनते थे। सिलक कुरते के नीचे दोहरे पायजामे की डोरी हमेशा लटकती रहती थी। अफ़ीम के नशे में रहते थे इसलिए दरबारियों के कंधों पर हाथ रखकर चलते थे। सराफ़ साहब से मैंने असलियंत जाननी चाही। वो झट से बोले—नहीं, ऐसा न था। ये बातें यूँ ही फैलाई जाती थीं। दरअसल वो बड़े ही हाज़िर जवाब और दाता पुरुष थे। और फिर बातचीत का सिलसिला अखबार से हटकर दरबार तक जा पहुँचा। पत्रकारों की जगह मुसाहिबों की बातें होने लगीं। सराफ़ साहब ने कहा—महाराजा के मुसाहिबों ने जिन्हें आजकल की भाषा में चमचा कहा जाता है, एक बार महाराजा साहब को पानी पर टैक्स लगाने को कहा। हँसकर महाराज बोले—अच्छा, तो अस हुन झीर बी बनी गै। …अच्छा, अब हम पानी भरनेवाले भी बन गए। बात वहीं दब गई। एक और घटना सराफ़ साहब ने बताई। उन दिनों महारानियाँ पर्दे में रहती थीं। रियासत की देखभाल के लिए अंग्रेज रैज़ीडेंट हुआ करते थे। वहाँ के रैज़ीडेंट की मेम को रनिवास देखने का शौक हुआ। रैज़िडेंट ने खबर भिजवा दी। तब सोच में डूब गए। उन दिनों रैज़िडेंट को कोई नाराज़ न कर पाता था। दीवान ने डरते-डरते महाराजा से कहा। महाराजा तो अंग्रेज के साथ हाथ मिलाने के बाद गंगाजल से हाथ धोते थे। रनिवास में अगर मेम घुस जाती तो सारा महल ही धोना पड़ता। महल की स्त्रियों को कपड़ों समेत नहाना पड़ता। थोड़ा चुप रहकर महाराजा बोले—घबराने की क्या बात है। रैज़िडेंट को कहो, मेम को भेज दे। पर एक बार महल में घुसने के बाद फिर कोई स्त्री महल के बाहर नहीं आती, ये हमारी रीति है। इसके बाद रैज़िडेंट ने कभी अंतःपुर का जिक्र तक न किया।

मैंने सराफ़ साहब से पूछा—क्या एक बार अखबार निकालने के बाद आपको कोई मुश्किल पेश नहीं आई? तो बोले—1924 में अखबार पर मुकदमा चला। अखबार थोड़ी देर के लिए बंद भी रहा पर आखिर जीत सराफ़

साहब की साफ़गोई ही की हुई। 1934 में इन्होंने बच्चों के लिए एक पत्रिका शुरू की, जिसका नाम 'रत्न' रखा गया। रियासत में कानून ढीले हो जाने पर और भी अखबार निकलने लगे थे। पर बच्चों की ये पहली पत्रिका थी जो सारे हिंदुस्तान में मक़बूल हुई। हर वर्ष तब युवराज कर्णसिंह जी के जन्मदिन पर कर्ण नंबर निकलता था जिसके लिए लोग इंतज़ार करते रहते थे। सराफ़ साहब ने बड़े खुश होकर बताया कि डॉ. कर्णसिंह भी ये नंबर अपनी लायब्रेरी में रखा करते थे। मेरे ये पूछने पर कि आपके अखबार से जनता सिर्फ राजनीतिक गतिविधियों की जानकारी ही हासिल कर सकी या कोई और फायदा भी लोगों को हुआ, सराफ़ साहब ने कहा–डोगरे पहाड़ी लोग सीधे-सादे मेहनतकश या फ़ौजी होते थे। समाज में कितनी कुरीतियाँ थीं। हम चाहते थे इनके बारे में लिखें, तो हो सकता है ये कुरीतियाँ खत्म चाहे न हों पर कम हो जाएँ। तब छोटे-छोटे लड़के तमाखू पीते थे। ज्यों ही कोई बड़ा कमरे में हुक्का छोड़कर निकला किसी छोटे ने झट मुँह से नली लगा ली। सड़क पर पड़े सिगरेट के छोटे-छोटे टुकड़ों को मुँह में रखकर चिमटे से कोयला पकड़े उसे जलाने की कोशिश में मुँह, नाक या हाथ-पैर जला लिए। लड़कियों को पैदा होते ही दफ़ना दिया जाता था। ज्यों ही गर्भवती स्त्री को प्रसवपीड़ा होती थी घर के पिछवाड़े में एक कब्र खोद दी जाती थी। अगर लड़का होता था तो बिहाइयाँ गाई जातीं, अगर लड़की होती तो गर्भ से निकलते ही गर्त में डाल दी जाती। ये चलन राजपूतों में अधिक था। वो अपने से छोटी जातिवालों की बेटियाँ ले तो लेते थे पर अपनी बेटी अपनी हैसियतवालों को ही देते थे। जो राजपूत दरबार में या फ़ौज में होते थे वो हल चलानेवाले राजपूतों के घर बेटी न देते थे। ये रस्म तब के महाराजा श्री हरिसिंह जी ने खुद हल चलाकर, किसानों के साथ एक पंगत में खाना खाकर तोड़ी। पहली बेटी बलदेवसिंह जी ने हल चलानेवालों के घर दी। फिर द्वार खुल गए। ये सभी खबरें अखबार में छपती थीं और दूर-दराज पहाड़ी गाँव तक भले ही देर से पहुँचें पर पहुँचती थीं। सुबह बावड़ी पर नहाती, मंदिर में पीतल के कलसों से शिव जी को चढ़ाने जल लेकर जाती, शाम को कुएँ पर पानी लाती औरतें मर्दों से सुनी खबरों पर बहस-मुबाहिसे करतीं। इसके अलावा तब रियासत में कंडी के इलाकों में पानी न मिलता था। मीलों दूर बरसात के पानी के जोहड़ रहते, जिनका पानी पीने से लंबे-लंबे कीड़े जिस्म में हो जाते या गलग्रह निकलते। इन सब बातों की तरफ सरकार की तवज्जोह

दिलवाई गई। कुछ लोगों ने कुएँ खुदवाए, यज्ञ किए और पुण्यकार्य में शामिल हो जाने के बाद के काम बड़े पैमाने पर हुए। फिर बख्शी गुलाम मुहम्मद जब रियासत के प्रधानमंत्री बने तो उन्होंने कंडी इलाकों में पानी का बड़ा अच्छा इंतजाम किया। छोटी उम्र की शादी और दोहरी की शादी के रिवाज में भी कमी हुई। बेगार को लेकर भी अखबार में बड़ी खबरें छपती थीं। उन दिनों कोई डर से बाज़ार सौदा-सुल्फ़ लेने न जाता था। अहलकार देखते ही बेगार में धर लेते थे। सराफ़ साहब ने बताया—एक व्यक्ति अपनी माँ के लिए दवाई लेने बाजार गया तो बेगार के तीन दिन बाद जब घर लौटा तो उसकी माँ का दाह-संस्कार भी हो चुका था। ऐसी खबरें छपने पर लोगों में बेदारी तो आती ही थी, इसके अलावा 'रणवीर' का दफ्तर साहित्यिक व राजनीतिक गतिविधियों का अड्डा भी था। डोगरी साहित्य के बानी पंडित हरदत्त शास्त्री यहाँ दफ्तर में ही कितने बरस रहे। उनके पास दीनूभाई पंत व और लोग भी आते रहते थे। हरदत्त जी की रचनाएँ 'रणवीर' में छपा करतीं। शेख अब्दुल्ला भी यहाँ आठ-आठ, नौ-नौ घंटे बैठे रहते। तब ये लड़के-से थे। जनता से परिचित होना चाहते थे। लोग इन्हें पेशावर एजीटेटर कहा करते थे।

बँटवारे के दिनों में तो लोगों का जमघट लगा ही रहता था। बाहर से अखबार आने बंद हो गए थे। 'रणवीर' का बड़ा क़ातिब यकीन अली मिस्कीन फ़ैसलाबाद भाग गया। तब वेद राही, जो तेरह-चौदह बरस के ही थे, बड़े काम के साबित हुए। क़ातिबों के पास लिखना सीखना इनका शगल था। और इस मौके छह महीने तक इन्हीं के हाथ का लिखा अखबार छपता रहा। तब वेद जी कहने लगे—हरकारे अखबार बेचकर झोलियों में भरकर छुट्टे पैसे लाते थे। इनकी माँ एक बड़े संदूक में वो पैसे रखा करतीं। ज्यों ही कोई बेटा पैसे माँगता, मुट्ठी-भर दे देतीं। इसके अलावा जगह-जगह छीकों पर भी छुट्टे पैसों की पोटलियाँ लटकती रहतीं। उन दिनों अखबार बहुत बिकता था। कातिबों के अलावा और कितने ही लोग पाकिस्तान भाग गए। मैं तभी से कोशिश कर रहा था कि पाकिस्तान जाकर अपने अखबार के बिछड़े परिवारों से मिलूँ। पत्रकारिता के सिलसिले में आप रूस, चीन, कोरिया, फिनलैंड वगैरा गए, सिर्फ वहीं न जा सके जहाँ कितने ही वो साथी थे जिन्होंने रियासत का पहला अखबार निकालने के लिए सराफ़ साहब के हाथ मजबूत किए थे। उन्होंने कहा—मैं उन सबको मिलना चाहता था। सियालकोट की वो गलियाँ देखना चाहता था जहाँ से

हर हफ्ते मैं अपने अखबार के लिए कागज लाता था। वहाँ जाकर वो गिरिजाघर देखना चाहता था जिसका क्रास जम्मू में राजा के महल की ऊँची छत से दिखाई देता है। और उन लोगों के चेहरे फिर से देखना चाहता था जो कभी मेरे परिवार के सदस्य थे। आखिर इस बरस पाकिस्तान जाने की इजाजत मिल ही गई। और अपनी कोशिशों के बाद मैंने पाया कि अमृतसर से लाहौर जानेवाली ट्रेन पर मैं अकेला गाँधी टोपी में लैस भारतीय बैठा हुआ था। काफी देर तक टिकट-चेकर मुझे घूर-घूरकर देखता रहा। वो पाकिस्तान का रोज़ाना अखबार 'मशरिक' पढ़ रहा था। थोड़ी देर बाद मेरे पास आ बैठा। कश्मीर का जिक्र शुरू हुआ। उसने कहा—भारत व पाकिस्तान में आना-जाना शुरू होने से पहले दिलोदिमाग का रास्ता खुलना निहायत ज़रूरी है। सारा रास्ता इसी विषय पर बातचीत होती रही। ट्रेन रुकी तो वो मेरे लाख मना करने पर भी सारा सामान उठाकर स्टेशन-मास्टर के कमरे में छोड़ आया। और मेरे मेज़बान जब काफी देर तक फ़ोन पर न मिले तो स्टेशन-मास्टर ने मुझे अपने कमरे में बिठाकर उनका इंतज़ार करने को कहा। उसे क्या मालूम था, बँटवारे से पहले मैं यहाँ वैसे ही आया करता था जैस जम्मू से सांबा जाया करता था। जिस स्टेशन पर रात के दो बजे मैं तन्हा खड़ा था कभी वो मेरे घर से कम न था। वहाँ मैं ऐसे ही आकर खड़ा होता था जैसे मनुष्य अपने गाँव की चौपाल पर जाकर खड़ा होता है।

सराफ़ साहब फिर भावुक होकर कहने लगे—लेकिन लाहौर में अपने मेज़बान के घर, जहाँ मैं पंद्रह दिन रहा, मुझे कभी ये अहसास नहीं हुआ कि मैं अपने किसी बेटे के घर में नहीं रुका हुआ हूँ। उनकी बीवी मुझे पिता जी-पिता जी कहती। उसकी बेटियाँ हर वक्त मेरी जरूरतों का खयाल रखतीं। वहाँ वेद राही को लोग फिल्मी लेखक के नाते से जानते हैं। अमृतसर से वहाँ लोगों ने टी.वी. पर 'पवित्तर पापी' फिल्म देखी थी। उनकी लड़की ने पूछा—वेद भैया की लड़कियाँ कितनी बड़ी हैं। मैंने कहा—तुम्हारी हमउम्र होंगी। वो ये सुनकर झट-से अंदर गई और एक खूबसूरत तोहफ़ा मेरी पोती के लिए ले आई। मैंने कहा, तुम तो उसे जानती भी नहीं हो फिर इतना कीमती तोहफ़ा क्यों भेज रही हो। उसने ये कहकर मुझे निरुत्तर कर दिया कि वो भी आपकी पोती है, मैं भी आपकी पोती हूँ; इससे बढ़कर और क्या जानकारी हो सकती है। इसके बाद वो भारत में अपनी उम्र के बच्चों के बारे में पूछती रही। सराफ़ साहब कहने

लगे—आज के बच्चे भिन्न-भिन्न धर्मों, रीति-रिवाजों व हैसियतों के पीछे नहीं भागते। उनका धर्म है, मुहब्बत और इन्सानियत। और ये बड़ी अच्छी बात है। एक-दूसरे से मीलों दूर रहनेवाले ये बच्चे आज एक ही तरह से सोचते हैं। एक-दूसरे को ख़त लिखते हैं और एक-दूसरे से मिलने की ख्वाहिश रखते हैं।···पाकिस्तान में एक दिन भी ये न लगा कि मैं गैर मुल्क में हूँ। वहाँ सभी तो अपने थे।

फिर आप फ़ैसलाबाद में अपने क़ातिब से भी मिलने गए। उसके बाद सियालकोट भी गए। वहाँ पर एक शख़्स ने इनकी पीठ देखकर ही इन्हें पहचान लिया और सड़क पर ही बगलगीर हो गया। सियालकोट में ये एक बीमार दोस्त को देखने पहुँचे। उसने कितनों महीनों के बाद चारपाई पर बैठकर कहा—आपके सियालकोट आने से मेरी ही नहीं हम सबकी सेहत बेहतर हो गई है। वहाँ जो भी मिलता, यूँ लगता जैसे एक ही नदी की धारा थोड़ी दूर मुड़कर फिर नदी में आ मिली हो।

लाहौर में जम्मू के लोगों की एक मीटिंग हर हफ्ते होती है। इस बार की मीटिंग सराफ़ साहब के आने की ख़ुशी में थोड़े दिन जल्दी रखी गई। उसमें सियालकोट तक से लोग आए। वहाँ डोगरी बोलने का मुकाबिला हुआ। एक शख़्स ने सराफ़ साहब का डोगरा दोहरा पायजामा चूमकर कहा—हमने बत्तीस बरस बाद ये पोशाक देखी है। इस मीटिंग में वहाँ के डोगरे-डोगरी अदब के बारे में बातचीत करते रहे। सराफ़ साहब ने कहा—पाकिस्तान में मार्शल लॉ होते हुए भी मुझे कहीं कोई फौजी न दिखाई दिया। लोग राजनीतिक शोर-शराबे से दूर अपने रोजमर्रा के कामों में उलझे हुए थे। महँगाई वहाँ बहुत ज्यादा थी। पायजामा इस्तरी करने के मुझसे पाँच रुपए ले गया।

लाहौर के कई अखबारों में सराफ़ साहब के बारे में छपा। जान-पहचानवालों का ताँता लग गया। बरसों बाद वही जाने-पहचाने चेहरे बरसों की धूल चेहरों में छुपाए पास आकर बैठ गए। तब एक पल के लिए भी ये न लगा कि हम कभी बिछड़े भी थे।

सराफ़ साहब की पत्नी का पिछले ही बरस हृदयरोग से स्वर्गवास हो गया। वो सराफ़ साहब की पत्नी कम, दोस्त ज्यादा थीं। कहने लगे—मेरी ख्वाहिश थी, उन्हें भी साथ लेकर पाकिस्तान जाता। और अगर वो साथ न भी जातीं तो भी मेरे मेज़बानों के घर उनके लिखवाए हुए पत्र पहुँच जाते। जहाँ मैं अकेला

ज़ाता था वहीं वो किसी से हिदायतों से भरा पत्र लिखवाकर डाल देती थीं। इतने बजे ये देना, सुबह उठते ही दूध में बादाम, खसखस, चार मगज़। ...दोपहर को ये, शाम को वो ! अक्सर बादाम वो मेरे सामान में ही बाँध देती थी। सारी उम्र मटन खाने के लिए मना करती रहीं। मैंने न छोड़ा। उनकी मृत्यु के बाद न खाया गया। पाकिस्तान में सब्जियाँ सिर्फ मेरे लिए पकती रहीं। वहाँ लोग ज्यादा मटन ही खाते हैं। 85 साल तक मटन ही खाया। उनकी मृत्यु के बाद उनका मुसलसल इसरार याद आया तो फिर खाया ही न गया। जो लोग सामने रहते हैं, उनकी बात तो टाली जा सकती है, पर मरनेवाले की बात कैसे टालें। क्योंकर टालें।

संतूर के भगीरथ

रियासतें मिट गईं, राजा-महाराजा आम इंसान की तरह हो गए, अहलकार मुरझा गए, जी-हजूरिए बगलें झाँकने लगे, पर रियासतों की याद दिलानेवाली राजमहलों की ऊँची अट्टालिकाएँ अब तक सिर ऊँचा उठाकर खड़ी हैं। आज भी उस कूचे में से गुजरनेवाले को बहुत ऊँची गर्दन उठाकर राजमहलों की तरफ देखना पड़ता है, और राजमहलों की भव्यता और ऊँचाई को देखकर दंग रह जाना पड़ता है। इन राजमहलों के भीतर कितनी ही कहानियाँ पनपीं, जवान हुईं और कुचल दी गईं। कदमों से कुचली हुई कितनी ही कहानियाँ आज दूब की तरह धीरे-धीरे सिर उठा रही हैं। इन कहानियों को जानने की उत्सुकता हर किसी में बनी रहती है।ये कहानियाँ हम सबका अतीत हैं।

जम्मू के डोगरे राजाओं के पुराने महल ढह रहे हैं। धीरे-धीरे, अहिस्ता-अहिस्ता जैसे रात के सन्नाटे में फूलों की पत्तियाँ झरती हैं, एक-एक ईंट गिरती है, मौलश्री की कलियाँ चटकती हैं। बरसात झूमकर निकलती है, एक द्वार ढह जाता है। इन द्वारों पर दस्तक देते हाथ मानो शून्य में अचल हो जाते हैं। जैसे द्वार और हाथ का आपस में संबंध है, वैसे ही मनुष्य और शहर का संबंध है। ये संबंध युगों से चला आ रहा है, अटल है, चिरंतन है, पहाड़ों की तरह दृढ़ है।

आजादी के पहले जब राजा की इस मंडी में सुबह-सवेरे शहनाई पर भैरवी बजती थी, तो रात को बाग में सोया पत्ता-पत्ता, बूटा-बूटा हवा की हल्की-हल्की थपकी से अलसाहट छोड़कर उठ खड़ा होता था, डग्गे पर पड़ती हल्की थाप से फूल काँप-काँप जाते थे। सुबह की ताज़ा हवा तवी के पानी से सुवासित छिड़काव से सोंधी हो उठती थी। भजन गाती औरतें तवी से नहाकर

लौटतीं, तो उसकी मस्त चाल से होड़ लगाती हवा भी मस्तानी हो उठती।

मंदिरों में इस शहर की घंटियों की आवाज से सूरज भी आकर मुस्तैदी से पहरे पर खड़ा हो जाता था। उन दिनों मंडी के विशाल पांगण में नंगे सिर कोई न जा सकता था। छोटे-छोटे बच्चे मंडी में खेलने जाते तो टोपी भूल जाने पर पीठ की तरफ से कुर्ता सिर पर उठाए, दोनों हाथों से पकड़े सिर झुकाए निकल जाते.। संतरी की आँख से कोई न बच सकता था। बच्चों के लिए आकर्षण का केंद्र राजतिलक मंच के आसपास का बाग था। यहाँ बच्चे मौलश्री, चंपा, मोतिया के झुरमुटों में लुका-छिपी खेलते रहते। इस मंच पर शायद आजकल गाँधी बाबा का बुत है। बच्चे आज भी वहाँ खेलते हैं, पर उन्हें सिर नहीं ढँकना पड़ता।

जब की बात हो रही है, तब महाराजा प्रतापसिंह जी का ज़माना था। उनके भाई राजा रामसिंह जी के राजपंडित थे—तब के तांत्रिक विद्वान्, ज्ञानी पंडित संतराम जी। उनके इकलौते पुत्र उमादत्त जी बड़े मेधावी थे, पर उन्हें तांत्रिक विद्या में कोई यकीन न था। एक दिन अपने पुत्र का भ्रम तोड़ने के लिए राजपंडित उन्हें अपने महलनुमा घर के पिछले आँगन में ले गए। वहाँ पर कोई न था। राजपंडित ने मंत्र पढ़कर फूँक मारी, तो दस-पंद्रह फुट का एक आदमी हाथों में जंजीर लटकाए आँगन के बीचोबीच खडा हो गया। राजपंडित ने अपने सहमे हुए पत्र स पूछा—तुम्हें तंत्रविद्या में विश्वास हुआ?

पुत्र की घिग्घी बँधी हुई थी। बड़ी मुश्किल से बोले—जी हाँ, पिता ज़ी! बस उमादत्त जी ने तंत्रविद्या सीखनी शुरू कर दी। पिता की इच्छा थी, वह मंत्रसिद्धि कर ले। पुत्र सिद्धि तो करते, पर उस्ताद बड़े गुलामअली खाँ की सधी हुई सुरीली तान परेशान करती रहती। महाराजा प्रतापसिंह जी के जमाने से ही राज दरबार में भारत-भर से प्रसिद्ध संगीतज्ञ आते थे। उन्हीं दिनों बड़े गुलामअली खाँ साहब के वालिद अलीबख्श दरबार में मुलाज़िम थे। ये लोग भी पंजतीर्थी में ही रहते थे। अलीबख्श की शिष्या मलिका पुखराज पहाड़ों से छनकर ढलती शाम के मदहोश माहौल में अपनी दानेदार आवाज के सुरों से कयामत ढा रही थीं। महाराजा हरिसिंह के गद्दी पर बैठते ही वह दरबार में गायिका हो गई थीं।

गाने की महफिलों में उमादत्त जी को विशेष उत्साह रहता। पिता का दरबार में आना-जाना लगा ही रहता था। मंदिर में भी उमादत्त संग रहते,

दरबार में भी। पंडिताई व तंत्रविद्या सीखते-सीखते उमादत्त जी संगीत की लहरों में डूबने-उतराने लगे। चोरी-छिपे सुरों को साधते। पर इतने बड़े पंडित का बेटा सिर्फ गायक ही बनना चाहे तो कोई मानेगा? माँ बड़ी दबंग थीं। उन्होंने पुत्र की बेचैनी देखी तो चिरपुरातन नुस्खा आज़माना चाहा। एक छोटी उम्र की दिव्य सुंदरी कन्या ढूँढ़कर पुत्र की सगाई कर दी। कन्या के परिवार में किसी की मृत्यु हुई थी। वे लोग साल-भर शादी न करना चाहते थे, पर दूल्हे के पिता राजपंडित ने एक दिन घोषणा कर दी—मैं फलाँ रोज मर रहा हूँ। उसके पहले पुत्रवधू का मुख देखना चाहता हूँ। सो बालिका-वधू घर आ गई और ससुर अपने घोषित दिवस पर स्वर्गवासी हुए।

जिन दिनों उनका स्वर्गवास हुआ, वे पंडित उमादत्त जी को तंत्रविद्या पर कोई किताब पढ़ा रहे थे, जो अभी अधूरी ही पढ़ी गई थी। कहते हैं, रोज रात को ख़्वाब में आकर वे पंडित जी को पूरी किताब पढ़ा गए। जब बीमार थे, तो स्वयं राजा रामसिंह उन्हें देखने आया करते थे। बड़ा दबदबा था। राजपंडित होने पर भी कभी कोई जागीर नहीं बनाई, कोई जमीन नहीं ली। पंडिताइन इतनी दानी थी कि गाना गानेवाली औरतें आतीं तो उन्हें राजदरबार से मिले तूश के शाल इनाम में दे देतीं।

पिता की मृत्यु के बाद पंडित जी को आर्थिक कठिनाई तो क्या आती, मंदिर तो था ही, उसकी तनख्वाह भी बँधी हुई थी। पूजा कोई और करता था। काफी समय बचा रहता। कभी गाने-बजानेवाले आ रहे हैं, कभी ज्योतिषी, तो कभी तांत्रिक। पहलवानों के लिए भी दरवाजे खुले थे। पंडित जी सबकी संगति में हरफन मौला हो गए। घर के पास ही अखाड़ा था। रोज कसरत होती। घुड़सवारी करते, अखनूर में जाकर चिनाब दरिया पार करना उनका विशेष शगल था।

पहलवानी में एक बार एक पहलवान की कलाई ही तोड़कर रख दी थी। इसके अलावा आयुर्वेद की किताबें पढ़ने का भी शौक था। मैट्रिक तो किया ही था। संस्कृत, फारसी अंग्रेजी, अरबी, उर्दू का ज्ञान भी हासिल किया। ये सब शौक तो असली न थे, असली शौक तो गाने का ही था। उन दिनों कुदऊसिंह पखावजिए के शिष्य सरदार हरनामसिंह अपने जमाने के नामी तबलानवाज थे। पंडित जी ने उनसे तबला सीखना शुरू किया। नई-नई शादी हुई थी, पर बालिका-वधू, सुरों के ध्यान में मग्न अपने दूल्हे को पकड़ न पाई, लिहाज़ा दूल्हा

काशी भाग गया।

घर में तो ये कहकर गए कि पढ़ने जा रहे हैं, पर वहाँ पर गाना सीखने लगे। पंडित बड़े रामदास जी का बड़ा नाम था। उन्हीं से सीखना शुरू किया। शुरू में तो रामदास जी ने कोई ध्यान न दिया। पर एक बार बनारस में एक महफिल हुई, जिसमें बड़े रामदास जी का प्रोग्राम था। संयोगवश उस दिन उनके तबलिया कंठे महाराज किसी वजह से न आ पाए। रामदास जी ने पंचम सवारी ताल में बंदिश शुरू की। तबलावादक ठेका न लगा सका। उन्होंने कहा—इजाजत हो, तो मैं कोशिश करूँ? तबला बजाया, तो बड़े रामदास प्रसन्न हो गए और गाना सिखाना शुरू कर दिया। अब तो गुरु भी मिल गया। सुरों का विस्तृत ज्ञान धीरे-धीरे बूँद-बूँद बनकर कानों में ढलने लगा। दुनिया से बेखबर पंडित उमादत्त लय की गंगा में डूबते गए। गाना ही मुख्य हो गया। नाम भी हुआ, पर जम्मू का मोह पूरी तरह कभी न छूटा। बाहर प्रोग्राम में जाते थे। लाहौर रेडियो से भी प्रोग्राम होता था।

वो जमाना आशिक अली खाँ, पटियाला घराना के पंडित जी दलीपचंद बेदी, बड़े गुलामअली खाँ आदि का था।

पंजतीर्थी मुहल्ले के रामसिंह के अहाते में बचपन के दिनों में पंडित उमादत्त जी और बड़े गुलामअली खाँ कबड्डी खेल चुके थे। पर बड़े होने पर कुछ भी याद न था। एक दिन लाहौर रेडियो पर पंडित जी गा रहे थे। उनके बाद बड़े गुलामअली खाँ का गायन था। खाँ साहब रेडियो के स्टूडियो में से पंडित जी को गाते हुए देख रहे थे। जब पंडित जी का गाना खत्म हुआ, तो खाँ साहब ने आकर पूछा—कहाँ के रहनेवाले हैं आप, ऐसा गाना कहाँ से सीखा? पंडित जी ने कहा—जम्मू का हूँ। एकदम दोनों को बचपन याद आ गया और गले लग गए।

जम्मू में आकर पंडित जी ने भावड़ा बाजार में एक संगीत का स्कूल खोला। माँ की दरियादिली की वजह से पुराना पुश्तैनी राजमहल-सा घर बिक चुका था। पास में जो गऊ घर था वो भी काफी बड़ा था। ये लोग वहीं आकर रहने लगे। पिता की मृत्यु और पुत्र की उदासीनता। मंदिर का काम चचेरे भाई देखते थे। पिता की मृत्यु के बाद जो आज़ादी मिली, तो सारी दिलचस्पी संगीत पर ही केंद्रित कर दी गई। तभी कई बच्चों के पैदा होते ही मर जाने के बाद पंडित जी के घर कन्यारत्न का जन्म हुआ। घर-भर में खुशी छा गई। फिर कई बरस शिव की आराधना की, तो पुत्री के नौ बरस बाद शिव पैदा हुए। माँ का

नैननक्श, पिता का संतुलित व्यक्तित्व।

कितना कठिन हो जाता है एक ऐसे मनुष्य के बारे में बताना, जिसे आपने बचपन से देखा हो। जम्मू के पंजतीर्थी मुहल्ले में, जहाँ शिव जी का घर है, उसके सामने ही मेरी बुआ जी का घर है। बचपन में मैं वहीं पली हूँ। हमारा घर भी ज़रा-सा ही दूर था। बस एक मोड़ मुड़ते ही। वहीं दरबारगढ़ की उस सड़क पर दूसरे लड़कों के साथ पूरी सड़कें घेरे शिव जी को बचपन से ही देखती आई हूँ। सारी-सारी रात जब वे तबले पर रियाज़ करते थे, तब अपनी बुआ जी को ये कहते सुना है—देखो काशी के पंडितों का बेटा! कितने प्रकांड पंडित थे इनके दादा और एक ये हैं कि सारी-सारी रात ढोल बजाता रहता है! ये कहते-कहते कलयुग का प्रभाव देख बुआ जी की आँखें छलकने लगती थीं। पर आज जब शिव जी की इतनी महिमा है, तो बुआ जी की आँखों में खुशी के आँसू छलकते हैं।

हमवतनी से बड़ा कोई रिश्ता नहीं होता। शिव जी से मेरा यही नाता है। उनकी माँजी को मैं मासी जी कहती थी। बचपन में सड़क पर खेलते हुए कितनी ही बार उन्हें अपने दरवाजे पर खड़े-खड़े मुस्कुराते हुए देखा है। पुत्र की स्तुति से उनका मन कभी न भरता था। जब भी कभी किसी छोटे-मोटे काम से बुलातीं, किसी-न-किसी से शिव जी का जिक्र कर रही होतीं। हमारी दरबारगढ़ की खूबसूरत सड़क दोस्तों के संग जाते शिव जी के घुँघराले बालों से भर जाती थी, उस सड़क पर कितनी ही बार पंडित उमादत्त जी को गर्व से सिर ऊँचा किए चलते देखा है। जब मैं कालेज में नई-नई दाखिल हुई थी, तब भी कालेज के लड़कों के समूह में घिरे शिव जी की मुझे भली प्रकार याद है। और याद है वो रात, जब अर्द्धालिका का व्रत होता था। मेरी बुआ जी के बड़े-से आँगन में सुंदर स्त्रियाँ व्रत कर रही थीं। अपने कमरे में ऊँघते हुए सोने की चेष्टा करते-करते, स्त्रियों के समवेत स्वरों में धीरे-धीरे भजन सुने हैं। औरतें भजन उतनी ही आहिस्ता गातीं, जितना आहिस्ता बाग में इकट्ठे हुए दरख्तों के पत्ते तेज पुरवाई से घिसटते हैं। मैंने अपनी नींद की खुमारी-भरी आँखों से ताका है—गौरी के स्नान के लिए कच्चा दूध चाँदी की बड़ी-सी थाली में हिल रहा है। उसमें दिए की लौ भी मचल रही है। गौरी भी गोबर की है। उसका मुँह-नाक सब है। माथे में सिंदूर, लाल ओढ़नी, नाक में शायद नथ-सी। पल-भर को लगता है, उसने आँख झपकी है। डोगरों की सुंदर स्त्रियाँ गोटे-किनारी से टँके

भारी दुपट्टे ओढ़े गौरी से पति की लंबी उम्र की दुआ कर रही हैं। चार बार कच्चे दूध में नहाई गौरी चमक रही है। दिए की बत्ती उकसाता कोई सुंदर शिथिल हाथ पलभर के माहौल को हिला गया है।

दूध की कच्ची महक में घुलकर सुबह हो रही है। धुँधलके से पंडित उमादत्त जी की पत्नी अपने कर्मोवाले बड़े ऊँचे ललाट पर लाल सिंदूर की बड़ी-सी बिंदी लगाए हमेशा की तरह मुस्करा रही हैं। उनका मुँह ढलते सूरज की तरह लाल सुर्ख होकर चमक रहा है। अखरोट की दातुन से लाल सुर्ख होंठ अब उन्नाबी हो चले हैं। उनके ज़रा-सा दाएँ-बाएँ देखते ही उनके माथे के साथ उनकी बिंदी भी चमकती है। मुझे याद है, डर के मारे मैंने आँखें मींच ली हैं, नहीं तो अभी बुआ जी कह उठेंगी—चलो उठो, नहाकर भजन गाओ। इतनी खूबसूरत सुबह इस उम्र में नहाने के लिए नहीं होती।

कितने ही अंतराल के बाद एक और रात मुझे याद आ रही है। बंबई की खूबसूरत मरीन ड्राइव पर बने विशाल भवनों के आगे फैला समंदर—शाम ढले ही पहली ऊँघ में बेखबर, किनारे पर सिर फोड़-फोड़कर कुछ कहती लहरों से अनजान। इनकी गुहार कोई भी तो नहीं सुनता। यहाँ तक कि सामने के भवनों में रहते लोग भी जान नहीं पाते कि ये क्या कहती हैं।

इन्हीं में से एक भवन की विशाल छत पर आज शाम छिड़काव हुआ है। एक मंच बना है। चँदोवा ताना गया है। दरियाँ बिछ गई हैं। स्टेज सज रहा है। चाँदनी के ऊपर गाव-तकिए शहर के बड़े बुजुर्गों की तरह बैठ गए हैं। माइक फिट है। संगीत-पारखी धीरे-धीरे आकर बैठ रहे हैं। पं. शिवकुमार शर्मा संतूर पर झुके हुए उसे सुर में कर रहे हैं। इधर-उधर टाप-टूपकर जाकिर हुसैन भी तबले पर पाउडर की तह जमा रहे हैं। टन-टुन-टुन बड़ा मोहक स्वर है संतूर का। धरती और आकाश की निस्तब्धता में हर तार झंकृत हो के फैल रहा है। मैंने आँखें बंद की हैं। मीठा-मीठा स्वर कानों में मिश्री की डली की तरह घुलता जा रहा है। पल-भर को यों लगा है, जैसे इस खूबसूरत लम्हें में धीरे-धीरे चलता हुआ कोई मेरे करीब आकर खड़ा हो गया है।

ये कैसा अहसास है कि जब भी आप कोई सुंदर दृश्य देखें, कुछ मोहक सुनें तो कोई आपके पास धीरे-से आके आपकी एकाग्रता भंग कर जाता है। ये अतीत कौन होता है, पता नहीं। माहौल में संतूर का स्वर बारिश की हल्की ठंडी बूँदों की तरह गिर रहा है। इसी आवाज में से कई आवाजें उठकर रूह को

आकाश के झूलने में डाल गई हैं। हल्की, फूल-सी हल्की रूह को जैसे संतूर के स्वर थपकियाँ देकर सुलाते हैं। आकाश में झूलती रूह आँखें बंद किए और हल्की हो उठी है। धीरे-धीरे सभी सरूर में झूमने लगते हैं। कोई राग है, जो आपके होने के अहसास को बिखेर गया है। आप संगीत की टन्न-से छूटती फूलझड़ी की एक चिनगारी हो गए हैं। ...तभी सबकी मिली-जुली आवाजों में संतूर की आवाज गुम हो गई है। छत पर से अचानक बिजली चली गई है। अँधेरे को कम करती तारों की लौ के सहारे मैं अपनी सोई बेटी को उठाकर सीढ़ियाँ उतर आई हूँ। संगीत का ऐसा आनंद शायद मैंने पहले कभी नहीं महसूसा। ये अहसास हमवतनी और अपनेपन में पगा हुआ है। संगीत के जादू का भी अहसास है और इस बात का भी कि इतनी भीड़ में शिव जी को सबसे पुरानी जाननेवाली सिर्फ मैं हूँ। ये अहसास मुझे एक बार पेरिस की उस शाम में भी हुआ था, जब मैंने सड़क पर जाते दीवारों पर लगे हुए शिवकुमार जी के प्रोग्राम के पोस्टर देखे थे। जम्मू में कभी शिव जी से बात की हो, याद नहीं पड़ता। तब उन दिनों ऐसा रिवाज भी न था। जब उनकी माता जी बंबई आई थीं, तो मैं उनसे मिलने गई थी। उन्होंने बड़े अधिकार से अपनी बहू को कहा था, इसे घर पर बुलाती रहना, इतनी दूर अपना और कौन है? आँखें छलछला गई थीं और मैंने भी बड़ी मुश्किल से अपनी रुलाई रोकी थी। इस कहने में हमारी पूरी संस्कृति और मान्यताएँ थीं, जो आज धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं।

इसी अपनेपन की नींव पर मैंने शिव जी से बात शुरू की। एक शहर के दो लोग जब मिलते हैं, तो पहले शहर की बातें होती हैं। शहर से जुड़े लोग, शहर में घटी वारदातें, गलियाँ, कूचे-बाजार–यही सब बातचीत का विषय रहते हैं। वही विषय, जो आपको हिला जाते हैं। आपका अतीत सामने आकर बोलने लगता है। मंदिरों के इस शहर जम्मू की कई दास्ताने हैं। शिव जी भी अतीत में घुलमिल गए हैं। बरसों पहले चली पुरवाई ने कमरे के माहौल के बाहर एक लक्ष्मण-रेखा खींच दी है, जिसके भीतर 1947 के आसपास का जम्मू सिमट आया है। सियालकोट के आसपास उठते आग के शोले हैं। लपटों का धुआँ सारे शहर पर दहशत फैला रहा है। तोपों, गोलियों और उड़ते जहाज़ों का शोर। सबसे रहस्यमय बात शिव जी बताते हैं नूर इलाही की–

पंडित जी का शागिर्द था। पंडित जी ने उसे छिपाकर रखा था। फिर

ज़रा-सी शांति होते ही सुरक्षित पाकिस्तान भिजवा दिया था। कई दिन उसे विद्यालय में रखा था, फिर एक शाम घर ले आए थे। पिता जी उसे बड़ा प्यार करते थे। वो भी बड़ा ही अच्छा आदमी था। उन दिनों के खटके, खौफनाक आवाज़ें और दहशत आज भी दिमाग के एक कोने में बैठी हुई हैं।...

...बहुत छोटेपन की एक और बात याद है—नर्चितसिंह की लड़कियाँ और बहन जी छत पर तंदूर की रोटियाँ लगाती थीं। उनकी सोंधी मीठी सुगंधि पूरी छत पर फैल जाती थी। बड़ी मोहक खुशबू होती, साँस में भर लेने पर रूह तृप्त हो जाती। मैं अकेला बच्चा था। बहन जी तो मुझसे 9 साल बड़ी थीं। अकेले ही रहने की आदत हो गई थी। सड़क पर गुल्ली-डंडा या संतोलिया खेलता रहता था। टायर को एक डंडे से दौड़ाते रहना भी बड़ा रोमांचित करता था।

शिव जी को धीरे-धीरे बचपन की घटनाएँ याद आ रही थीं। कहने लगे—एक बार मैं सड़क पर खेल रहा था। एक बच्चे ने मुझे मारा। वहीं एक ड्राइवर देख रहा था, वो हमें छुड़ाने चला आया। मुझे वो चुप करा रहा था तो संयोग से पंडित जी उधर आ निकले। उन्होंने मुझे रोते देखा तो झट ड्राइवर को एक चाँटा लगा दिया। वो दूर जाकर गिरा। तब तक मैंने बता दिया कि ये हमें बचाने आया था। पंडित जी ने उसे उठाकर प्यार किया और एक रुपया देकर कहा, जाओ दूध पी लो। पिता जी मुझे बेहद प्यार करते थे। पर मुझे उनसे बड़ा डर लगता था। कभी नजर मिलाकर बात नहीं कर सकता था। वे बिठाकर प्यार से अपनी थाली में खाना खिलाते थे, पर डर बना ही रहता। सड़क पर उन्होंने रामदासी की दुकान तक जाने की इजाजत दी थी। अगर कभी वहाँ खड़ा होता और दूर से पंडित जी आते दिखाई देते तो भाग जाता।

फिर रामदासी की दुकान की बातें होने लगीं—

सड़क के मोड़ पर पीपल के नीचे उसकी दुकान थी। महाखुश्क रामदासी अब भी वहीं बैठता है। दुकान भी वैसी ही है और रामदासी में भी कोई फर्क नहीं आया। सिर्फ उसके बाल सफ़ेद हो गए हैं। पर साहब उसके हाथ में अमृत है। गर्मियों में उसके जैसी अमरूद और खीरे की चाट कोई नहीं बना सकता। दोपहर को खाना खाने के लिए हर कोई उसके खीरे लेकर ही घर जाता है। बचपन में सिर पर तौलिया रखे जेठ-आषाढ़ की गर्मी में 'पहले मुझे' कहनेवाले ने उसकी डाँट जरूर खाई है। पैसे देकर सामान खरीदने पर भी रामदासी की डाँट खानी ही पड़ती है। ये उस मुहल्ले में बड़ा हुआ हर शख्स जानता है।

फिर हरिसिंह हाईस्कूल की बातें, जुलाहका मुहल्ला के स्कूल की बातें। ये स्कूल पहाड़ी पर है। वहाँ बैठकर कितनी बार तवी को बहते हुए देखा है। पहाड़ों के बीचों-बीच बड़ी नजाकत से बहती है तवी।

शिव जी बता रहे थे—तवी का पाट जम्मू शहर के पास बड़ा चौड़ा है। वहाँ अक्सर बीच में सूखी जमीन रहती है। वहाँ धुले हुए वृक्ष पुराने पहरेदार की तरह बैठे हुए लगते हैं। पानी के ताल पर सूरज की चमकती किरणें खूब याद हैं। दूर से उन्हें सिर्फ देखा जा सकता है। उनकी झिलमिलाहट में भी जरूर संगीत रहता होगा। संगीत में आज तक वो दृश्य मुझे प्रभावित करता है। संतूर की दोनों कलमों को हाथ में लेकर कितनी बार मैं उन किरणों में गुम हो जाता हूँ। स्कूल में खूब ऊँचाई पर जमादारों का कमरा था। वहाँ जाकर चुपचाप अकेले में यह दृश्य देखना खूब भला लगता था। तब मैं छठी या सातवीं क्लास में था। वहाँ से तवी मीलों दूर तक दिखाई देती थी। सर्दियों में वैष्णों माता के तीनों किंगरों (चोटियों) पर बर्फ जम जाती थी। ये चोटियाँ हमारी छत से भी दिखाई देती थीं। यों लगता था, जैसे तीन प्रकांड पंडित सिर जोड़े श्लोक पढ़ रहे हों। हमारी छत से बसोहली के पहाड़ भी नजर आते हैं। बहुत देर देखते रहने से लगता था, पहाड़ करीब आते जा रहे हैं। प्रकृति से मुझे बचपन से ही लगाव रहा है। प्रकृति से दोस्ती का सिलसिला अब भी चल ही रहा है।

और संगीत की दोस्ती? मैंने पूछा।

शिव बोले—एक साल की उम्र में जब मैं चारपाई पकड़कर खड़ा होता था, पिता जी 'स' बुलवाते थे। मैं वैसे ही 'स' लगा देता। माता जी बताती थीं, चारपाई के चारों तरफ हँसते-हँसते चक्कर लगाते हुए सsssबोला करता। 6 साल की उम्र से तो मुझे सभी कुछ याद है। पिता जी सरगम, पलटे, ताने सब सिखाते थे। 9 बरस का हुआ तो विद्यालय में भी ले जाने लगे।

मैंने पूछा—हमारा लोकसंगीत इतना समृद्ध है, छुटपन में उसने भी तो मुतासिर किया होगा?

कहने लगे—बचपन में कई लोगों से अपने विलक्षण लोकगीत सुने हैं। माता जी भी काम निपटाकर धीरे-धीरे गातीं। इन गीतों में दर्द रहता, करुणा रहती और एक ऐसा भाव रहता, जो हर एक की जिंदगी के साथ कहीं-न-कहीं से जुड़ा होता। उन दिनों महीनों का नाम सुनाने भी लोकगायक ही आते थे। उनके मुँह से नए महीने का नाम सुनना शुभ माना जाता था। वे ढोल लेकर

आते, खपचियों से उसे बजाते। एक आदमी गाने की पूरी तर्ज में डूबा रहता। एक आदमी सिर्फ 'स' देता और बाकी मंडली कानों पर हाथ रखकर उसमें डूबते-उतराते हुए गीत आगे ले जाती। उन्हें सुनने में बड़ा मजा आता था। इनकी धुनें बड़ी हॉटिंग होती हैं। पश्चिम में भी कहीं-कहीं इस विद्या का प्रचलन है। अफ्रीका में भी हमने लोगों को इस तरह गाते हुए सुना। मेरे साथ हरिप्रसाद चौरसिया भी थे। हम दोनों दंग रह गए?...

...गर्मियों में हम छत पर सोते थे, तो तवी दरिया के पार पहाड़ों से गूजरों के गाने की आवाज़ें आती थीं। ऐसी हारमोनाइजेशन मैंने कहीं नहीं देखी। ये गूजर रोज सवेरे सारे शहर को दूध सप्लाई करते और रात को मन बहलाने के लिए भाक्खाँ गाते। संगीत सच में सुख देता है, अनिवर्चनीय सुख।...

...हमारी गली साफ करने जो आता था, उसका नाम था बूटी। हमारे घर के भीतर गाना-बजाना होता तो वो बाहर बैठा-बैठा घंटों सुनता रहता। माता जी उसे रोज खाना भी देती थीं। वो हमारे घर का नियमित श्रोता था। उन दिनों शादी-ब्याह में भी महीना-महीना पहले से सुहाग या घोड़ियाँ गाई जातीं। लोकगीत गाने का भी खूब रिवाज था। औरतें सारी-सारी रात भाक्खाँ गाकर निकाल देतीं! समा बँध जाता। अब तो ये गीत सिर्फ रेडियो तक ही महदूद हैं। वैसे भी, फिल्मी गीतों ने लोगों की रुचि काफी खराब कर दी है।

दोस्तों के बारे में पूछा तो कहने लगे—हम संगीत सीखते थे। आम लोग उसे कुछ खास न समझते थे। कोई-कोई हमारा मजाक भी उड़ाते थे। उसमें कहीं ये भी था कि बुज़ुर्ग तो राजपंडित रहे और हम गाने-बजानेवाले हो गए। गाने-बजानेवालों का आम लोगों में सम्मान तो अब हुआ है।

मुझे याद आया, पंडित उमादत्त जी गायक होने के बावजूद पंडित ही लगते थे। केसरी पाग, काली अचकन, दोहरा सफेद पायजामा। सड़क पर चलते, तो गुट्टे के फूल महकते थे। भारी-भरकम व्यक्तित्व था उनका। उनके मित्र अधिक न थे। शागिर्द ही अधिक थे। एक बार किसी ने उनसे पूछा—पंडित जी, आप इतने गुणी हैं। आपके गुणों के बारे में सभी जानते हैं, कुछ अपने ऐबों के बारे में भी बताइए।

उन्होंने कहा था—मुझे मट्ठा पीने का ऐब है। सर्दियों में मट्ठे में केसर मिलाकर पीता हूँ। हर हफ्ते अंग्रेजी की फिल्म देखने का भी ऐब है। मैं उसमें अकेला नहीं जाता, पर किसी ऐसे आदमी को संग ले जाता हूँ जिसे अंग्रेजी न

आती हो। हाथ में बरफी का एक दोना भी रखता हूँ जो बीच-बीच में खाता रहता हूँ। फिर सबसे बड़ा ऐब तो गाने का ही है।... सैकड़ों लोगों में पंडित जी अलग दिखाई देते थे।

शिव जी ने कहा–शाम को रोज भिश्ती सड़क पर छिड़काव करता था। मिट्टी की सोंधी महक उड़ने लगती थी। कई बार पिता जी दरबार में ले जाते थे। महाराजा हरिसिंह जी को गाने का बड़ा शौक था। डा. कर्णसिंह को गाने का बड़ा शौक है। डा. कर्णसिंह पंडित जी से ही सीखते रहे। महाराजा हरिसिंह जी से मिलने जब डा. कर्णसिंह बंबई जाते तो हर बार नया राग सीखकर जाते। राग का चुनाव हरिसिंह जी ही करते थे। पंडित जी का राजमहल में खूब सम्मान था।

जम्मू से उन्हें बेहद प्यार था। गाने की लोकप्रियता भी उन्हें जम्मू से बाहर न ले जा सकी। बस प्रोग्राम में गाने जाते और वापस चले आते। उस वक्त कोई ऐसा कलाकार न था जो पंडित जी के बुलावे पर जम्मू न आया हो। पंडित जी हर साज बजा लेते थे। शिव जी को भी वो जीविका के लिए संगीत न सिखाते थे बल्कि उनका विश्वास था कि इससे मनुष्य का व्यक्तित्व उभरता है और उसे संगीत की हर विद्या का ज्ञान होना चाहिए। खुद तो रोज़ अखाड़े में भी जाते थे। कुश्ती में एक बार एक पहलवान की कलाई तोड़ दी। तांत्रिक तो थे ही। आयुर्वेद की किताबें भी कई मँगवा रखी थीं। बाढ़ के दिनों में चिनाब दरिया पार करना एक चुनौती होती थी, जिसे पंडित जी हर वर्ष स्वीकार करते रहे। पंडित जी बाएँ हाथ से तबला बजाते थे इसलिए उन्हें तबला बदलना न पड़ता था। शिव बताने लगे–मुझे जब भी सिखाते बड़ी सहूलियत रहती। फिर सभी साज मैं घर पर ले ही आया। हारमोनियम, वायलिन, सरोद। सभी साज मैं बजा लेता था। तबले का रियाज तो सारी-सारी रात चलता था। मैंने हँसकर कहा–ये आप मुझे क्या बताएँगे। गर्मियों की रातों में जब कभी मिट्टी की झाझर में से पानी निकाला   अधजगे कानों ने हमेशा आपके तबले की आवाज गूँजती सुनी। हमें तो अभ्यास ही हो गया था। एक कर्मठ योगी के मंत्रोच्चार की तरह ये तबला भी नेपथ्य के संगीत की तरह ही लगता था।

शिव जी कहने लगे–हमारा विद्यालय घर से थोड़ी दूर भावड़ा बाजार में था। एक रीत-सी थी कि घर साज़ नहीं रखने। सो सभी साज़ पहले वहीं होते थे। विद्यालय का नाम शारदा संगीत विद्यालय था। 9 साल तक तो मैं घर पर

ही सीखता रहा। फिर जब पिता जी मुझे विद्यालय ले जाने लगे, तब बाकी शागिर्दों से थोड़ा पहले ले जाते थे। एकाध तान बताकर रियाज करने को कहते। उसके बाद मिठाई लेने बाजार चले जाते। मिठाई का उन्हें बेहद शौक था। पिता जी के बाहर जाते ही मैं डर के मारे खिड़की पर बैठा रहता। भय से सारा जिस्म काँपता रहता। पर पिता जी से कभी कुछ नहीं कहता।...

...यह विद्यालय काफी बड़ा था। सीढ़ियों के बाद एक खाली कमरा था, जिसमें पानी का घड़ा रखा रहता। फिर तीन-चार कमरे थे, जिनमें साज़ रखे रहते थे। बाहरवाले कमरे की खिड़कियाँ बाज़ार की तरफ खुलती थीं। विद्यालय में अजीब-अजीब हादसे होते रहते। कभी लगता, कोई सीढ़ियाँ चढ़ रहा है, कोई साज़ बजा रहा है। कभी ताले में चाबी लगाने की आवाज आती। कभी पंखा अपने आप चलने लग जाता। सारा माहौल खौफ़नाक और भयानक हो उठता। पंडित जी कभी जब गा रहे होते और अगर इस तरह की कुछ आवाज होती तो मुस्कुरा उठते, फिर कहते—ठीक है, ठीक है, शोर मत करो। रोज़ रात को जब विद्यालय बंद करते, तो बिला नागा मिठाई का दोना रखकर आते। दूसरे दिन देखते, कहीं बरफी को दाँत लगे हैं, कहीं उँगली से तोड़ के खाई गई है। एक बार मुझे याद है, मिठाई लाना भूल गए थे। जब जाने लगे तो ताला गुम। फिर याद आया, आज मिठाई नहीं लाए! झट किसी को मिठाई लाने दौड़ा दिया। मिठाई के आते ही ताला वहीं पड़ा नजर आया। ये तो आम बातें थीं।...

मुझे याद है, जब शिव जी का बड़ा नाम हो गया, तब जम्मू में लोग ये भी कहा करते थे कि पंडित जी ने जिस रूह को बरसों मिठाई खिलाई है, उसी ने खुश होकर आशीर्वाद दिया है। पर शिव जी को मैंने ये नहीं बताया।

शिव जी बता रहे थे—संगीत विद्यालय की ओर से जो संगीत-सभाएँ होतीं, उनका आयोजन राजा की मंडी के नीचे तरलोक हलवाई की दुकान के दाहिने हाथ की गली के हॉल में किया जाता। उस्ताद अमीर खाँ, दलीपचंद बेदी, अब्दुल अजीज खाँ बीनकार, नज़ाकत सलामत सभी आया करते थे। 1947 के पहले की बातें हैं।...

...एक बार उस्ताद अमीर खाँ साहेब तथा अजीज़ खाँ साहेब को विद्यालय में ठहराया गया था। वहाँ तो चार खाली कमरे थे। पर दूसरे ही दिन सवेरे दोनों उस्ताद घर पर आ गए और कहने लगे, हम यहाँ न रहेंगे। बीनकार ने कहा, मेरी छाती पर बैठकर कोई मेरी ही बीन बजाता रहा। मैं हिल भी न सकता था!

कभी साज़ोंवाले कमरे के सारे साज़ एक ही बार बज उठते थे। पता नहीं क्या चीज है। पिता जी ने हँसकर कहा, कोई अदृश्य प्रशंसक है, जिसे गाना सुनने का शौक है। पर यह कभी किसी को तकलीफ नहीं देता।"

1956-57 का जिक्र है। पिता जी तब कश्मीर गए हुए थे। उन दिनों भावड़ा बाजार चौड़ा किया जा रहा था। हमारे विद्यालय का भी कुछ हिस्सा उसकी गिरफ्त में आ गया था। सीढ़ियाँ दोबारा बन रही थीं। उन दिनों मेरे साथ अजीब घटना हो रही थी। रात को जो ख्वाब मुझे आता, दूसरे दिन प्रत्यक्ष वही घटना घटती। मुझे एक रात मूलराज सुनार ख्वाब में आया। वो पंडित जी का प्रिय शिष्य था। ख्वाब में उसने कहा, चलो विद्यालय देख आएँ। हमने जाकर ताला खोला तो लगा, सीढ़ियों से कोई भागा है। मूलराज ने ईंट लेकर मारी और कहा, चलो देखते हैं वहाँ कौन है ? उसने दरवाजे पर कुर्सी रखी, उस पर दिया जला दिया। बटलोई लेकर वो पानी लाने बाजार गया। मैं वहीं पर था। तभी नीचे से आवाज आई। 'पंडित जी, पंडित जी', कहता हुआ एक भारी-भरकम-सा व्यक्ति सफदे पाग, सफेद पायजामा-अचकन पहने दरवाजे के बाहर आ खड़ा हुआ।...

...पंडित जी कहाँ हैं? उसने फिर पूछा। अब तक हम इन चीजों के अभ्यस्त हो चुके थे। अचानक मुझे लगा कि उसका मुँह नहीं है। पर मुझे डर नहीं लगा। दिया वो बुझा नहीं सकता था। तभी मूलराज के सीढ़ी चढ़ने की आवाज़ आई। अब वह आदमी सीढ़ियाँ उतर रहा था।... मैंने चिल्लाकर कहा, मूलराज उसका मुँह नहीं है!...और मैंने ईंट उठाई। बस, यहाँ तक ख्वाब था। फिर दूसरे दिन यह सारी घटना घटी। ईंट पता नहीं कहाँ लगी। पर बाजार बन रहा था। वहाँ ईंटें-ही-ईंटें थीं। बाद में जब हमने पंडित जी को यह घटना सुनाई, तो उन्होंने कहा—कोई गाना सुनने आया होगा।...

...जब विद्यालय के सभी साज़ घर पर आ गए थे तब वहाँ भी छोटी-मोटी घटनाएँ हो जाती थीं। एक बार पिता जी लाहौर गए हुए थे। उन दिनों एक दिन छोड़कर गाना होता था। गाने के दंगल भी होते थे। तब प्रोग्राम करने जो भी जाता कम-से-कम तीन दिन वहाँ रहता। पिता जी लौटकर आए तो देखा, माता जी बहुत बीमार थीं। उन दिनों तवी के पार एक योगी रहा करता था। बड़ा नाम था उसका। पिता जी ने उसे बुलाया। वो आकर माता जी का उपचार करने लगा तो बोला—आपके घर के भीतर कोई शक्ति है जिसके डर से मेरी

शक्ति भीतर नहीं आ सकती !

पंडित जी ने ही शिव जी को बताया था कि लाहौर में एक बार प्रोग्राम में मालकौस राग गाना था। संगति करनेवालों में जो सारंगिया था उसने कहा—मैं मालकौस नहीं बजा सकता। पंडित जी ने उससे कारण पूछा तो उसने बताया, मैं किसी गानेवाली के साथ सारंगी बजाता था। लोग जब गाना सुनकर चले जाते तो मैं मालकौस का रियाज शुरू कर देता। एक दिन बजा रहा था तो एक दाढ़ीवाले बुजुर्ग आकर बैठ गए। रियाज खत्म हुआ तो उन्होंने चाँदी के रुपए दिए और कहा—जब तबियत होगी सुनने आऊँगा, पर ये बात किसी को बताना मत। वो बुजुर्ग 40 दिन रोज आते रहे। रोज संगीत सुनते, चाँदी का एक रुपया देते और चले जाते। एक दिन वो गानेवाली किसी काम से अंदर आई। बूढ़े ने उसे देखा तो उसका रूप भयानक हो गया। दोनों बेहोश हो गए। बूढ़ा पता नहीं कब गायब हो गया। तब से जब भी मालकौस बजाता हूँ, हाथ काँपने लगते हैं। बजा नहीं सकता। पंडित जी ने ये सुनकर उसे ताबीज दिया तो वो ठीक हो गया। चाँदी के रुपए से उस सारंगिए ने अपनी बेटी की शादी कर दी।

शिव जी ने आगे कहा—पंडित जी जब भी अपने इष्ट देवता के आगे बैठते थे, उन्हें मेरा कुशल-समाचार मालूम हो जाता था। एक बार मैंने झूठ ही लिख दिया कि मैं ठीक हूँ। तब मैं कलकत्ता में था और काफी बीमार था। पंडित जी का पत्र आया—तुम फलाँ रोज से बीमार हो। ये दवा खाओ तो ठीक हो जाओगे।...

...इसी तरह की एक और घटना याद आ रही है। तब मैं बी.ए. में पढ़ता था। तीसरी छत पर मेरा कमरा था। वहीं पर साज़ भी थे। मैं खाना खाकर दूसरी छत पर रजाई ओढ़े पढ़ रहा था। पढ़ते-पढ़ते एकदम आँख लग गई। मैंने सुना, माता जी व बहन जी कह रही थीं—ये क्या कर रहे हो ! मेरी चारपाई के नीचे से हँसने और रोने की मिली-जुली आवाजें आ रही थीं। मैं चौंककर जग गया। पसीने से तर अपने हाथ में मैंने डंडा लिया और चारपाई के नीचे घुमाया। मुझे दिखाई तो कुछ न दिया, पर आवाज़ें दरवाजे तक जाती हुई लगीं। फिर दरवाजे पर फिर दीवार पर से धम्म की आवाज आई। तभी माता जी और बहन जी दोनों ऊपर आ गईं। वो दोनों भी डरी हुई थीं। मैं फिर सो गया। पिता जी जब घर आए तो उन्होंने सारा किस्सा सुनकर मुझे एक मंत्र दिया, जिसका मैं अब तक पाठ करता हूँ। यह मंत्र मेरी सुरक्षा के लिए है। उन दिनों कोई शक्ति

मेरा अनिष्ट करने आई थी। फिर वैसा हादसा नहीं हुआ। बुजुर्गों से तंत्र विद्या का यही हिस्सा मुझे मिला है। ये कहकर शिवकुमार जी हँसने लगे।

माता जी के बारे में शिव जी कहने लगे—बड़ी शांत स्वभाव की थीं। कभी किसी की बुराई उनके मुँह से न सुनी। खाना खाने रोज सात-आठ आदमी तो आते ही थे। इस मामले में वह अन्नपूर्णा थीं। कभी उनकी रसोई कम न पड़ी। धैर्य भी उनमें बहुत था। चौके से निपटकर लोकगीत गाया करती थीं। मुझे उनका गाना सुनना बहुत अच्छा लगता था। मुहल्ले में वो ज्यादा कहीं न जाती थीं। बचपन में मुझे याद है, बुर्का पहनकर दरबार में जाया करती थीं। मुहल्ले के संभ्रांत परिवारों की महिलाएँ इकट्ठी होकर महारानी के दरबार में जाती थीं। उस समय कितनी सुंदर औरतें थीं मुहल्ले में। तीज-त्योहार पर सभी चंद्रिकाएँ-सी लगतीं... डोगरा पोशाकें झिलमिलाती हुई याद आती हैं। शुद्ध पहाड़ी नाक-नक्श पर मैदा सिंदूर—जैसा रंग बैठनेवाली जगह को भी रत्नार कर देता था। माता जी को मैंने कभी क्रोध में नहीं देखा। उनकी मृत्यु भी विचित्र हुई। बीमार तो पंडित जी थे। उनके आरोग्य के लिए माता जी ने संतोषी माँ के व्रत किए। जिस दिन उद्यापन किया, उसी रात जब सोईं तो सवेरे प्राण उड़ चुके थे। मैं भी समय पर वहाँ कहाँ था। माता जी ने ही मेरे बाहर जाने का निश्चय किया था। पिता जी कदापि न चाहते थे। माता जी ने कहा था, इसे मत रोकिए, इसका नाम बाहर ही होगा।

फिर बात चली संतूर की—उन दिनों जम्मू-कश्मीर के मुख्यमंत्री बख्शी गुलाम मुहम्मद थे। पंडित जी की बड़ी कद्र करते थे। उन्होंने कहा, आप गुणी आदमी हैं, ज़रा श्रीनगर रेडियो पर भी जाकर देखिए, लोग क्या गा-बजा रहे हैं। सो पिता जी साल-भर के लिए श्रीनगर चले गए। मैं तब दसवीं में पढ़ता था। बीच-बीच में वह घर भी आते थे। जब वापस आए तो एक गठरी की तरफ इशारा करके कहा, तुम्हारे लिए लाया हूँ। मैंने खोला तो संतूर! संतूर उन दिनों कश्मीर में सूफियाना कलाम में बजा करता था। मैंने देखा तो खास खुश न हुआ। कश्मीर रेडियो पर अब तक जितना भी सुना था, उससे मैं कोई खास मुतासिर न हुआ था। फिर पंडित जी ने बजाकर दिखाया। संगीत का ज्ञान तो मुझे था ही। मैं भी बजाने लगा। पंडित जी जो गाते, वही बजाना पड़ता। संतूर लकड़ी के जिन टुकड़ों के साथ बजता है, उन्हें कश्मीर में कलम कहते हैं। कलम हाथ में लेकर कई-कई बार हाथ साधते बीता। बजाते-बजाते लगने

लगा, इसमें कुछ कमियाँ हैं । जैसे इसमें मींड नहीं है । मींड तो भारतीय संगीत की एक खास चीज है । पर पंडित जी की ज़िद थी कि मैं संतूर में ही महारत हासिल करूँ । उन्होंने कश्मीर में रहकर साल-भर इसे जाँचा परखा । इस पर काम भी किया । वहाँ के कलाकारों को भी सुना । ये भी ग़ौर किया कि इस पर राग कैसे बनेंगे । फिर वो पिता के अलावा मेरे गुरु भी थे । उन्होंने जो इसका एक सिस्टम बनाया था, वो मुझे समझाया । अब मेरा पूरा ध्यान संतूर पर ही जम गया ।...

...फिर बहुत बरसों बाद मैंने इसमें नई तकनीक निकाली । इस पर शोध किया । अगर इस पर शास्त्रीय संगीत बजाना है, तो क्या किया जाना चाहिए । संगीत का जितना ज्ञान मुझे था, उससे मैंने शीघ्र ही संतूर से पहचान बना ली । संतूर से नाता जुड़ने के तकरीबन दो साल बाद 1952 में रेडियो पर पहला प्रोग्राम दिया । अभी मैं संतूर में कंटीन्युटी की कमी पाता था । जो गले से निकल सकता था, वो इसमें से नहीं निकलता था । जो मैं व्यक्त करना चाहता था, वो न हो पाता था । इस साज़ में कमियाँ थीं । जो बात मन में आती थी, वो साज़ से न कहलवा पाता था ।

फिर 1955 में बंबई में सुर-सिंगार-संसद का प्रोग्राम बजाने आया । महाराजा हरिसिंह हरिदास संगीत-सम्मेलन में जाया करते थे । उनके साथ डा. कर्णसिंह भी जाते थे । उन्होंने मेरा नाम श्री बृजनारायण जी को सुझाया था । प्रोग्राम के बाद एक लड़की मंच पर आई । उसने कहा, मेरा नाम मधुरा है । मैं व्ही. शांताराम जी की बेटी हूँ । आप मेरे पिता जी से मिलिए, मैंने उनसे समय ले लिया है । मैंने कहा, मेरा इम्तहान है । मैं उसके बाद ही आ सकता हूँ । वो इस बात पर काफी हैरान-सी हुई होगी । फिर मेरा इम्तहान जब खत्म हुआ, तो उसी दिन बंबई से तार आ गया । अब तो जाना ही था । पंडित जी ने अपने शागिर्द मूलराज को साथ कर दिया । बंबई आकर हम स्टूडियो में गए । वसंत देसाई संगीतकार थे । फिल्म थी 'झनक-झनक पायल बाजे' । शांताराम जी ने कहा, सीन देखो और फिर बजाओ । मैंने सीन देखा और उसके मुताबिक बजा दिया ।

शांताराम जी ने उस सीन का संगीत काटकर मेरा पीस फिट कर दिया । शांताराम जी बड़े खुश हुए । कहने लगे, मैं आपको संगीतकार बनने का मौका देना चाहता हूँ । आप चाहें तो हीरो भी बन सकते हैं । मैंने कह दिया, मुझे

फिल्मों का शौक नहीं है। मुझे तो उन दिनों संतूर एक चुनौती लगता था। यही धुन थी कि किसी तरह इसे लोगों की मान्यता दिलाऊँ। और लगता था, अभी इससे पहचान भी पूरी तरह नहीं हो पाई है। जम्मू में मैंने कुछ महीनों के बाद एक दिन रेडियो खोला तो लाहौर रेडियो था। बाद में पता लगा, मेरा एक 45 रफ्तार का रेकार्ड बन चुका है, जिसकी मुझे खबर तक नहीं है। अच्छा भी बहुत लगा और खराब भी। ये मेरी जिंदगी का पहला रेकार्ड था।...

...जम्मू से बाहर आना-जाना शुरू हो चुका था। अब ये सोचने का मौका भी आ गया था कि मैं जिंदगी में क्या करूँ। जब मैं कॉलेज के दूसरे वर्ष में था, तो पिता जी ने कहा था, फौज में चले जाओ। तब मैंने टाल दिया था कि मैं पढ़ना चाहता हूँ। माता जी ने भी कहा था—मेरा एक ही बेटा है, इसे मैं फौज में न भेजूँगी। एक ही बेटा फौज में चला जाए तो दिया जलाने पर भी रोशनी नहीं होती! बी.ए. के बाद भी पिता जी ने पूछा था—नौकरी करोगे? मैंने कहा था, नौकरी में मेरी प्रवृत्ति नहीं है। अब पिता जी से थोड़ी-थोड़ी दोस्ती भी हो गई थी, इसलिए ऐसा कह सका। जब एम.ए. में था, तो सारी क्लास ने स्ट्राइक कर दी। मैं अंग्रेजी या मनोविज्ञान में एम.ए. करना चाहता था। उन दिनों बख्शी साहब रियासत में संगीत का कालेज खोलना चाहते थे। उनकी शर्त ये थी कि मैं उसका प्रिंसिपल बनूँ। मैंने कहा, मैं नौकरी न करूँगा। कालेज की तो कभी नहीं। पिता जी ने भी कहा, जिस काम में मन न हो वो नहीं करना चाहिए। अपने आत्मसम्मान पर कभी आँच न आनी चाहिए। आखिर उन्होंने खुद भी तो वही रास्ता चुना था, जो उन्हें पसंद था और अब तो समय भी बदल चुका था।...

...इन्हीं दिनों बख्शी साहब के घर में एक पार्टी हुई। संगीत का भी आयोजन था। मेरा प्रोग्राम भी रखा गया था। बख्शी साहब के घर से गाड़ी आ गई। उसमें सब साज़ रखकर हम चल दिए। कोठी पर शामियाने लगे थे। चारों तरफ कुर्सियाँ थीं। बीच में दरी बिछी हुई थी। ये कलाकारों के लिए थी! इंतज़ाम की देखरेख असैंबली के स्पीकर कर रहे थे। मैंने उनसे कहा—यहाँ संगीत की महफिल नहीं सज सकती। मैं ऐसे जूतों में बैठकर न बजाऊँगा। एक स्टेज तो प्रोग्राम के लिए होनी ही चाहिए। स्पीकर ने चाय की एक मेज खाली करवा के बीचों-बीच रखवा दी। कोई मेरा साज़ ले आया और उस पर रख दिया। स्पीकर ने तबले को हाथ से बजाकर देखा और कहा—देखो कैसे नहीं बजता, बज तो रहा है! वो शराब पिए हुए था। मैंने गुस्से में चिल्लाकर उससे

कहा—डू नाट टच माई इन्स्ट्रूमेंट, यू आर ड्रंक। ये कहकर मैंने साज़ उठाया और घर आ गया।...

...वहाँ लोगों ने कहा—बख्शी साहब के घर से यूँ न जाओ, गड़बड़ हो सकती है। पर मैंने एक न सुनी। मैं सरकार का नौकर तो नहीं था। घर पहुँचा तो पिता जी ने पूछा, इतनी जल्दी कैसे आ गए? मैंने सारा किस्सा बता दिया। उन्होंने सुनकर कहा, तुमने बिलकुल ठीक किया। बरसों बाद फिर वो स्पीकर घर आया। बहुत अपनापन दिखाने लगा। बख्शी साहब तो मुझे बेहद प्यार करते थे। कहीं प्रोग्राम होता तो पहले पूछते—वहाँ शिव बजा रहा है क्या?

मैंने पूछा—जब आपने प्रोग्राम के लिए बाहर जाना शुरू किया, तब क्या सिर्फ संतूर पर ही प्रोग्राम दिया या तबले पर भी आपका खूब रियाज था?...

कहने लगे—जब मैं हरिदास में बजाने आया था, तब मैं सभी कलाकारों से छोटा था। मूँछें भी ठीक से नहीं आई थीं। तब पिता जी की इच्छा थी कि मैं दोनों ही साज़ बजाऊँ। बृजनारायण जी कहने लगे, आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि किसी एक कलाकार ने इकट्ठे दो साज़ बजाए हों। पर मैं न माना। तब उन्होंने तबले के लिए आधे घंटे का समय दिया। अब समस्या यह उठ खड़ी हुई कि कोई भी कलाकार लहरे पर संगति करने को तैयार न हो, मैं इतना छोटा जो था! आखिर एक बुजुर्ग सारंगिए ने लहरा दिया, पर थोड़ी ही देर बाद उसे मुश्किल पड़ने लगी। शंकर घोष ने मेरा तबला सुना हुआ था। मंच पर मैं संतूर और तबला दोनों ही साज़ लेकर गया था। आधा घंटा तबला बजाने के बाद मैंने पौन घंटा संतूर बजाया। लोग उठने ही न दें। बृजनारायण जी खुश हो गए। कहने लगे—और बजाओ। फिर उन्होंने कहा—एक दिन और कार्यक्रम रखेंगे। वैसे भी यह पहला वक्त था कि बंबई के मंच पर संतूर बजा। उसी दिन एक आदमी ने मंच पर आकर कहा, आपसे उस्ताद अल्लारक्खा खाँ मिलना चाहते हैं। उनका नाम तो मैंने सुन रखा था पर ये इल्म न था कि ये डोगरा हैं। जब उन्होंने डोगरी बोलनी शुरू की, तो मैं हैरान रह गया। उन्होंने कहा, मैं भी डेगरा हूँ तुम्हें सुनने आया था। मातृभाषा से इतना प्यार करनेवाला शख्स मिले तो कितना अच्छा लगता है। बस, मजा ही आ गया! इसी तरह एक बार अमरीका में मेरा प्रोग्राम था तो खान साहेब नीचे खड़े थे। लोग कह रहे थे, बड़ा अच्छा प्रोग्राम हुआ। खान साहेब बोले, दो डोगरे बैठे थे, कैसे न अच्छा होता।

मैंने पूछा—यूथ फेस्टिवल के आपके प्रोग्राम के बड़े चर्चे थे। उसके बारे में

बताइए। उन दिनों तो सिर्फ ये सुना था कि शिव जी कहीं बाहर गए थे। वहाँ से प्रथम पुरस्कार लिए लौटे हैं।

बोले—1956 में मैं जब बी.ए. में था, तब यूथ फेस्टिवल में गया था। संतूर बजानेवाला मैं अकेला था। दिल्ली तालकटोरा गार्डन में पंडित नेहरू, मौलाना आज़ाद और कई नेता आए हुए थे। वहाँ भारत-भर के 36 विश्वविद्यालय के लोग आए थे। मैंने तबला भी बजाया। उसमें 32 प्रतियोगी थे, पर मुझे ही पहला पुरस्कार मिला। संतूर तो सिर्फ मैं ही बजाता था। उसमें पुरस्कार मिला तो क्या मिला? तबले पर मिलना ही बड़ी बात थी। कुल पंद्रह मिनट का समय था। जजों ने कहा, और बजाओ।···

···तब पहली बार संतूर और तबला में जो पुरस्कार मिला, तो खूब चर्चा हुआ। उन दिनों रियासत के मुख्यमंत्री श्री गुलाम मुहम्मद सादिक थे। कालेज में मेरे सम्मान में समारोह किया गया, जिसमें उन्हें भी बुलाया गया था। मेरा प्रोग्राम भी था। सुनकर सादिक साहब बड़े प्रसन्न हुए। मैंने कहा, अगर आप प्रसन्न हैं, तो कालेज में साज़ मँगवाने के लिए ग्रांट दीजिए। बस साज़ आ गए और खाली समय में लड़कों ने वहीं बैठना शुरू कर दिया।

कालेज के दिनों की बातें बताते हुए शिव जी ने कहा—उस समय कालेज में एम.ए. की क्लास पीछे के बँगले में लगा करती थी। क्लास में लड़के कम और लड़कियाँ ज्यादा थीं। एक दिन सबने मेरे सम्मान में एक प्रोग्राम आयोजित किया। उन दिनों मुझे 1958 का तबले में पहला पुरस्कार मिला था। हम सब कमरे में बैठे हुए थे। मैंने संतूर बजाना शुरू किया। हमारी क्लास में एक कश्मीरी पंडित लड़का था—हीरालाल। वो मुझे टकटकी लगाकर देख रहा था। थोड़ी देर बाद उसने चश्मा उतारा और एक तरफ लुढ़क गया। देखा तो वो बेहोश हो चुका था। लड़के डॉक्टर बुलाने दौड़े। लड़कियाँ उसके तलुवे सहलाने लगीं। कोई हाथों की, सिर की मालिश करने लगी, कोई छींटे देने लगी। थोड़ी देर बाद डॉक्टर ने इंजेक्शन दिया, तो वो होश में आया। हमने पूछा—भई, क्या हुआ था? उसने भी यही पूछा—क्या हुआ, क्या बात है? तुम सब लोग इस तरह क्यों इकट्ठा हुए हो? हम सब हैरान! हममें से कइयों ने सोचा, ये ढोंग करता है। इसे आज़माने के लिए फिर वसंत पंचमी के रोज प्रोग्राम रखा। संतूर की लय के जोर पकड़ते ही हीरालाल फिर लुढ़क गया। लोगों ने कहा, इसे संतूर सुनकर ही ऐसा होता है। शायद पिछले जन्म में बजाता रहा

होगा। तब तक हीरालाल घर भी आने लगा था। मैंने और जाँचने के इरादे से एक बार उसे घर पर बुलाया। उसके सामने बाजा, तबला, सरोद, वायलिन सब थोड़ा-थोड़ा बजाया। उसे कुछ नहीं हुआ। तभी मुझे माता जी ने नीचे बुलाया। जब मैं नीचे से होकर ऊपर आया तो मैंने देखा, हीरालाल के हाथ में संतूर की कलम है। वो कुछ बजाने जैसा उपक्रम कर रहा है। मैंने उसे हिलाया तो वो बेहोश होकर एक तरफ लुढ़क गया। मैंने उसे जोर से एक चाँटा लगाया। उसे होश नहीं आया। लोग कहें, इस पर कोई रूह आती है। सारी क्लास में शोर हो गया। मैंने फिर उससे एक दिन अकेले में पूछा—हीरालाल जी, ये माजरा क्या है? तब उसने कहा—यार, बाकी साज़ों से मुझे कुछ नहीं होता। पर जब संतूर सुनता हूँ, तो लगता है कहीं उड़ रहा हूँ। नीचे बड़ा गहरा समंदर है, नीला-नीला...बस, इसके बाद मुझे होश नहीं रहता!...

...एक मास्टर जी की भी याद आ रही है। वे हाथ पर मारा करते थे। जितनी बार मारते, खुद ही कहते, 'हाय माय'! जब मुझे पुरस्कार मिलने की चर्चा हुई तो घर आकर खूब डाँटा—अगर तुममें इतनी ही प्रतिभा थी तो मार क्यों खाते रहे। लड़कों ने उनका नाम भी 'हाय माय' मास्टर ही रखा हुआ था। मैं तो सारा साल पढ़ता नहीं था। रियाज़ करता था। फिर इम्तहान के दिनों में किताबी कीड़े किस्म के जो लड़के थे, उनके नोट्स पढ़कर पास हो जाता था।

तभी मुझे याद आया, मुहल्ले की कुछ मुझसे बड़ी लड़कियाँ इस बात पर खूब ठिठोली करती रहीं कि रेडियो से शिव जी का तबले का प्रोग्राम हुआ और उद्घोषक ने कहा, आइए, अब आप पंडित उमादत्त जी के नन्हे-मुन्ने से तबला सुनिए! मैंने शिव जी को ये बात याद दिलाई, तो वे कहने लगे—हाँ, तब मैं सातवीं या आठवीं में पढ़ता था। बच्चों के प्रोग्राम में तबला बजाने गया था। पर जब तबला बजाया, तो लोगों को यकीन ही न आए कि ये इतना छोटा होगा।...

...पिता जी को मेरा सरोद बजाना बड़ा पसंद था। वे कभी आराम करते, तो सरोद बजाने को कहते। कोई आता, तो भी सुनवाते थे। लोग उनके सामने मेरी तारीफ करें, तो मुझे बड़ी शर्म लगती थी। एक बार उनका एक शिष्य आया, पंडित जी ने कहा, चलो सरोद सुनाओ।...

...उस दिन मैं थोड़ा उद्विग्न था। बजाते-बजाते मैंने आँखें बंद कीं। पता नहीं क्या हुआ, थोड़ी देर बाद मैं सिसकने लगा। पंडित जी के शागिर्द मोतीराम जी ने मेरा हाथ पकड़ लिया। पिता जी और वो दोनों भी रहे रो थे। पता नहीं

सुरों में कौन-सी अदृश्य शक्ति आकर बैठ गई थी, जो हम सबको एक साथ हिला गई। मुझे तो हर प्रोग्राम में इस शक्ति के होने का अहसास रहता है। कई बार होता है, प्रोग्राम बजाकर नीचे उतरता हूँ और लोग जब घेर लेते हैं तो मैं इतना भरा हुआ होता हूँ कि कुछ कह ही नहीं सकता। किसी और दुनिया में जैसे होता हूँ। तब मेरा रोम-रोम बोलता है, पर जबान बंद हो जाती है जैसे मैं वहाँ होता ही नहीं। कई लोग मुझे गलत समझ लेते हैं कि मैं किसी से बात नहीं करना चाहता।...

...बचपन में पिता जी दरबार में ले जाते थे। एक बार उनका गाना था, तो उन्होंने मुझे तानपूरे पर बिठा दिया। तानपूरा तो मैं बजा लेता था, पर ये न मालूम था कि इसकी लय घटती-बढ़ती नहीं है। पिता जी ने जब द्रुत शुरू किया तो मैंने भी तानपूरे की लय बढ़ा दी। बस लगे, अब मैं बजा न सकूँगा। छोटी-छोटी उँगलियाँ दर्द के मारे नीली पड़ गईं। उस समय जो मन में भय पैदा हुआ था, उसे मैं आज भी महसूस कर सकता हूँ। पिता जी से भय बहुत लगता था. पर प्यार भी खूब आता था। गर्व भी होता था कि ये पिता हैं। एक बार उनका लाहौर में प्रोग्राम था। तब जम्मू से लाहौर तक ट्रेन जाती थी। मैं कुर्ता-पायजामा पहने नंगे पाँव ही उन्हें स्टेशन तक छोड़ने चला गया। हमारे साथ एक स्वामी जी भी थे। जब पिता जी ट्रेन में बैठे तो मैंने रोना शुरू कर दिया कि मैं भी जाऊँगा। पिता जी कहने लगे, तुम कैसे जा सकते हो? घर में भी चिंता करेंगी और पाँव में चप्पल तक तो तुमने पहनी नहीं है। मैंने और भी ऊँचा रोना शुरू कर दिया। तब स्वामी जी ने कहा, इसे ले जाइए, मैं आपके घर में बता दूँगा।...लाहौर पहुँचते ही पिता जी ने पहले मुझे चप्पल लेकर दी, कपड़े दिलवाए, फिर हम होटल में गए। मैं इतना बड़ा शहर देखकर अभिभूत था।...

लाहौर में पिता जी का पहला प्रोग्राम हुआ तो उन्हें लू लग गई। मई-जून की महीना था। होटल में सारी रात मैं उन्हें पानी पिलाता रहा और पट्टियाँ करता रहा। तब घर आकर पिता जी ने माँ से कहा, अगर ये साथ न रहता, तो पता नहीं क्या होता? उस वक्त मुझ पर भूत ही सवार रहा होगा जब मैं ज़िद करके पिता जी के साथ चला आया था।

मैंने पूछा—आपने जम्मू पूरी तरह से कब छोड़ा? हालाँकि मैं ये सोच रही थी कि अपने शहर से कहीं भी चले जाओ, शहर पूरी तरह से कभी भी नहीं छूटता। आदमी अतीत की डोरी के साथ वहीं झूलता रहता है।

शिव जी कहने लगे—मेरा बाहर आना-जाना तो लगा हुआ था, पर ये फैसला होना बाकी था कि अब क्या किया जाए ? जीविका का प्रश्न भी था। एकदम पिता जी मुझे बाहर भेजना भी न चाहते थे। फिर उन्होंने एक दिन पूछ ही लिया, अब क्या करोगे ? मैंने कहा, नौकरी तो नहीं करूँगा। मेरी इच्छा नहीं होती। तब उन्होंने कहा, इस हालत में जम्मू में कोई स्कोप नहीं है। अचानक मैंने कह दिया, मैं परसों चला जाऊँगा···

···एक हफ्ते बाद मैं बंबई के लिए रवाना हो गया। पिता जी ने एक चौकीदार साथ कर दिया। वह उनसे तबला सीखता था। वे नहीं चाहते थे एक अनजान-अचीन्हे शहर में मैं अकेला रहूँ। बंबई आए, तो धोबी तालाब पर कश्मीर होटल में एक सस्ता-सा कमरा ले लिया। कमरा अँधेरा-सा था, और साथ में गुसलखाना था। घर में तो हमारे बड़े ठाट थे। इन हालात का अभ्यास न था। पर जिद ये थी कि नौकरी न करूँगा, पर इसके लिए कुछ तो करना ही पड़ता। मुझे आज भी याद है। पहली जून 1960 को मैं यहाँ पहुँचा था। पिता जी ने आती बार कहा था, पैसे मँगवा लिया करना। मैंने मन में सोचा, कमाई करने निकला हूँ ये कभी न करूँगा। आते ही मैंने जम्मू रेडियो से बंबई रेडियो पर अपना नाम ट्रांसफर करवा लिया।···

···यहाँ पर उन दिनों रोशन अली खाँ साहब उप-केंद्र-निदेशक थे। गाने के रसिया और मस्ताने आदमी। खूब लच्छेदार बातें करते। पुराने गाने-बजानेवालों के कई किस्से उन्हें याद थे। शाम को मैं हर रोज रेडियो चला जाता। फिर सड़क पर घूमते रोशन अली साहब की बातें सुनते रहते। कभी कोई खूबसूरत लड़की जा रही होती, तो पूछते—इससे बात करूँ क्या ? फिर उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही उससे पूछते—कैसी हो बेटी ? गाने-बजाने का शौक है या नहीं ? इस तरह शामें दिलचस्प हो उठतीं।···

···अब मैंने इधर-उधर एक-दो प्रोग्राम बजा लिए थे। बंबई में गाने-बजानेवालों को पता चल गया था कि मैं शहर में आ गया हूँ। एच.एम.वी. में भी मैं गया। एक छोटा रिकार्ड भी बन गया। यहाँ पर जम्मू के भी कुछ लोग थे। एक साहब चर्चगेट में रहते थे। पिता जी को पता चला। उन्होंने जम्मू से लिखा, वहाँ चले जाओ। वहाँ कमरा खासा बड़ा और आरामदेह था। हम सब नीचे सो जाते। मेरा चौकीदार पास में ही सोता। दिन में वो लोग बाहर चले जाते थे। एक दिन मैं दोपहर को अकेला कमरे में बड़े मनोयोग से बजा रहा था,

तभी मकान मालिक आया। उसने कहा, यहाँ साज़ मत बजाइए, हमें तकलीफ होती है। ये बात मुझे कलेजे में तीर की तरह जाकर खुभ गई। संतूर की इतनी कोमल ध्वनि से उन्हें कष्ट होता है। ये सुनकर मैंने फौरन सामान पैक किया और फिर कश्मीर होटल में आ गया। कुछ महीने वहीं पर रहा। कई बार झूठ ही पिता जी को लिखा—आज प्रोग्राम था। हमेशा ये डर रहता, कहीं वो पैसे न भेज दें।…

…उन्हीं दिनों वी.जी. जोग के एक शिष्य ने, जो मेरा बड़ा प्रशंसक था, मुझसे कहा, मेरे पास दो कमरे हैं। एक में आप आकर रहिए। अब रहने की समस्या से तो छुट्टी मिल गई, पर जो चौकीदार पिता जी ने लगाया हुआ था, उसका खर्चा भी उठाना पड़ रहा था। एक दिन मेरी जेब में सिर्फ एक चवन्नी रह गई थी। दोपहर के भोजन का वक्त करीब आता जा रहा था। चौकीदार जी भी सतर्क थे, मैं परेशान।…तभी संयोग से जालंधर रेडियो से एक मनीआर्डर आया। हमेशा चेक आता था, पर जैसे देव भी जानते थे कि भुनाने का समय नहीं है। उन दिनों हम शेरे-पंजाब होटल में खाना खाते थे। चौकीदार का हाजमा काफी अच्छा था। उस फाकामस्ती के आलम में मैंने और उसने फौरन बस पकड़ी और पंजाब होटल चल दिए। भगवान ने ये तोहफा ही तो भेज था।…

…एक दिन रोशन अली जी ने कहा, एक होटल में प्रोग्राम है। पैसे तो न मिलेंगे, पर नाम खूब होगा। वहाँ बाबूराम पटेल भी आ रहे हैं। मुझे भला क्या आपत्ति हो सकती थी। शाम को एक व्यक्ति आकर हमें होटल में ले गया। जब वापस छोड़ गया तो हमारे चौकीदार की जेब में पच्चीस रुपए डाल गया। मैंने कहा, ये रुपए क्यों लिए। उसने कहा एक संयोजक जेब में यह कहकर डाल गया कि टैक्सी का खर्च है। मैंने कहा, वो तो हमें खुद छोड़ गए हैं, टैक्सी का कौन-सा खर्चा। पर वो काफी कूड़ था। ये न समझ सकता था कि इस कड़की की हालत में मैं क्यों पैसे नहीं लेना चाहता। पर भगवान की ऐसी दया रही कि जब भी पैसे एकदम खत्म हुए कि कहीं-न-कहीं से जुगाड़ हो ही गया।…

…हमारे जम्मू के सितार बजानेवाले हैं—इंदर गोयल। फिल्मों में बजाया करते थे। एक दिन मैं उनके घर गया, तो पता चला संगीतकार रोशन मुझे ढूँढ़ रहे हैं। उन दिनों वे 'बरसात की रात' फिल्म का संगीत दे रहे थे। उसमें बजाना शुरू किया तो जयदेव जी की 'हम दोनों' में भी बजाया। बस ये सिलसिला चल

ही निकला। फिर पैसों की समस्या न रही। पर फक्कड़ी के जो दिन देखे, वो हमेशा याद रहेंगे। हमने घर पर भी कोई अभाव न देखा था। कलाकार को जिंदगी का हर रंग देखना चाहिए। हर रंग की अपनी अलग चमक होती है।...

...पुराने संगीतकारों जैसे रोशन, मदनमोहन, सी. रामचंद्र, एस.डी. बर्मन, नैयर, नौशाद, खैयाम व जयदेव ने मुझे बहुत मुत्तासिर किया। हुसनलाल-भगतराम की जोड़ी भी बड़ी संगीतमय थी। हुसनलाल जी जैसा दूसरा कलाकार मैंने नहीं देखा। देवता आदमी थे। उनके मुँह से कभी भी किसी की बुराई नहीं सुनी। वायलिन उनके जैसी किसी को बजाते नहीं सुना। चोटी के वायलिन वादक थे। गाने का भी उन्हें बेहद शौक था। जब मैं अकेला रहता था, तो चिकन ले आते थे। खूब प्यार से खुद ही बनाते। उनके गुरु पं. दलीपचंद बेदी मेरे पिता जी के अच्छे मित्र थे। इसलिए पुराने ताल्लुकात की वजह से खूब आना-जाना था। गरज ये कि बड़े गुणी लोगों को बचपन से ही मैंने जाना। पिता जी की वजह से वे मुझे जानते थे।

मैंने पूछा—साज़ को लेकर आपको कई मुश्किलें भी आई होंगी। अपनी जिंदगी में ही एक साज़ का परिचय करवाना और फिर संगीत-प्रेमियों से उसे मान्यता भी दिलवाना कोई छोटा काम नहीं है।

शिव जी कहने लगे—उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ ने शहनाई को अपने जीवन में ही मान्यता दिलवा दी। बाँसुरी में पन्नालाल घोष जैसा कलाकार नहीं देखा। उन्होंने भी बाँसुरी को अपने जीवनकाल में ही शास्त्रीय संगीत के दर्जे पर पहुँचा दिया था। पर ये साज़ पहले भी बजते थे। संतूर को तो एकदम शुरू से परिचित करवाना पड़ा। संगीत-समीक्षकों ने कहना शुरू किया कि संतूर में सितार और सरोद जैसी गहराई नहीं है। यह शास्त्रीय संगीत के उपयुक्त नहीं है। आप सोच सकती हैं, मेरी मानसिक स्थिति यह सुन-सुनकर कैसी हो उठती होगी। दिल्ली में एक संगीतकार मिला। कहने लगा, आप किस दर्जे के कलाकार हैं? आपके साज़ में मींड ही नहीं है। इसमें शास्त्रीय संगीत कभी बज ही नहीं सकता। इस बात से जो दुख हुआ था, वो आज भी सालता है। कई लोगों ने यह भी कहा कि संगीत का अखिल भारतीय कार्यक्रम डेढ़ घंटा होता है। इतनी देर आप इस साज़ पर क्या बजाएँगे? लोग इस नए साज़ की बड़े-बड़े उस्तादों के साज़ों के साथ तुलना करने लगे।...

...ये अच्छा लक्षण भी था। मैं हर समय यही सोचता रहता था कि इस साज़

को बदले बगैर क्या करूँ कि इस पर शास्त्रीय संगीत बज सके। इसी धुन में दिन-रात गुजरने लगे। अब कुछ श्रोता यह भी कहने लागे थे कि उन्हें संतूर की कोमल ध्वनि बड़ी मोहक लगती है। यह सुनकर मुझे लगा, यह बात साबित करना ही मेरी जिंदगी का लक्ष्य होना चाहिए। इसमें आलाप, जोड़, झाला बज सके, ऐसा ही मेरा साज़ होगा। और पद्मा जी, आज मैंने जो नई तकनीक संतूर में बनाई है, इसे सब जगह लोगों ने स्वीकार किया है। संतूर के आज श्रोता हैं। नुक्ताचीं करनेवालों ने भी यह कहना शुरू किया है कि संतूर ने शास्त्रीय संगीत को और समृद्ध तथा प्रचलित किया है। युवक खासतौर से इस साज़ से बड़े प्रभावित हैं। अब संतूर कहीं भी बजे, मेरी ही टेक्नीक से बजता है, इस बात का बड़ा संतोष है। मैंने कश्मीर के सूफियाना कलाम के कलाकार मुहम्मद अब्दुल्ला तिब्बत बकाली कश्मीरी को सुना है। तब मैं छोटा-सा था। पर तभी से सोचा था कि इस साज़ को मैं नए रंगों से भर दूँगा।

मैंने पूछा—शिव जी, संतूर के कुछ यादगार प्रोग्राम आपकी स्मृति में होंगे। उनके बारे में बताइए।

बोले—पंडित नेहरू की पुण्यतिथि पर शांतिवन में शास्त्रीय संगीत का प्रोग्राम था। इसका रेडियो से सीधा प्रसारण होनेवाला था। श्रीमती गाँधी, जाकिर हुसैन के अलावा और भी कई लोग थे, प्रोग्राम हुआ। उसके बाद श्रीमती गाँधी ने कहा, मैंने संतूर कई बार सुना है, पर इसमें इतनी मधुरता छिपी है, ये न जानती थी, शिव जी आपने इसे कहाँ-से-कहाँ पहुँचा दिया! मन बड़ा प्रसन्न हुआ। कलाकार दिन-रात लगन व मेहनत से काम करता है, अगर देश का प्रधानमंत्री उत्साह बढ़ाए, तो बहुत अच्छा लगता है।...

...जब ईरान के शाह भारत आए थे, तब ये पता लगाया गया कि ईरान में कौन-कौन-से साज़ बजते हैं। संतूर वहाँ का प्रचलित साज़ है। मुझे न्यौता मिला। यामिनी कृष्णामूर्ति का भी प्रोग्राम था।...

...यामिनी जी का प्रोग्राम पहले रखा गया था। मैं हैरान था। अक्सर नृत्य का कार्यक्रम बाद में होता था। तभी एक महिला आईं। उन्होंने आकर कहा, पहले संतूर का कार्यक्रम होना चाहिए। बाद में पता चला कि वे प्रधानमंत्री के दफ्तर की ही कोई थीं। प्रोग्राम में प्रधानमंत्री भी आई थीं। लोगों ने प्रोग्राम की खूब सराहना की। मन बड़ा प्रसन्न हुआ। इस कार्यक्रम के दो महीने बाद ईरान से एक व्यक्ति आया। वहाँ पंद्रह दिन का एक समारोह होता है, वह व्यक्ति उसी

का न्यौता लेकर आया था। उसने कहा, शाह आपका संतूर-वादन सुनकर गए, तो उन्होंने सोचा कि इस बार समारोह में हर मुल्क का संतूर-वादक बुलाया जाना चाहिए। इस प्रोग्राम में भारत के अलावा रूमानिया, चीन, ग्रीक, और ईरान के कलाकार भी शामिल थे। बड़ी धूम से प्रोग्राम हुआ। ईरान में इस समारोह के पंद्रह दिनों में कला के हर रूप को निखारकर लोगों के सम्मुख रखा जाता है। प्रोग्राम के बाद मैंने सभी संतूर-वादकों को अपने होटल के कमरे में बुलाया। वहाँ सात-आठ घंटे तक बातचीत हुई। हम सब एक ही साज़ बजानेवाले थे। हमारी एक ही दिलचस्पी थी—संतूर। आज तक शायद ही कभी एक ही साज़ बजानेवाले इतने कलाकार इतनी देर एक कमरे में बैठे उस पर बहस कर पाए होंगे। हम सब ये सोचते रहे कि इस साज़ को कैसे और खूबसूरत बनाया जा सकता है।...

...बातचीत के बाद उन लोगों ने कहा था, हम कभी सोच भी नहीं सकते थे कि संतूर इस तरह भी बजाया जा सकता है। ईरान के कलाकार ने कहा, जब मैं आपका संतूर-वादन सुन रहा था, तब मुझे यही लग रहा था कि इससे अच्छा संतूर मैंने आज तक नहीं सुना। उन्होंने कहा, यह ईरान का साज़ है, पर सबसे अच्छा वादक भारत का है। फिर हम सबने एक-दूसरे का साज़ बजाकर देखा। मैंने उनके साज़ों पर भारतीय धुनें बजाईं। उसका आनंद शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। उन सबके चेहरे प्रसन्नता से भीग गए थे। मैं भी भीतर तक नम हो चला था। उन सबने कहा, भारतीय संगीत बड़ा ऊँचा और गहरा है। मैंने उनसे कहा, पर्शियन में संतूर को सौ तारवाला कहते हैं। आपके संतूर में बहत्तर तारें हैं। फिर इसका नाम संतूर कैसे हुआ? बल्कि हमारे प्राचीन ग्रंथों में शततंत्री वीणा का जिक्र है। कश्मीर में जो पुराने साज़ हैं, उनमें सौ ही तारें हैं। क्या इससे ये साबित नहीं होता कि ये भारत ही का साज़ है? वैसे भी जब जिप्सी उत्तर भारत से यूरोप गए, तो ये साज़ भी लेते गए होंगे। वास्तव में यह भारत की शततंत्री वीणा ही होनी चाहिए।

शिव जी ने आगे बताया—विदेशों में लोग कलाकार की बात का बड़ा एहतराम करते हैं। पर जब तक अपने ही लोग नहीं समझ पाते, तो बड़ी तकलीफ होती है। जब लोग ये बात कहते हैं कि संतूर उतना प्रचलित साज़ नहीं, जितना कि सितार, तब वो ये भूल जाते हैं कि सितार पिछले सात सौ बरसों से बजाया जा रहा है, जबकि संतूर को एक ही व्यक्ति बजा रहा है और पिछले

30 बरसों से ही शास्त्रीय संगीत में उसका पदार्पण हुआ है। मैं इसे भगवान का चमत्कार ही मानता हूँ पन्नालाल घोष पहले व्यक्ति थे, जो बाँसुरी को इस स्तर पर लाए। वैसे तो बाँसुरी कन्हैया के जमाने से बज रही है। इसी तरह सितार या सरोद के साथ मुकाबला अन्याय नहीं तो और क्या है?

मैंने कहा–शिव जी, आप बड़े भाग्यशाली कलाकार हैं कि आपके जीवन में ही आपका साज़ इतना प्रचलित हो चुका है। हम डोगरों का सिर गर्व से ऊँचा उठ जाता है, जब हम ये कहते हैं कि शिव जी हमारे जम्मू के हैं। खासतौर पर हम तो एक ही गली के हैं। आज देश-विदेश में लोग शिव और संतूर को एक ही मानते हैं। सच में आप संतूर के भगीरथ हैं।

शिव जी चुप लगा गए। फिर कहने लगे–मेरे दोनों बेटे भी संगीत के प्रति काफी आकर्षित हैं। मैं उन पर उनका भविष्य लादना नहीं चाहता। अपने भविष्य के प्रति दिलचस्पी उनकी अपनी है। इसका मुझे भी पता न था। पाँच-एक साल पहले मेरी पत्नी मायके गई थीं। मैंने स्टूडियो से घर पर फोन किया तो मालूम हुआ कि सोनू संतूर को सुर में कर रहा है। मैं हैरान हो गया। संतूर का सुर मिलाना बड़ा मुश्किल काम है। मेरे मन में ये भी खटका था कि कहीं तोड़ न दे। घर आकर देखा तो संतूर की एक-आध तारें टूटी हुई थीं पर मिला हुआ था। तब मेरा बड़ा लड़का सोनू ग्यारह बरस का था। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। और अब हम बैठकर संगीत पर बातचीत भी करते हैं। मैं सिखाता भी हूँ।

मैंने कहा– शिव जी, जितनी प्रसन्नता आपने अपने माँ-बाप को दी है वो मैंने उनके खिले हुए चेहरों पर कई बार देखी है। जो हम अपने बुजुर्गों को देते हैं वो हमें अपने बच्चों से मिलता भी तो है।

शिव जी फिर बोले–छोटा रोहित धुनें निकालता है। उसे अपनी पसंदीदा धुनें साज़ों पर बजाना अच्छा लगता है। सोनू तो ऐसे भी करता है कि जो मैं सवेरे अपने शागिर्दों को सिखाता हूँ, वही शाम को संतूर पर बजा लेता है। पर मैं इन पर कुछ लादना नहीं चाहता। इनकी इच्छा जो होगी, वही ये करेंगे। अब मान्यताएँ बदल गई हैं। मेरा बेटा मेरा दोस्त भी है।

और पत्नी? मैंने पूछ लिया।

कहने लगे–वो भी मेरी दोस्त ही है। मैं स्त्री को गुलाम नहीं समझता। अपने बराबर का इंसान समझता हूँ। मेरी पत्नी ने अपने आपको मेरे अनुरूप

ढाला है, मुझे बड़ा अच्छा लगता है। मनोरमा पिता जी और माता जी की पसंद हैं। उन्होंने हाँ करने के बाद मुझे लड़की सिनेमा हॉल में दिखाई थी। वहाँ महाभारत फिल्म लगी थी।

शिव जी कहने लगे–फिल्म का नाम सुनते ही मैंने झट हाँ कर दी। ...ये कहकर वो खूब हँसते हुए बोले–हमारी हाँ-ना तो खानापूरी थी। फैसला तो पहले ही हो चुका था। बस शादी हो गई। मनोरमा को संगीत का विशेष शौक न था। शादी के बाद हम कुर्ता पहने फ्लैट की बालकनी पर खड़े रहते। हमारी नौकरी तो थी नहीं। जब रिकार्डिंग होती चले जाते। धीरे-धीरे बेबी इन सबकी आदी हो गई। हम उसे बेबी ही कहते हैं। अब तो कई बार महीनों बाहर ही रहना होता है। अगर भारत में हो तो भी आना-जाना लगा ही रहता है। मेरे सभी प्रोग्राम बेबी ही देखती है। वो मेरी दोस्त ही है। मैं इस मामले में अपने आपको भाग्यशाली ही मानता हूँ।

मनोरमा शिव जी से दस बरस छोटी हैं। हम सब भी उन्हें बेबी ही कहते हैं। उनमें इतनी सादगी और खुलापन तथा दोस्ताना-सा है कि कभी भाभी कहने का खयाल ही नहीं आता। उनका कहना यह है कि कलाकार से शादी हो, ऐसा कोई ध्यान नहीं था। पर मेरे दादा जी की बड़ी मरजी थी। उन्होंने शिव जी को कई बार दरबार में अपने पिता जी के साथ देखा था। उन्हें शिव जी, जब से बच्चे थे, तभी से बहुत अच्छे लगते थे। हमारे परिवार में ज्यादातर सब व्यवसाय करते हैं। दोनों परिवारों के रहन-सहन में बेहद फर्क था तो भी जितना प्यार मुझे ससुराल में मिला, मुझे कभी लगा ही नहीं कि कहीं और आ गई हूँ। शादी के बाद मैं और शिव जी महीना-भर श्रीनगर चले गए थे। जब वापस आए तो शिव जी ने माता जी से कहा, आप चाहें तो बेबी यहीं रहेगी पर मेरा काम रुका पड़ा है, मुझे अब जाना ही पड़ेगा। माता जी ने कहा, मैंने इसे तुम्हारे लिए ब्याहा है अपने लिए नहीं। तुम इसे ले जाओ। घर बनेगा तो हम भी आ जाएँगे। बंबई में मुझे शुरू-शुरू में अजीब लगता था। धीरे-धीरे आदत हो गई। उन खाली दिनों में हम पानी-पूरी खाने जाते। दिन में तीन-तीन सिनेमा देखते। अब तो इन्हें समय ही नहीं मिलता। इनका प्रोगाम हमारे पूरे परिवार का होता है। मैंने तो अपने आपको बिल्कुल इनकी तरह ढाल लिया है।

मनोरमा जी से मैंने पूछा–आपको गाने का शौक है?

बोलीं–मुझे शास्त्रीय संगीत अब खूब अच्छा लगता है। किशोरी

अमोणकर, अली अकबर खाँ—सबको सुनती हूँ। अच्छा संगीत मेरी रूह को छूता है।

मैंने ज़रा शरारत से पूछा—हमारे शिव जी देखने में कामदेव हैं। क्या कोई किस्से-विस्से भी होते हैं?

खुशमिजाज मनोरमा हँसकर बोलीं—इन्हें सीधा नहीं समझना। शुरू-शुरू में खूब चिट्ठियाँ आती थीं। कई दोस्त लड़कियाँ आतीं। मैं भी उनके पास बैठती, गप्पें मारती। कभी वो लोग संगीत की बातें करतीं, कभी हस्तरेखा की, तो कभी ज्योतिष की। क्या फर्क पड़ता है? पति तो मेरे ही हैं। फिर प्रोग्राम के बाद प्रशंसिकाएँ घेर लेती हैं, तो भी मैं कभी मंच पर नहीं जाती, नीचे बैठी प्रतीक्षा करती हूँ। जितनी प्रेरणा प्रशंसिकाओं से मिलती है, उतनी पत्नी से थोड़े ही मिल सकती है! पति-पत्नी का रिश्ता विश्वास पर रहे तो ये सब बातें मायने नहीं रखतीं। मैं जानती हूँ, शिव जी को संगीत से ज्यादा किसी चीज में दिलचस्पी नहीं है। वे घरेलू आदमी हैं। साधारण पति, असाधारण कलाकार। घर में दोनों बेटों को बिठाकर दोस्तों की तरह बातें करते हैं। मुझसे ज्यादा बच्चे इन्हें चाहते हैं। शिव जी घर रहते हैं तो मैं अपने आपको बड़ा सुरक्षित महसूस करती हूँ। ये जहाँ भी जाएँ, भले ही वहाँ इनका जाना मुझे पसंद न हो, मुझे बताकर जाते हैं। इसलिए कोई तीसरा आदमी नई बात नहीं कह सकता। कभी फोन आए कि शिव जी की कार वहाँ खड़ी है, तो मुझे पता होता है। मैं ऐसे फोन करनेवालों का मुँह वहीं बंद कर देती हूँ।...

...मुझे इन्होंने पूरी आजादी दे रखी है। कहीं आने-जाने से नहीं रोकते। इन्होंने मेरे साथ कभी झूठ नहीं बोला। पर मैंने इनके साथ सैकड़ों झूठ बोले होंगे।...ये कहकर वे हँस पड़ीं।

मैं शिव जी से पूछना चाहती थी कि पत्नी का इतना विश्वास कैसे हासिल किया? पर चुप लगा गई। एक और बात पूछी।

शिव जी कहने लगे—बचपन से ही सबका प्यार मिला, पर जितना मुझे संगीत हिला पाता है, दूसरी कोई चीज नहीं हिला पाती। स्त्रियाँ मुझे अच्छी लगती हैं। उनसे मुझे प्रेरणा मिलती है। औरत सिर्फ सुंदर ही नहीं, अक्लमंद भी होनी चाहिए। कलाकार की कल्पना में जो जीता है, वो यथार्थ तो नहीं है, यदि होता, तो उसका आकर्षण नहीं होता। कल्पना के बगैर इंसान रह सकता है, कलाकार नहीं। मैं रोमांटिक आदमी हूँ। रोमांस में कल्पना है। उसी में

सौंदर्य है, वही रूह की गिज़ा है। मैं जब भी आँखें बंद करके अपना साज़ बजाता हूँ, वो सामने खड़ी रहती है। मैं उस वक्त इतना भावुक होता हूँ कि बोल नहीं सकता। मेरी जबान जैसे गूँगी हो जाती है। बोलता है मेरा साज़, सुनती है वो कल्पना। वहाँ से दुनिया में दोबारा लौटने में कुछ वक्त तो लगता ही है। लोग कभी-कभी समझ नहीं पाते।...

...मेरे संतूर का मकान बन गया है। अब इसे आबाद होना है। मैं चाहता हूँ, जहाँ से मैं इसे छोड़ूँ, वहाँ से मेरा कोई शागिर्द इसे पकड़ ले। हमारी रियासत में सरकार भी संगीत के वर्कशाप कैंप लगा सकती है। हमारे बच्चे जो इतने बड़े-बड़े उस्तादों का दीदार भी नहीं कर पाते, उनको सुन सकते हैं, उनसे सीख सकते हैं। संगीत में बढ़ा हर बच्चा हमेशा अच्छा ही इंसान बनेगा, इसका मुझे विश्वास है।

बा'जी, रेश्माँ दा दिल हाल्ले वी नईं लग्गेया

खानाबदोश कितना सुंदर लफ्ज है। खानाबदोशों का खयाल आते ही, जमीन की हदें खत्म हो जाती हैं। कोई जगह पराई नहीं रहती। जैसे आशिक को हर चीज सुंदर लगती है, अपनी लगती है। मानो कुदरत अपने ग़ैबी हाथ से आपको हौले-हौले इधर-से-उधर, उधर-से-इधर ले जा रही हो। आँखों के आगे रास्ता बिछ जाता है, पगडंडियाँ बल खाने लगती हैं।

पगडंडियाँ और रास्ते, जो हमेशा एक पड़ाव तक जाते हैं, मंजिल तक नहीं। जो सुख मंजिल ढूँढ़ने में है, वो पाने में कहाँ है। यह सुख अपने घोड़ों-खच्चरों पर लदे उनके आगे-पीछे चलते खानाबदोशों की आँखों में देखा जा सकता है।

खानाबदोशों का जिक्र करते ही मुझे अपने जम्मू-कश्मीर की सुंदर जरनैली सड़क याद आ रही है, जिस पर भेड़ों के रेवड़ों को एक तरफ करते सीधे-सादे हमारे बक्करवाल अपनी पतली सोटियों से सूँ-सूँ की आवाज पैदा करते आनेवाली गाड़ियों के लिए रास्ता बनाते हैं।

मजाल है जो आप उनको अनदेखा कर जाएँ। चाँदी के बटनों के काँपते घुँघरू उठती-चढ़ती साँस की लय में तपे हुए सुंदर मुखड़ों की शबनम को पीते जाते हैं। माँडियों में गुँथे बाल, सिर पर एक खूबसूरत-से मुकुट में जड़े नगीनों की तरह लगते हैं। खच्चरों पर बैठे मैले, पर सुंदर बच्चे उजाड़ में उगे फूलों की तरह टकटकी लगाकर आपको देखते हैं। हैरानकुन खच्चर, अपने घुँघरुओं को कानों से मक्खी उड़ाने के बहाने लाल-हरी रस्सी से बनी अपनी जीनें दिखाने के लिए बजा जाते हैं। करिए तो नजरअंदाज कैसे करते हैं!

इनकी आँखों में हम और आप जैसे महदूद लोगों की तरह अपना एक घर

नहीं घूमता। इनकी आँखों में हैं--सातों आसमान और माँ के आँचल की तरह कहीं से भी न घटनेवाली अपनी धरती। ये बक्करवाल खानाबदोश हैं। धरती माँ के, पहलौठी के बेटे। इनके दिन घोड़े की पीठ पर या रास्तों पर गुजरते हैं, इनकी रात वहाँ होती है, जहाँ शाम हो जाए। वहीं खेमे गड़ जाते हैं, मिनटों में शतरंज की बाजी की तरह बस्ती बस जाती है, उजड़ जाती है। बस्ती इन्हीं के दम से है। इनके खेमे कहीं भी गड़ सकते हैं, मिल्कियत जैसी कोई छोटी चीज इनके पास नहीं है। अपने लोकगीत भी नहीं, उनके भंडार भी इन्होंने मिल्कियत के दीवानों के वास्ते खोल दिए हैं।

वह जादुई आवाज

इन खानाबदोशों में कई तरह के हीरे हैं, जो रास्तों में, पगडंडियों में, सहारा में चमकते हैं और वहीं विलीन हो जाते हैं। पर क्या कोई टुकड़ा कोहेनूर हो, तो भी छुप सकता है? नहीं।... तभी तो हम रेश्माँ की पुरसोज़, दर्द, मुहब्बत, पीड़ा और बिछोड़े से भरपूर आवाज को सुन सके।

टन्न...टन्न...टन्न...जैसे मस्जिद में किसी ने अजान दी हो, जैसे मुँह-अँधेरे कोई गृहिणी मंदिर के घंटे बजा जाए, जैसे गुरुद्वारे के शब्द में कीर्तिन की उठान हो। वैसे ही अपना-अपना-सा स्वर है रेश्माँ का। बात करने में और गाने के वक्त एकदम बदला हुआ। रूह की बात, राज का रस उँडेलते उसके बोल आपके कानों में लोकगीतों का दर्द भर जाते हैं। यह दर्द सिर्फ लोकगीतों के माध्यम से कहा जा सकता है।

राजस्थान के खानाबदोशों के यहाँ किसी का ब्याह है। बच्चे सो गए हैं खेमों के आगोश में। बड़े जग रहे हैं—अपनी चिलमों, बातों और घुली हुई मेहँदी के साथ। रात की तीरगी और शादी के शोर को अपने वजूद में छिपाती एक मस्त दर्दीली आवाज सारे माहौल में गूँज गई है। सारा शोर थम गया है। चिलमों का धुआँ गायब है। कोयले ठंडे पड़ रहे हैं। लोग सुन रहे हैं—उस आवाज को।

तभी अपने खेमे में से उठकर आँख मलती, कपड़े सँभालती, नींद से लड़ती 9-10 साल की एक बच्ची वहाँ आ खड़ी होती है। अचंभे के साथ। या अल्लाह, कितनी काली-स्यांह औरत है, पर कैसी आवाज, कैसी नूरी-नूरी-सी हो रही है!

इस जादू से जगी यह लड़की सोचती है—अल्लाह, क्या मुझे ऐसी आवाज दोगे। उस माहौल के जादू से जगकर अल्लाह ने जरूर कहा होगा—इससे भी अच्छी। तभी उस बच्ची को लगा, ये काली औरत सुंदर होती जा रही है। धीरे-धीरे उसके गाने से उजाला हो गया है, जो इस बच्ची की रूह में समा गया है। बड़ी होते-होते गाने की आवाज लगाती है, कभी अकेले, कभी मेहँदी रात में औरतों के साथ। सब हैरानकुन हैं। जैसे इस आवाज की कोई और जात है। यह जमीन की आवाज नहीं है। यह आवाज आसमान की है, जहाँ हल्के-फुल्के बर्फ के गोले अपने घरों की ठंडी छुआन से सबकी आँखें ठंडी करते फिरते हैं।

अब खानाबदोशों के उस कबीले की कोई मेहँदी उस छोटी बच्ची के गाने के बगैर नहीं चढ़ती। कोई बन्ना अपनी बन्नी से उसकी आवाज की चाशनी में घुले बगैर गान्ना नहीं पहनता। यह आवाज रेश्माँ की है।

सीधी-सादी रेश्माँ घर में आकर बैठी है। पूछती है—बा'जी, साहब किधर है?

अपने हल्के-से मूड में मैं हँसते हुए कहती हूँ—निकाल दिए!

वह, इत्मीनान की साँस लेकर, बगैर हैरान हुए कहती है—ठीक किया, फायदा भी क्या है!

मैं डर जाती हूँ, यह क्या कह रही है! और हँसी में अपने उस जज्बे को डुबो देती हूँ—मैं कहती हूँ रेश्माँ, मुझे कहानी नहीं चाहिए। मुझे चाहिए तुम्हारी जिंदगी के फड़कते पन्ने, जिनसे यह बहुचर्चित उपन्यास बना है।

वह अपनी आँखों से सीधे मेरी ओर देखती है। जैसे हीरे में नीलापन हो तो उसका सौंदर्य बढ़ जाता है, वैसे ही नीलापन लिए उसकी आँखों के हीरे दमकते हैं—कभी दर्द से भरे, कभी जिंदगी से खाली। मैंने उसका रेकार्ड लगाया हुआ है। उसकी आवाज कमरे की दीवारों से टकराकर उसी की आँखों में पनाह माँगने लगती है।

'हाय ओ रब्बा नैइयों लगदा दिल मेरा…'

रेश्माँ अपनी आवाज-से-आवाज मिलाती है। उसके नक्श बदल जाते हैं, आँखें बंद होती हैं, नाक, फड़कती है, दर्द से तिलमिला उठते होंठ काँपते हैं। वह मुझसे कहती है—बा' जी, रेश्माँ का दिल हाल्ले वी नईं लग्गेया।

मैं मुस्कराकर कहती हूँ—किसका दिल लगता है भई! हाँ, पर जब तुम यह गीत गाती हो, लोग तुम्हारी आवाज सुनते हैं, मैं तुम्हारे बदलते तेवर देखती हूँ।

तुम्हारे ये तेवर मुझे कई तरह से रेगिस्तान में ले जाकर खड़ा कर देते हैं, जहाँ हर ज़र्रा प्यासा है। जहाँ हर पौधा बौना है। तुम ऐसे डूबती हो, डूब-डूब जाती हो। क्या कोई बहुत अपना याद आता है ? क्या कोई मिलने से पहले बिछड़ गया। चेहरा तुम्हारे नक्श बदलता है। सच बताओ, कौन था वह ?

रेश्माँ और उदास हो जाती है। कहती है—बा'जी, मुहब्बत करने का तो वक्त ही नहीं मिला। अठारह साल की उम्र में माँ बेवा हो गई। माँ का और चाचा का शरीका था। चाचा यह कहकर मुझे साथ ले गए कि मेरे भाई की बेटी है, मैं इसे बड़ा करूँगा। नानी के घर भाई रह गया।

दर्द-भरी यादें

एक लंबी उसाँस लेकर रेश्माँ ने अपनी शलवार का पहुँचा थोड़ा-सा ऊपर हटाया और घुटने पर भँवरे की तरह बैठा नीला दाग दिखाते हुए कहा—मेरी चाची मुझे पत्थरों से मारती थी। ये मेरी टाँग पर देख··· और ये नाक पर···

आजकल उसकी नाक से अक्सर खून बहता है। अल्लाह रहम !···सर्दियों में कपड़े उतरवाकर ठंड में मरने के लिए छोड़ देती थी। सर्दी में अकड़ी नाक पर पत्थर रखकर मारा था, तभी तो मेरी नाक यहाँ से बैठी हुई है। बचपन का वह दुख कोई शोहरत, कोई मुहब्बत, कोई नाम, कम नहीं कर सकता। जब जुल्म हद से बढ़ गया, तो नानी के घर भिजवा दी गई। फिर मामा के लड़के से चौदह साल की उम्र में शादी हो गई। दो साल बाद गौना हुआ। साल-भर बाद बेटा हो गया, इश्क भला कब करती।

मैंने कहा—रेश्माँ, आज मैंने यह फिर जाना कि इश्क से भी ज्यादा शिद्दत से जो महसूस होता है, वह है दर्द, जिसकी कोई दवा नहीं होती। जो हर दिल में नहीं होता। पर जिस दिल में भी होता है, वह दिल खानाबदोश होता है। अपनी खानाबदोश जिंदगी में फिर लौटने को जी चाहता है क्या ? मैंने बात आगे बढ़ाई।

रेश्माँ बोली—क्यों नहीं, मैं अपने रिश्तेदारों से मिलने जाती हूँ। बड़ा मन करता है कि दो-तीन महीने वही जिंदगी फिर जीऊँ। पर सोचती हूँ, रेश्माँ, अब तेरी रेडियू में, टेलीविजन में फोटो आ गई है। लोग पहचानते हैं, कहीं मेरे बच्चों को कुछ न हो।

रेश्माँ से मैंने जब उसके बच्चों के बारे में पूछा, तो कहने लगी—दो-दो, चार-चार महीने के बाद प्रोग्राम करके जब मैं वापस घर जाती हूँ, तो बच्चों को देसी घी में खाना बनाकर अपने हाथ से खिलाती हूँ।

और उनके अब्बा को ? मैंने कहा।

वह बोली—वो अपने आप खा लेता है।

मैंने फिर छेड़ा—क्या शादी के बाद, गौने से पहले कभी तुम अपने खाविंद से मिलीं ?

रेश्माँ ने कहा—नहीं, वो अगर उस रास्ते से आता था, जहाँ से मैं आती थी, तो रास्ता बदल देता था। वो मामा का लड़का है, पर जब बुजुर्गों ने हमारी शादी तय की, तो हमने एक-दूसरे को देखना तक बंद कर दिया। बड़ी शर्म लगती थी !···

···खानाबदोश जिंदगी में तीन-चार सौ मील पैदल या घोड़ों पर चलते थे। जहाँ शाम हुई, रुक गए। कोई गाँव हुआ, तो उनसे तंदूर माँग लेते थे। रोटियाँ लगाईं, खाईं और खेतों में सो गए। सुबह फिर अजान के वक्त चल दिए। गाँव-गाँव घोड़े खरीदने-बेचने का काम करते थे। अब भी मेरा खाविंद घोड़ों का व्यापारी है।

मैंने पूछा—तुम पैदा तो पेशावर में हुईं, तो फिर राजस्थानी भाषा···

वह मेरी बात काटते हुए बोली—मैं पेशावर में पैदा हुई। मेरा नाम पठानी रखा गया। एक बार बीमार हो गई। माँ ने मेरा नाम बदलकर रेश्माँ कर दिया।

मैंने कहा—पहले इन्हीं इलाजों से माँएँ अपने बच्चे ठीक कर लेती थीं।

रेश्माँ खुश होकर कहने लगी— हम घर में राजस्थानी ही बोलते हैं, पर पंजाब में रहते हैं, तो पंजाबी भी बोलते हैं। हमारे घरों में शादियों पर माँड-बनड़े सब राजस्थान के ही गाए जाते हैं। हमारी बुजुर्ग औरतों के गानों में वो मिठास है कि उनके सामने मैं तो कुछ भी नहीं हूँ। अल्लाह ने ही मुझ खद्दर को रेशम कर दिया।

मैंने पूछा—बचपन में तुमसे सब गाने के लिए कहते थे ?

बोली—हाँ, बुजुर्ग ध्यान रखते थे कि कौन लड़की अच्छा गाती है। मेरी सब तारीफ करके कहते, रेश्माँ, दो बोल सुना दो। ठंडी हवा, ठंडा पानी, अपनी बादशाही, अपना दरबार। हम उन जंगलों को महल बना लेते थे। गाँव से

कभी शहरों में जाते, जहाँ मंडियाँ लगतीं। जाते-जाते रास्ते में कभी पक्की सड़क या रेलगाड़ी की लाइन आ जाती, तो आधा-आधा घंटा खड़े होकर हैरानी से उस पटरी को, उन सड़कों को देखते, जहाँ से गाड़ियाँ गुजरती होंगी। न जाने कैसे-कैसे लिबास उन औरतों ने पहने होंगे, जो गाड़ी पर मस्ती से बैठी होंगी। यहीं से रेल गुजरती होगी। अल्लाह, कितना शोर होता होगा! तभी हमारा काफिला आगे बढ़ जाता।

रेश्माँ यह सब बताते हुए यादों में खो गई। वह मेरे पतिदेव के संगीत के कमरे में मोटे-से गद्दे पर लेट गई, फिर बोली—बा'जी, मुझे सिर्फ तुम्हारे घर में नींद आती है, और कहीं नहीं आती।

मैंने कहा—नींद हमेशा अपने घर में आती है।

वह खुश होकर बोली—हाँ, सही बात है। पहली बार आई थी, तो भी मैं सो गई थी। आपने मेरा वैसे ही खयाल रखा, जैसे मेरे घर के लोग रखते हैं। मुझे जगाया ही नहीं।

मैंने कहा—रेश्माँ, तुम ऐसे सो गई थीं, जैसे थका हुआ बच्चा रो-रोकर सो जाता है।

रेश्माँ ने खान को इशारा करके कहा—देखा, कैसी सुंदर बात बा'जी ने कही है। मेरे बच्चे रोकर सोते थे, तो मैं कभी न जगाती थी।

पहली बार रेडियो स्टेशन में

बातों-ही-बातों में रेश्माँ ने बताया—

हाँ, शाहबाज कलंदर के मजारवाली बात। वहीं तो मैं गा रही थी, जब सलीम गिलानी ने सुना था। हम अपने भाई की शादी की देग देने गए थे। हमने मन्नत मानी हुई थी। वहीं मैं गा रही थी, दमादम मस्त कलंदर—मेला लगा हुआ था, इसलिए लोग इकट्ठे हो गए। गिलानी साहब ने कहा, तुम्हारी आवाज अच्छी है, रेडियो में गाओगी? मैंने कहा, नहीं, मेरे कबीलेवाले नाराज होंगे। उन्होंने सिगरेट की डिब्बी पर अपना पता लिखकर दिया और बोले, कभी मन हो तो आना कराची रेडियो में, मैं डायरेक्टर हूँ।...

...दो-तीन साल गुजर गए, पर सिगरेट की डिब्बी पर वह पता मेरे पास महफ़ूज़ रहा। दो-तीन साल बाद हम व्यापार के लिए कराची के पास गए। खेमे लग गए। हमने सोचा, देखें कराची के लोग कैसे हैं? कैसे लिबास हैं, क्या

खाते हैं ? हम नहीं जानते थे, किसकी जमीन है। खेमे लग गए। एक बस्ती बस गई। हम तो ठहरे बादशाह। मैंने अपने भाई से कहा—चलो, रेडियू देखें, जो डब्बा गाता है। पूछते-भालते पहुँचे, तो चपरासी अंदर न जाने दे। मैंने सिगरेट की डिब्बी दिखाई, तो उसने बेदिली से कहा, अच्छा जाओ।...

...गिलानी साहब ने देखा, तो पहचान लिया। मैं शादी का जोड़ा पंहने थी। कहने लगे, बड़ी जल्दी आई रेश्माँ ? मैंने कहा, साहब, रेडियू दिखा दो, कैसे होता है ? वे बोले, गाना सुनाओगी। मैंने कहा, नहीं, मेरे कबीले के लोग खफा हो जाएँगे। वे बोले, हमें तो सुनाओ। मैंने कहा, आप सुन लो। उन्होंने एक औरत को बुलाया और अंग्रेजी में कुछ समझाया। वह मुझे एक कमरे में ले गई। एक डंडा-सा खड़ा करके बोली, इसके सामने गाओ, देखना मेरी तरफ। कुछ साजवाले भी आ गए। मैंने पाँच-छह गीत सुनाए।...

...एक बाबू ने गाते हुए मेरा फोटो भी खींच लिया। मैं उसके पीछे भागी। यह क्या किया, फोटो क्यों खींचा ? मैंने गिलानी साहेब से कहा कि मैं अब न आऊँगी। मन में सोचा—रेश्माँ, अगर फोटो खींचता है, तो दफा हो। भाई ने पूछा, रेडियू में गाया तो नहीं ? मैंने कहा, नहीं। यह तो मकान था। मकान कैसे डिब्बा हो सकता है ? रेडियू तो डिब्बा होता है ! हमने इत्मीनान की साँस ली, कुछ भी तो न बिगड़ा था। पर भाई डर गया ! कहीं रेडियूवाले पकड़कर न ले जाएँ। हमने खेमे उखाड़े, कुछ साथ लिया, कुछ पीछे छूटा और भाग लिए।

कुछ दिनों बाद, मैं एक शहर में भाई की शादी के कपड़े बनवाने ताँगे पर जा रही थी। एक जगह दुकान पर देखा, एक रिसाला हवा में हिल रहा था। मेरे झुमके, मेरा शादी का जोड़ा, वही डंडा आगे और मैं गा रही थी। मैंने ताँगा रुकवाया, दौड़कर वह रिसाला खरीदा। वरी बनाना भूल गई। एक-दो रिसाले होते, तो खरीदकर फेंक देती। ये तो हर दुकान में थे।...

...बारह आने पर रिसाला अखबारे-ख्वातीन मैंने अपनी रजाई में छुपा लिया। गुमसुम हो गई मैं। किसी लड़की को बुलाकर पढ़वाया। उसमें मेरे नाम दो हजार का इनाम था। गुमशुदा को जो ढूँढ लाए, दो हजार पाए ! सदर अय्यूब मेरा गाना सुनना चाहते थे। हमारा तो सिपाही को देखकर दम निकलता था, सदर को गाना कौन सुनाएगा ? मैंने कहा रेश्माँ, ले और गा। रिसाले में लिखा था—सहरा का फूल गुम हो गया है ! मुझे हँसी आ गई। एक तो पकड़वाने का पूरा इंतजाम है, ऊपर से फूल बना रहे हैं।...

···मैंने अपनी माँ को सब बताया। वो काँपने लगी। रेश्माँ क्या बिरादरी से बागी हो जाएगी? कबीले का नाम डुबो दिया। सारा गुस्सा गिलानी पर आया। मैंने कहा, इसी ने रिसाले में फोटू छपवाया है, सारे पाकिस्तान में बाँटा है। इसी के हाथ में ताला-कुंजी है, चाहे तो सारे रिसाले छुपा दे।

मैंने जिस लड़की से रिसाला पढ़वाया था, उसी से गिलानी को चिट्ठी लिखवाई। सिगरेट की शैतान डिब्बी अभी भी मेरे पास थी, जिस पर गिलानी का पता था। फिर क्या हुआ कि एक दिन वे रिसाले की कापियाँ झोले में डालकर, हमारे खेमे ढूँढ़ते आ गए। सबसे पूछा, रेश्माँ कहाँ है? मैं तो पठानी थी, इसलिए जो असली रेश्माँ थी, उसे कबीलेवालों ने बुलवा दिया।

मैं बाजार गई थी। उस बुड्ढी को देखकर गिलानी साहब ने मेरा फोटू दिखाया। ये रेश्माँ है! कबीलेवालों के पाँव काँपने लगे, किसी को कुछ पता न था। जब मैं आई, तो सारी बात समझाने लगी। मैंने गिलानी साहब को कहा—आपने तो मेरा नाम सारे पाकिस्तान में जाहिर करवा दिया। डाकुओं की तरह मेरा फोटू भी छाप दिया। मैं क्या फरार थी?···

···उन्होंने कहा, तुम अपना पता भी देकर नहीं गईं। मैंने कहा, जिस बाबू ने फोटू लिया था, वह क्या मेरे मामे का लड़का था—जो उसे पता देकर आती?

इस पर मैंने रेश्माँ की बात काटकर कहा—मामे के लड़के को तो तुम पता देकर ही आती हो!

वह हँसकर बोली—क्या करूँ, वो तो खाविंद है, नहीं तो उसे भी पता न देती! फिर कहने लगी—आपके हिंदुस्तान से रफी साहब का कोई शागिर्द गाने आया था। हम भी सुनने के लिए गए। उसकी शरारत देखो, गाने लगा—रेश्माँ जवान हो गई, तीर-कमान हो गई! वह नीचे उतरा, तो मैंने गले से पकड़ लिया—होए, तेरी माँ जवान नई होई तो रेश्माँ जवान हो गई, आ मैं तेरा तीर-कमान कस्साँ!

हम सब हँसने लगे। फिर रेश्माँ ने अपने सदर के साथ खींची फोटो बड़े प्यार से दी। यह तसवीर उसने प्लास्टिक के एक लिफाफे में रखी थी। हमारी प्रधानमंत्री के साथ उसकी फोटो वैसे ही लिफाफे में पड़ी थी। मैंने उसे छेड़ा—रेश्माँ, उसने अपने सदर की फोटो तो प्लास्टिक में सँभाली और हमारी प्रधानमंत्री की फोटो वैसे ही रखी। दो तरह का व्यवहार कैसा है भई?

झेंपकर रेश्माँ बोली—नहीं, मुझे तो जितना प्यार, जितना मान श्रीमती

गाँधी ने दिया, मैं भूल नहीं सकती, उन्होंने डेढ़-दो घंटे मेरा गाना सुना। चाय मँगवाई। अपने कमरे के पर्दे खुद हटाती रहीं। उन्होंने कहा, रेशमाँ आप गाओ, मेरे पास बड़ा समय है। मैं गाती रही। मैंने सोचा—रेश्माँ, तेरा कैसा सितारा है कि हिंदुस्तान की प्रधानमंत्री तेरा गाना सुन रही हैं?

यह कहकर रेश्माँ ने झट-से घड़ी खोलकर मेरे हाथ में रख दी और बोली—देखो ये घड़ी मुझे इंदिरा जी ने दी और कहा है—एच. एम. टी. की ये घड़ियाँ हमारे हिंदुस्तान की उत्तम घड़ियाँ हैं। पीछे उनका नाम भी लिखा है।

उम्र का हिसाब

तभी मेरी बेटी कमरे में आई। मैं उसे खाना खिलाने लगी, तो रेश्माँ की आँखें भर आईं।

भरे गले से वह बोली—इसी तरह मैं भी अपने बच्चों को खिलाती हूँ। अब बड़ी याद आ रही है। आधी रात को उठकर रोना शुरू कर देती हूँ। लंदन में मैं अपने बड़े लड़के सावन को लेकर गई। वह बीमार हो गया। मैं घबरा गई। जो डॉक्टरनी थी, वह मेम थी। बार-बार पूछे, कितने बरस का है। मैंने कहा, मैं क्या जानूँ? जिनके घर ठहरे थे वो कहने लगे, कब पैदा हुआ था? मैंने कहा, जब आम और खरबूजे चले थे। उसने पूछा, कितनी बार खा लिए? मैंने कहा, दो बार। अब तीसरी बार खाऊँगी। मेम ने कहा, वेरी गुड, बच्चा दो साल का है।

रेश्माँ से जब मैंने पूछा कि तुम्हारा आदमी कभी गाना सुनाने को कहता है, तो वह बोली—वह क्यों कहेगा? उसकी तो नीयत भरी होती है।

मैंने फिर पूछा—जब तुम सदर अय्यूब को गाना सुना चुकीं, तब तुम्हारे खाविंद ने क्या कहा?

रेश्माँ बोली— कहना क्या था, दो-तीन बरस तो आया ही नहीं। मैं प्रोग्राम करती रही। नाम होता गया। फिर उसकी फूफी, मेरी माँ मर गई, तो अफसोस करने आया। उसके दो दिन बाद ही मेरा प्रोग्राम था। मैं उसे भी साथ ले गई। जहाज पर बैठाया। बचपन में जब कभी हम आसमान में जहाज की आवाज सुनते थे, तो झाड़ियों में छुप जाते थे।...

...अब दिन में 500 मील पैदल चलनेवाले को जहाज दिखा दिया, तो वह खुश होगा ही। जब मैं पहली बार जहाज पर बैठी थी, तो मुझे अलमारी

(खिड़की) की तरफ सीट मिली । जब जहाज ऊपर उड़ा, तो मैंने नीचे देखा । मेरा कलेजा काँपा । मैंने कहा, रेशमाँ, तेरी बोटी-बोटी हो जाएगी । मैंने एक शरीफ आदमी से सीट बदल ली ।

रेशमाँ अपने अनुभव सुनाए जा रही थी– मुझे पता था अलमारीवाली सीट में क्या होता है । मैंने अपने खाविंद को वहीं बैठा दिया और उसका उड़ता हुआ रंग देखने लगी । मैंने पूछा, काँप रहा है न कलेजा ? हाँ, बैठे रहो ! गाना भी मुश्किल काम है ! ऐसे जहाजों में जाना पड़ता है । वह गुमसुम रहा । फिर प्रोग्रामवालों ने बड़ा इंतजाम किया था । पुलिस थी, दरियाँ बिछी थीं । दरी तो उसके बाप ने भी कभी न देखी होगी । लोगों ने बड़े प्यार और इज्जत से बात की । फिर थोड़ा सुधरा । पर बा'जी, आदमी के आगे कलेजा निकाल के रख दो, ये ऐसी कौम है कि क्या कहूँ ? बीवी का नाम किस खाविंद को हजम होता है ? कुढ़ते हैं, जलते हैं । उस रास्ते क्या जाना, जहाँ रेशमाँ का प्रोग्राम हो । पर बाजी, मर्द घाटे का नहीं होता । उसे गैरत होती है कि मेरी बीवी दूसरे लोगों के सामने न आए, इसीलिए बुरा मानता है । वो तो ठहरा मर्द, सात औरत कर सकता है भई ! मैं तो इसीलिए अपने खाविंद को प्रोग्रामों में लेकर नहीं जाती ।···

···बस एक बार दिखा दिया जल्वा, अब सुनो और कुढ़ो ! पर बाजी, औरत का फर्ज है, मर्द की दो बात सुन भी ले । मर्द कहीं भी जा सकता है । उसी के साए में हमें धूप नहीं लगती । दूसरे मर्द तो कह देते हैं, वो तो वैरी गुड्ड है, ओदा जवाब नैई, बस !···

जहाँ औरत-मर्द इकट्ठे प्यार से रहें, वो घर जन्नत होता है । अरे हाँ, जब वह प्रोग्राम में मेरे साथ गया था, तो एक होटल में रोज सवेरे, वो नहीं होता– कार्नफ्लेक्स, वो और आधे कच्चे अंडे हिलते हुए, दूध का जग ट्रे में आ जाए । हम एक-दो पत्तियाँ उठाकर खाएँ, दूध पी लें, पर पेट न भरे । बैरा कहे, यह फ्राइ अंडा है । मैंने कहा, इसको पकाकर, मसाले डालकर लाओ । पर पत्तियों की समझ न आए । पूछना भी अच्छा न लगे ।···

···एक दिन मैं नीचे चली गई । वहाँ एक औरत ने पत्तियाँ चौड़ी प्लेट में डालीं, उसमें दूध मिलाया, तो वे दलिए जैसी नर्म हो गईं । मैं भागती हुई कमरे में आई । मैंने कहा, होए तुआड़ा बेड़ा गर्क, इसे ऐसे खाते हैं !···

और रेशमाँ जोर-जोर से हँसने लगी । उसकी दोनों भौंहों के बीच का कील-ज़ैसा निशान चमकने लगा । मैं उदास हो गई । पर यह पूछने की हिम्मत न जुटा पाई कि रेशमाँ, यह निशान कैसा है ?

वतनदारो वतन छुई नादलायान

मुबारिक मंडी के पीछे टकसालघर में लड़कियों का स्कूल है। उसके विशाल प्रांगण में एक रोज सवेरे बगैर इत्तिला के शेख साहब आ खड़े हुए हैं। बच्चे हैरानी से उन्हें वैसे ही देखते हैं, जैसे नरगिस के फूल अपनी डंडी पर झूलते हुए चिनार के ऊँचे भव्य दरख्त को निहार रहे हों। एक लड़की सिर ऊपर, बहुत ऊपर उठाकर हाथ जोड़ती है, जैसे सूरज या चाँद को जोड़े जाते हैं। शेख साहब पूछते हैं, तुम्हारे स्कूल के लिए बस आई है, इस पर किस चीज की तसवीर बनाएँ? वह लड़की कहती है, आपकी मर्जी। शेख साहब कहते हैं, अच्छा बंदर की बनाएँ, जम्मू में बहुत बंदर हैं। सब हँसने लगते हैं। तभी स्कूल में खबर फैल जाती है कि शेख साहब आए हैं।

शेख साहब से यह मेरी पहली भेंट थी। बुलंद शख्सियत, हँसता चेहरा, दोस्ताना मुस्कुराहट। बँटवारे को चार-पाँच साल हो चुके थे। मेरे पिता जी की मृत्यु को भी इतने ही साल हुए थे। फिर उस दिन लगा था, बाप का साया थोड़ा-थोड़ा कहीं पर जिंदा है। स्कूल के आँगन मैं जब तक मैं वहाँ खड़ी रही, लगता रहा मैं ही जम्मू-कश्मीर की प्रधानमंत्री हूँ।

इतना अपनापन शेख साहब में था। ऊँचे-लंबे शेख साहब के सामने सभी बौने लगते हैं। उनसे बात करते समय हर किसी को ऊपर देखना पड़ता है। उस वक्त मैंने भगवान से माँगा था, ये शख्स जिसने जितनी आत्मीयता से बात की है, दुनिया में हर शख्स के साथ सिर उठाकर बात करे, सिर झुकाकर नहीं। सिर झुकाना उन्हें अच्छा न लगता था। फिर स्कूल में ही सुना, उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया है। उधमपुर का तारा निवास, बटोत व कुद्द की जेलें। कुद्द के मोटे-ताजे लाल-लाल टमाटर चश्मे के पानी में ग्रामीण लोग धोते हुए

कहते—शेख साहब के पास जेल में कई 'शेर' आते हैं, जो इबादत के समय उनका चेहरा देखते रहते हैं। शेख लिखते-पढ़ते हैं या कुरान शरीफ की आयतें पढ़ते हैं, तब वे उनकी रखवाली करते हैं। सुननेवाले हैरतज़दा हो जाते।

एक अनोखा दरवेश

फिर एक रोज शेख रिहा होकर आए। पूरा कश्मीर उमड़ पड़ा। शेख के हाथ में डंडा था। उसे घुमा-घुमाकर आगे बढ़ते। जिसको डंडा लगता, वह उसे तबर्रुक समझता। डंडे की मार से एक आदमी का कंधा सूज गया। दूसरे दिन वह शेख साहब के पास पहुँचा। बोला, यहाँ फूँक मारो। शेख साहब ने फूँक मारी। सूजन चली गई। ये भोले-भाले लोगों का विश्वास था, जिससे नमाज के बाद पानी में मारी फूँक के पानी से कितने ही बच्चे अच्छे हो जाते थे। लोग उसे शफआब कहते थे। वह लोगों का दरवेश था।

रिहा होकर शेर जब अपने बाग में से गुजरा, तो उस समय के हुक्मरान रोशनदानों से झाँककर देखते, किधर जाता है। जिधर जाता, हजारों पीछे-पीछे हो लेते। ये सीधे-सादे लोग जो लारी को देखकर भाग जाते थे, हुकूमत की गोलियों की परवाह किए बगैर बेखौफ शेख के पीछे ऐसे ही चलते, जैसे वह उनको रास्ता दिखानेवाला मसीहा हो। एक बार हरिपर्वत में जेल हुई। अँधेरी रात थी। साथियों ने कहा, अंदर गड्ढा होगा, उसमें हमें दफना दिया जाएगा। शेख अंदर घुसे और जाकर कहकहे लगाने लगे। शर्म के साथ सब साथी भी उनके पास चले गए।

बँटवारे के दिनों में जब सब तरफ फिरकेदाराना आँधी चल रही थी, गाँधी ने कहा था कि मुझे सिर्फ कश्मीर में रोशनी की किरण नजर आती है। यह किरण शेख मुहम्मद अब्दुल्ला है। उस वक्त जब कबायली वादी में दाखिल हो चुके थे, महाराजा अपनी लटी-पटी लेकर भाग चुके थे, शेख ने लाल चौक में अपने कार्यकर्ताओं के साथ रियासत को डगमगाने से बचाया था। पेट्रोल का एक कतरा रियासत में न था। आसपास के पनाहगीर रियासत में भरते जा रहे थे। शेख साहब ने 17 ताँगों में हिंदू परिवारों को लादकर जम्मू भेजा था। ये ताँगे 15 दिन में जम्मू पहुँचे थे। शेख के कार्यकर्ता, जो अपने आपको शेर कहते थे, हाथों में डंडे-बंदूक और हाकियाँ लिए डरे हुए हिंदुओं के घरों के आगे नारे लगाते थे—

शेरे-कश्मीर का क्या इरशाद,
हिंदू-मुस्लिम-सिक्ख इत्तिहाद।

यह नारा शेख साहब ने दिया था। उनके शेरों को बारामूला के पास सड़क पर चार साल का एक बच्चा मिला, जिसका मजहब मालूम न था। उसे शेरों ने पाला। आखिर अमृतसर के एक सिख परिवार का वह बच्चा सालों बाद यह जानकर हैरान हुआ कि वह सिख है। मजहब तो इंसान देता है। भगवान तो पैदा करता है एक मनुष्य, और मनुष्य होना कितना कठिन है।

श्रीनगर के पास सौरा गाँव में पैदा हुए थे शेख। पश्मीने के शाल में लपेटकर माँ ने दुआ की होगी—तू सूरज-चाँद की तरह चमकना। हमारी रियासत में अलीगढ़ से एम. एम. सी. करके आए पहले शख्स थे। बेदारी से रँगकर उन्होंने राजशाही व जागीरदारी के खिलाफ मुहिम शुरू की। चंद लोग साथ हो लिए। एक पार्टी बनी—मुस्लिम कान्फ्रेंस। धीरे-धीरे शेख को लगा, जो हकूक छीने गए हैं वे सिर्फ मुसलमानों के नहीं हैं। उसमें सभी शामिल हैं। तब 1938 में इस पार्टी का नाम हुआ—नेशनल कान्फ्रेंस जो अब तक जिंदा है। इस जज़्बे को हवा दी नेहरू ने, गांधी ने। हिंदुस्तानी फौजों को कबायलियों के ठिकाने बताते हुए शेख के शेर नारे लगाते—

हमलावार खबरदार
कश्मीरी फौज हैं तैयार!

पहाड़ियों की बुलंदियों पर ये नारे फैल गए। बेलिबास आवाजें पैराहन माँगने लगीं। मुल्क की आजादी के साथ-साथ वादिए-कश्मीर व जम्मू का रिश्ता हिंदुस्तान के साथ जुड़ गया। नए कश्मीर को नया हुस्न देने के लिए तैयार हो गए, वहाँ के लोग।

शेरे-कश्मीर सो गया

लोग तो मर भी जाते हैं, पर जिसने हजारों-लाखों को रोशनी दिखाई, वह क्या सचमुच आज नहीं रहा? क्या शेरे-कश्मीर सो गया है? बंबई के अपने कमरे को सोगवार करके मैं रेडियो से आनेवाली इन आवाजों पर यकीन नहीं कर पा रही हूँ।

सो रहे हैं नूरे बाब, मत जगाओ शेर को। फूलों से लदी गाड़ी पर वह पुरनूर

चेहरा मैं आँखें बंद करते ही देख सकती हूँ। लोग तड़पकर कह रहे हैं–

वतनदारो वतन छुई नादलायान ! (वतन के पासवाँ, वतन तुझे ढूँढ़ रहा है !)

क्या तुमको और नमाजें नहीं पढ़नी हैं ? क्या तुमको हजरत बल में और तकरीरें नहीं करनी हैं ? ये आवाज उस समंदर की है, जो हजारों समंदरों की गरज से नहीं आती । ये आवाजें दिलों से निकल रही हैं । लोग अपने सीने छलनी कर रहे हैं । लोग, जो घरों की छतों पर, दुकानों, मकानों, चलती गाड़ियों और दरख्तों पर हैं–

जब तक सूरज-चाँद रहेगा
शेरा तेरा नाम रहेगा ।

ये आवाजें शंकराचार्य की पहाड़ी के नीचे रुकी हैं । इनमें ॐ नमः शिवाय की आवाजें···वाहे गुरु···की आवाजें शामिल हैं । इन आवाजों से मुखातिब होकर बरसों पहले अबुल कलाम आज़ाद ने कहा था–आपको कुदरत ने शेख अब्दुल्ला दिया है । उसकी बताई राह पर चलिए । आज हमारा रहनुमा कुदरत ने वापस ले लिया हैं, जिस मिट्टी में पैदा हुआ, वहाँ ढेरों खुशबुएँ बिखेरकर वापस मिट्टी में जा रहा है ।

पोलो ग्राउंड से डल लेक और अब खानेयार । इंच-दर-इंच जुलूस खिसक रहा है । मैं भी हजारों किलोमीटर दूर बैठी उसके साथ हूँ ।

आवाजों की डोर के साथ बँधी मैं खानेयार के चौक में खड़ी हूँ । रेडियो से आवाज आती है–बेगम साहिबा, जिन्हें प्यार से लोग मादरे-मेहरबान कहते हैं, अपने परिवार के साथ गाड़ी में सवार हैं, ग़मज़दा, उदास···मैं सोच रही हूँ, उन्हें और हमारी प्रधानमंत्री को इतना लंबा रास्ता इतने घंटों में···शायद प्यास लगी हो । मेरा ध्यान पानी से लबालब भरी डल झील की तरफ जाता है । कितना प्यारा था शेख साहब को इस झील से । चाहते तो हिंद महासागर में तैर सकते थे, पर वे सारी उम्र डल झील में तैरते रहे । इलाज करवाने के लिए भी रियासत से बाहर जाना उन्हें अच्छा न लगता था ।

खानेयार में डा. हफीजुल्लाह का घर है । ये उन चंद लोगों में से थे, जो बख्शी साहब की हुकूमत के दौरान भी बेगम शेख अब्दुल्ला की खबर लेने जाते थे । अपनी माँद में बच्चों को छुपाए ये शेरनी सिर ऊँचा करके कश्मीर के एक कोने में रह रही थी । वहाँ कुछ लोग ही जाते थे । वह परस्तिश की जगह थी । बख्शी के तैनात किए लोग घर की औरता को बाहर न निकलने देते थे । उन्हीं

दिनों शेख साहब के घर आनेवाली एक ख़ातून के ताँगे के घोड़े को मार-मारकर छह महीने तक कैद में रखा गया था। बेजुबान जानवर कहाँ जान पाया कि एक घोड़ा होने के बावजूद उसने एक शेर के लिए जेल काटी?

शेख साहब को अपने अंतिम दिनों में आजाद कश्मीर के लोगों की यातनाओं का बड़ा रंज था।

मेरे मन में बड़ा अरमान था, महाराजा के जमाने का बना यह कानून कि रियासत के बाहर ब्याही लड़कियों को अपने मैके में दो गज़ जमीन खरीदने का भी हक न होगा, किसी रोज शेख साहब खत्म कर देंगे। और मैं शिवालिक की अपनी पहाड़ियों पर एक घर बना सकूँगी। मैंने सुना है, बेग साहब ने इस पर कुछ आवाज भी उठाई थी, पर कुछ न हुआ। मुझे याद आ रहा है कश्मीरी के शायर गुलाम रसूल आज़ाद का कलाम–

काबुक निशान थोमुत,
बुतखान त्सेई बनोभुत,
गीताई क्या खता कोर
बनतम कुरानवाले।

काबा का निशाँ रक्खा, बुतखाना भी तमुने बनाया। गीता ने क्या खता की है, कुरानवाले, ये तो बताओ? यह सवाल, जिससे मैं कभी करना चाहती थी, आज वह चला गया है। हिंदुस्तान में जगह-जगह सैक्युलर लोग रहे हैं। बंबई में रामानंद सागर हैं, डा. निशात हैं, वेद राही हैं। और कितने ही रियासत के लोग जो आज सोगवार हैं। इनमें सागर साहिब और डा. निशात ने तो हाथ में लाठियाँ लेकर कबायलियों के हमले के वक्त रियासत की गलियों में पहरेदारी की है।

सागर साहब कह रहे हैं: आज न सिर्फ कश्मीर की वादियाँ उदास हैं, बल्कि मादरे-हिंद की महफिल भी सोगवार है। जिन बहादुर लोगों ने जंगे-आज़ादी लड़ी थी, आज उनकी सफ में से आखिरी सूरमा भी चला गया है।

दिल पर लिखे हुए नाम

सागर साहब ने एक बार शेख से पूछा था– गाँव-गाँव में इतने लोगों के नाम आपको कैसे याद रहते हैं?

शेख साहब ने जवाब दिया था– ये नाम मेरे दिल पर लिखे हुए हैं। ये लोग मेरे पुराने साथी हैं। पुराने साथियों में बंबई में बसे उनके दोस्त डा. निशात कहते हैं–शेख साहब ने कभी शराब-सिगरेट नहीं पी। शुरू में अब्दुल्लाह सिगरेट पीते थे। जेल में जाने पर छोड़ दी। उन्हें मुहब्बत थी अपनी वादी से, फूलों से और खूबसूरत चेहरों से। वे महज़ अकीदत या सियासी बुलंदी की वजह से शेरे कश्मीर नहीं कहलाए, उसकी वजह उनकी जुर्अत-मंदाना शख्सियत व कुर्बानी का जज़्बा थी। हुव्वल-वतनी का उनका जज़्बा गैरमामूली था। जिन्ना ने उन्हें पाक की तरफ खींचना चाहा था, पर उन्होंने अपनी तकदीर भारत के साथ जोड़ी।

डा. निशात की शेख साहब से भेंट 'रणवीर' के दफ्तर में हुई थी, जिसे लाला मुल्खराज सराफ़ चलाते हैं। उनके पुत्र वेद राही को भी थोड़ा-थोड़ा याद है। शुरू के दिनों में शेख साहब के इस दफ्तर में घंटों गप्पें मारते थे। वेद जी कहने लगे–शेख साहब अवाम के दिलों की गुजरगाह से होकर उनके जज़्बात की नुमायंदगी करते थे। तभी कश्मीर के लोगों को सीनाफाड़ आवाजें मेरे कानों में पड़ती हैं–

ला इला ही इल्लिलाह,
सोन मूद अब्दुल्लाह !

(अल्लाह एक है। आज हमारा अब्दुल्ला हमसे छिन गया है !)

वादियों का यह खुशबूदार फूल, वादियों में सो गया है। उसकी खुशबू को हम सब सहेजकर रखेंगे। मादरे-हिंद के इस चहेते लाल को अपनी चहेती जमीन में सो जाने दो, सो जाने दो।

• • •

राजकमल पेपरबैक्स

पद्मा सचदेव

दीवानखाना

सुप्रसिद्ध डोगरी-कवयित्री **पद्मा सचदेव** द्वारा रचित ये संस्मरणात्मक साक्षात्कार हमें जिन विशिष्ट व्यक्तियों से गहरे परिचित कराते हैं, उनमें हैं—अमृतलाल नागर, हरिवंशराय बच्चन, राजेंद्रसिंह बेदी, इस्मत चुगताई, रामधारीसिंह दिनकर, अमृता प्रीतम, कजलबाश और इब्ने इंशा-जैसे कलमकार तथा पं. रविशंकर, उस्ताद अल्ला रक्खा, सितारा देवी, लता मंगेशकर, पं. शिवकुमार शर्मा और रेश्मा-जैसे स्वरकार। साथ ही डोगरी- पत्रकारिता के जनक श्री सराफ और शेरे-कश्मीर शेख अब्दुल्ला से भी हमारी नई पहचान कायम होती है। यह पहचान एक ओर तो हमें अपनी तथ्यात्मकता से प्रभावित करती है और दूसरी ओर अपने काव्यात्मक सौंदर्य से अभिभूत। एक पूरा सांस्कृतिक परिवेश हमारे अनुभव-जगत और अंतर्मन में सजीव हो उठता है और अनायास ही वह पार्श्व-सत्य एक प्रेरणा की शक्ल अख्तियार करने लगता है, जो समाज की बड़ी प्रतिभाओं को पैदा करनेवाला है। वस्तुतः इन रचनाओं में यथार्थ और भावाकुल कल्पना का अद्भुत सामंजस्य हुआ है।

आवरणचित्र : साधना खजांची

राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली पटना 18/-